णमोसिद्धाणं

जैन दिवाकर वर्ण कौमुदी

卐

लेखक

स्व. जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता श्री चौथमलजी म. सा.

卐

संयोजक

प्रवर्तक श्री उदयचन्द जी म. सा. "जैनसिद्धान्ताचार्य"

卐

सम्पादक

पं. शोभाचन्द भारिल्ल "न्यायतीर्थ"

卐

द्वितीय संस्करण
१००० प्रतियां

मूल्य
२)५०

वीराव्द २५०३
निक्रमाव्द २०३४

जैन दिवाकर जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में

प्रकाशक

श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय

महावीर बाजार, ब्यावर (राज०)

मुद्रक

ज्योति प्रिन्टिंग प्रेस

रामपुरा बाजार, कोटा-६ (राज०)

फोन : ५२१२

जगत् वल्लभ जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता



पं० मुनि श्री चौथमल जी महाराज

जन्म कार्तिक शुक्ला १३ सं० १९३४ रविवार

दीक्षा फाल्गुन शुक्ला ५ सं० १९५२ रविवार

स्वर्गवास मिगसर शुक्ला ९ सं० २००७ रविवार

समर्पण

परम पूजनीय जैन दिवाकर

गुरुदेव श्री चौथमल जी म० सा०

को

अर्पण कर यह आपकी, वस्तु आपको आज ।
धन्य समझता है, मुने ! सारा जैन समाज ।।

卐

दे गये साहित्य सर्जन कर अमिय का कोष ।
गुरो ! उससे पा रहा है तप्त मन यह तोष ।।

जैन आगम की कथायें प्रेरणा दे नित्य ।
कह रही हैं 'कर्म सच है और जगत अनित्य' ।।

आपकी यह कृति समर्पित आपको साभार ।
कर उदय मुनि आज पाता हर्ष अपरम्पार ।।

卐

दिव्य ज्योति स्वरूप जैन दिवाकर
श्री चोथमलजी म. सा.

ले० प्रिय सुशिष्य प्रवर्तक मुनि श्री उदयचन्दजी म. "जैन सिद्धान्ताचार्य

दिवाकर की इक किरण,
अज्ञान-तम करती हरण।
दिवाकर की वर किरण,
जन्म-अघ करती क्षरण ॥
निज सहस कर से हो उदय,
नष्ट करती मूलसे मद मोह भय।
वे 'उदय' प्रिय प्राण-धन है,
चरण में शत शत नमन है।
कर रहे हम आज उनका पथ वरण,
दिवाकर की इककिरण ! ॥ 卐 ॥

ज्योति की एक आभा निर्मल पत्र में चमक पैदा कर देत हैं। ज्योति स्वरूप गुरूदेव जैन दिवाकरजी महाराज सा० क भी वैसा ही महत्व है। सूर्य की किरण जब निर्मल कांच प पड़ती है तब वह हीरकणी सा चमकता है, उसी भांति १०० श्री चौथमलजी म० सा० की ज्योति स्वरूप आकृति किस अज्ञानी के समक्ष होती है तो उसकी आत्मा में हीरे जैसी शु भावना उभर जाती है यो पूज्य गुरूदेव में दिवाकर तत्व हो का महत्व सिद्ध होता है।

वह देश उस देश का विशेष परिवार कैसा धन्य होता है, जहाँ ऐसी दिव्यात्मा जन्म लेकर ज्ञान-तप-साधना व्रत में लीन हो पुरुषार्थ से वांछित फल प्राप्त करते हैं। ऐसा शुभ योग दैवयोग से हुआ करता है अन्य को तो संसार की कामनाओं में लिप्त हुए ही प्राण का विसर्जन भी करना पड़ता है और उसके विसर्जन का किसी को पता ही नहीं होता। ये पूर्व जन्मों के शुभ कर्मों का फल होता है कि व्यक्ति अच्छे शहर में, अच्छे कुटुम्ब में जन्म लेकर भवसागर से तरने के लिए निवृत्ति मार्ग का पथिक बन जाता है।

बड़े गुरूदेव श्री चौथमलजी म० सा० के भी पूर्व जन्म के शुभ कर्मों ने क्षणिक ऐहिक लीला करवा कर उन्हें शीघ्र ही निवृत्ति मार्ग पर मोड़ दिया। मध्य प्रदेश के नीमच नगर में वि० स० १९३४ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी रविवार के दिन श्रीमती माता केसरदेवी की कोंख से श्रीमान् पिता श्री गंगारामजी चोरड़िया के द्वारा ओसवाल कुटुम्ब में शुभ घड़ी में गुरू महाराज का शुभ जन्म हुआ था।

आप श्री का सोलह वर्ष की आयु में ही प्रतापगढ़ निवासी श्री पूनमचन्द जी की सुपुत्री श्री गुणवती मानकुँवरी के साथ बड़ी सज्जा से विवाह सम्पन्न हुआ था।"

अचानक एक दिन समाचार मिले कि आपके भाई कालूराम जी के हत्यारों का पता लग गया है और वे पुलिस द्वारा पकड़ लिये गये हैं। अब उनके लिए सरकारी न्याय के अनुसार दण्ड व्यवस्था होगी एवं उन्हें मौत की सजा भी मिल सकेगी इन समाचारों से आपकी माता श्री केसरदेवी का हृदय

पिघल गया, उन्होंने कहा–"यह तो हिंसा के उत्तर में हिंसा होगी। इससे मृत व्यक्ति लौटता भी नहीं फिर ऐसा जघन्य कर्म करने से कोई लाभ नहीं।" ऐसे उदात्त वचन कहते-कहते उनमें वैराग्य भावनाओं ने ऐसा प्रभाव जमाया कि सहसा कह उठी–"बेटा चौथमल मैं इस विषाक्त संसार के व्यवहार को सह नहीं सकती, अतः इस। विलग रहने हेतु दीक्षा भगवती की उपासना करूंगी।"

माता की वैराग्य की भावना ने आपको भी विरक्त कर दिया और श्री चौथमल जी को ऐसा लगा कि विषय-विकार मेरे इस लौकिक देह पर वृश्चिक से दंश मार रहे हैं। यों विचार करते हुए उन्होंने भी एकदम कहा–माताजी ! यह तुम्हारा प्यारा पुत्र भी उस दीक्षा भगवती का उपासक बनेगा। यह भी अब इस कलि-मल वाले गृहस्थ के दल-दल में नहीं फंसा रहेगा। कविवर परम दयालु श्री हीरालाल जी महाराज सा० की कृपा से १८ वर्ष की आयु में ही बोलिया ग्राम (म. प्र.) में विक्रम सं० १९५२ फाल्गुन शुक्ला ५ रविवार के दिन दीक्षा देवी के चरण पकड़े।

दीक्षा लेने के पश्चात् आपने जैनागमों के अध्ययन में लगकर उनका सार ग्रहण करने के साथ-२ प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी, प्रभृति भाषाओं की मालाओं को कंठाभरण बनाया। इनके सिवाय भी आप जैनेत्तर गीता, उपनिषद, रामायण, महाभारत कुरान शरीफ, बाइबिल, गुलिस्तां और बोस्तां आदि अनेक ग्रन्थों का मंथनकर उनका नवनीत निकाला इतने अध्ययन शीलता की निरंतरता में रहते हुये भी अपने राज-स्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र, बम्बई

आदि को अपने पाद बिहार से पवित्र किया। वहाँ के धनी-मानी, राजा-महाराज, राणियें-महाराणियें, नवाब, दीवान, जागीरदार, जमींदार, कोठारी, कामदार, मुसद्दी, सेठ-साहूकार और झोंपड़ियों के सर्व साधारण प्रजाजनों से महलों तक के वैभवशाली रईसों को भी सुमधुर सद्पदेशों से सद्मार्ग के लिए प्रवुद्ध किया समाज ने भी सम्मान स्वरूप आपको जगद् वल्लभ जैन दिवाकर, प्रसिद्ध वक्ता आदि उपाधियों से विभूषित किया।

आपने अपनी अध्ययन शीलता को प्रमाणित करने के लिये निर्ग्रन्थ प्रवचन, भगवान महावीर का आदर्श जीवन, श्री जम्बूकुमार, जैन सुवोध गुटका, भगवान नेमिनाथचरित्र, सम्यक्त्व कौमुदी, दिवाकर दिव्य ज्योति के २० भाग इत्यादि गद्य-पद्य रचनाओं की सम्पदा प्रस्तुत की।

गुरूदेव ने समाज को संगठित रहने के लिए सद्प्रेरणा दी कोटा में दिगम्वर आचार्य श्री सूर्य सागर जी महाराज सा० और वीर पुत्र आनन्द सागर सूरीश्वर के सम्मिलित व्याख्यान किए। स्थानकवासी संप्रदायों का एकीकरण करने के लिए व्यावर में श्री वीर वर्धमान श्रमण संघ का वीजारोपण किया श्री १००८ श्री आनन्द ऋषि जी म. सा. प्रधानाचार्य वनाये गये और वृहत् साधु सम्मेलन की योजना वनाई थी उसी से सादड़ी में स्थानक वासी संप्रदायों का विशेष एकीकरण हुआ। वड़े गुरूदेव दिवाकर जी म. सा. देशना एवं कृपा से अनेक मुमुक्षु जीवों ने दीक्षा ली।

जीवनान्त के समय आपने कोटा में चातुर्मास किया था। चातुर्मास के पश्चात् नयापुरा, नन्द भवन में आपको व्याधि

ने घेर लिया था, उसका उपचार होता था और उससे जरा स्वस्थ होते, कि अपने कार्यक्रम में लग जाते। यहां तक कि कुछ स्वास्थ्य ठीक नहीं होने पर भी अन्तिम व्याख्यान रविवार 'रवि' पर ही दिया था। अंत में व्याधि ने आपको इस कर्म के लिए विवश कर दिया और उससे उनके सारे कार्य अवरुद्ध हो गये। वह समय भी आ गया कि वि० सं० २००७ मिगसर शुक्ला ६ रविवार के दिन संथारा से स्वर्ग की यात्रा की।

आपकी अर्थी यात्रा में हजारों जन थे गांव एवं बाहर गांव वाले सभी के आंखों से निरंतर अश्रुधारा बह रही थी। मानो शोक सागर सहस्त्रधा से फटा हो तथापि उनके भक्त जन भजन आदि गाते हुए वैकुंठी के साथ जा रहे थे। मरघट में पहुंचकर उनका दाह संस्कार सम्पूर्ण किया तो उनके अलौकिक प्रभावन लोगों को धैर्य धारण करने की कुछ शक्ति प्रदान की उससे जन समूह उनका जय घोष करते हुये अपने-अपने स्थान को लौटे।

ऐसे मेरे बड़े गुरूदेव के गुणगान करके :—

कृत्य कृत्यः चरणेषु, शतवारं नाम्यहम ।
भवतां कृपया भक्त्या, ज्ञानवृद्धिर्भवेद्धिमें ॥

लेखनी को अब मैं विश्राम देता हूँ।

卐

प्राक्कथन

मनुष्य जन्म की सार्थकता धर्मपालन में कही है अतः यह जानना परमावश्यक हो जाता है कि धर्म क्या है ? क्या उसका सम्बन्ध मात्र मत मतान्तरों और सम्प्रदायों तक सीमित है ? जो लोग ऐसा मानते हैं वे धर्म तत्व को गूढ़ता को नहीं समझते। हमारे यहाँ धर्म तत्व को गूढ़ कहा है और उसकी गूढ़ता को वे ही लोग जान पाये हैं जिनने धर्म के लिए समर्पित जीवन जिया है और मानवता के गुणों को आत्मसात् किया है, उन पर आचरण किया है। धर्म के ये तत्व सार्वदेशिक और सार्व-कालिक अतएव शाश्वत हैं। कोई भी धर्म सत्य को नकारने का दुस्साहस न करेगा, न हिंसा को हमदर्दी करेगा। वह "क्षमयेऽहं सर्वान् वै जीवान् ते च क्षाम्यन्तु मां सदा" कहेगा। अनुचित धन बटोरने की प्रवृत्ति को निन्दास्पद बतायेगा। चोरी-अनाचार की भर्त्सना करेगा।

ये वे धर्मतत्व हैं जिनके धारण न करने पर मनुष्य मनुष्य न रह कर कुछ और रह जाता है।

साधारण मनुष्य तक धर्म के ये तत्व समर्पित जीवनों के कार्य-कलाप तथा वाणी से ही पहुंच पाते हैं। ऐसे सिद्ध पुरुष अपने आचरण-आदर्श तो उपस्थित करते ही हैं आगम ग्रन्थों के उपाख्यानों और तपःपूत जीवनों को सुबोध वाणी में जन साधारण को उपलब्ध कराने का सदा प्रयास करते हैं। ऐसा ही एक प्रयास प्रस्तुत पुस्तक है। इसमें जगद्वल्लभ जैन दिवाकर प्र० व० श्री चौथमल जी महाराज ने ऐसे चरित्र और तत्वों का प्रतिपादन आर्य चरित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया है जो मानव मात्र के लिए प्रेरक एवं आवश्यक हैं और जिन पर आचरण कर वह अपने जन्म को सार्थक कर सकता है।

इस में एक ओर भगवान आदि नाथ और महावीर के प्रेरणास्पद जीवन प्रसंगों के अतिरिक्त ज्ञानी विद्वान् इन्द्रभूति गौतम की ज्ञान प्राप्ति के लिए ललक भी आपको मिलेगी तो दूसरी ओर बाल जिज्ञासु एवन्ता कुमार है जो धर्म तत्व की खोज में अपना जीवन समर्पण कर कह रहा है कि सत्य की प्रतीति जिज्ञासा के अभाव में नही हो सकती, इन्हीं में आपको मिलेंगी सती साध्वी अंजना और महासती कलावती जैसी पतिव्रतायें जो अपने कर्त्तव्य और नारीत्व के प्रति समर्पण की भावना जागृत कर आधुनिक नारी के सम्मुख प्रश्न चिन्ह लगा देती हैं। सभी कथाओं में राजा के माध्यम से, चाहें वह राजा शंख हो या पुरुष सिंह, यह प्रकट करने का यत्न किया गया है कि राजसी उन्माद संदेहों और शंकाओं का जन्म दाता है उससे सदैव विष कन्यायें ही उत्पन्न हुई है देव कन्यायें नहीं, और त्याग ही इनसे मुक्ति का मार्ग हो सकता है,।

आज सभी प्रबुद्ध जन जाति-पांति की व्यर्थता को स्वीकारते हैं वैवाहिक बन्धनों को इस बन्धन से मुक्त करने का आग्रह करते है, उनके लिए गजसुकुमार का आख्यान बल प्रदान करने वाला है, सामान्य ब्राह्मण कन्या को एवं क्षत्रिय राजकुमार के लिए स्वीकार करना अन्तर जातीय सम्बन्धों को आधुनिक दृष्टि से परखने के लिए संभव हो सकता है।

सामाजिक प्रकरणों से उठकर, इस संग्रह में, आपको ऐसी सामग्री भी उपलब्ध होगी जो संतप्त मानव मन को ऊहापोह की स्थिति से उठाकर शिथिल और क्रान्त मन को ढाढ़स बँधाती और सजग होकर साहस के साथ जीवन यात्रा में आगे बढने का साहस प्रदान करती हैं। सभी कथाओं में कर्म की प्रधानता को अंगीकार कर उनका फल-योग अनिवार्य रूप से स्वीकार किया गया है, परिणामतः यह संकेत दिया है कि

मनुष्य जन्म की सार्थकता के लिए प्रत्येक कर्म में सावधानी आवश्यक है, चूके और गये।

अन्त में इतना ही पर्याप्त होगा कि प्रस्तुत संकलन साधक के लिए एक प्रेरणादायक संग्रह है जो उसकी जीवन यात्रा को सफल बनाने में सहायक होगा।

बालकृष्ण थोलम्बिया

विजया दशमी २०३४ साहित्य रत्न

सेवा निवृत अवर निरीक्षक

शिक्षा, कोटा

卐

* श्रद्धाभिनन्दन *

तुभ्यं नमः सकल भूत हिताय नित्यं,
तुभ्यं नमः परमतत्व समाश्रिताय।
तुभ्यं नमः सरल वाणि विभूषणाय,
तुभ्यं नमः सुखद जैन दिवाकराय ॥१॥

समस्त प्राणियों का नित्य हित चिन्तन करने वाले आपके लिए नमस्कार है। सरल वाणी रूप भूषण के लिए नमस्कार है। सुख दायक श्री जैन दिगम्बर जी म० के लिए नमस्कार है।

卐

अपनी बात

कथा साहित्य के प्रति मानव का सदा आकर्षण रहा है। बचपन नानी दादी की गोद में बैठे सभी ने कहानियाँ सुनी है। वयस्यक होने पर यह भी चाव बना रहता है और उतरती आयु में किसी भी चौपाल में बंठे वृद्धों को बातों में यह अनुराग दीख पड़ता है। सच तो यह है कहानी-कथा-साहित्य मानव जीवन का अभिन्न साथी है, जो दुःख-सुख में उसका साथ देता है एवं जीवन को प्रभावित करता है।

कहानियों में आत्मीयता होती है। मानव मन की यह विशेषता है कि वह जिन कहानियों में आत्मीयता होती है। उनको आत्मसात् कर लेता है। यही कारण है तत्वज्ञान की गहन बातों को कहानी के माध्यम से सरलता से गले उतारा जाता है। बोधगम्य बना दिया जाता है।

कहानियों में सभी रसों का परिपाक होता है। कहानियां जन-मन रंजन करते-करते आत्मज्ञान को सरलता से हृदयंगम करा देती है।

जैसे बालक स्वमाता का दूध पीते कभी भी ऊबता नहीं वैसे ही प्रेरणाप्रद दृष्टान्तों को पढ़कर मानव मन अघाता नहीं। कथा प्राचीन होने पर भी प्रत्येक को प्रिय लगती है।

भारतीय साहित्य आगमों को समझाने में संत-मुनिराजों का उपादेय सहयोग रहा। इस कारण दृष्टान्तों को पढ़ने की परम्परा अब विकसित होती जा रही है।

जैन दिवाकर जी म० का साहित्य बहुत प्रकाशित हुआ जिसका श्रेय विशेष कर गुरुदेव स्व० उपाध्याय १००८ श्री प्यारचन्द जी म सा. एवं स्व० सेवा भावी गुरू भ्राता श्री मन्नालाल जी म- सा. आदि को है। यह साहित्य वक्ता, श्रोता, लेखक सबके लिए उपयोगी बना। यह साहित्य आज भी उतना ही प्रेरणाप्रद है जितना गुरुदेव के समय था। "दिवाकर दिव्य ज्योति" आदि पुस्तकें समाज में सर्वत्र आदर एवं श्रद्धा के साथ पठन-पाठन के उपयोग में आ रही हैं।

यदि यह साहित्य नहीं लिखा जाता, तो काल के गाल में समाहित होकर बिखर जाता। गुरुदेव के साहित्य में सरलता, सौम्यता एवं मधुरता के साथ-साथ सुन्दर विचारों की अभिनव अभिव्यक्ति है। उनकी वाणी में जादू था। आपके सम्पूर्ण साहित्य को प्रकाशित करने का जनता का आग्रह होने से आपके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए और हो रहे हैं।

जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता श्री १००८ श्री चौथमल जी म० साधारण सी कहानी सुनाते, तो भी वह उनकी मधुरवाणी से सुधामय सरस जीवनदायिनी बन जाती थी। श्रोतागण उनके दृष्टान्तों को सुनकर मंत्र-मुग्ध हो जाते थे। मैं गुरूदेव की वे ही कथाएँ प्रिय पाठकों के समक्ष "जैन दिवाकर वर्ण कौमुदी" के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ। यदि इसे पढ़कर प्रेमी पाठक आत्म कल्याण करेंगे तो मेरा यह प्रयास सफल होगा।

संयोजक

पिपलादगनी　　　　मुनि उदयचन्द

वि० २०३४　　　　प्र० जैन सिद्धान्ताचार्य

प्रकाशक के दो शब्द

प्रिय पाठकों के कर कमलों में स्व० गुरुदेव जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता जगद् वल्लभ संघ-ऐक्य के अग्रदूत श्री १००८ श्री चौथमलजी म० सा० द्वारा वर्णित हिन्दी वर्णमाला के अक्षरों से सम्बन्धित जैन कथाओं को साहित्य प्रेमी स्व० श्रमणसंघीय उपाध्याय श्री १००८ श्री प्यारचन्दजी म० के सुशिष्य प्रवर्त्तक पं० मुनि श्री उदयचन्दजी म० जैन सिद्धान्ताचार्य द्वारा संयोजित तथा पं० श्री शोभाचन्दजी भारिल्ल न्यायतीर्थ द्वारा सम्पादित "जैन दिवाकर वर्ण-कौमुदी" के रूप में प्रकाशित करके हम हर्ष के साथ गौरव का अनुभव कर रहे हैं। आशा है, इस पुस्तक को पढ़ कर पाठक अपने जीवन को तथा हमारे कार्य को सफल बनावेगें।

इसमें पं० श्री बालकृष्ण जी थोलंबिया साहित्य रत्न तथा मास्टर सा० माणिकचन्दजी जैन एम. ए. का सहयोग सराहनीय रहा है। इस पुस्तक के प्रकाशन में यदि कोई त्रुटि रह गई हो, तो विवेकी पाठक हमें क्षमा करेंगे तथा सूचित करने की कृपा करेंगे।

निवेदक
अभयराज नाहर
मन्त्री
श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय
ब्यावर (राजस्थान)

विषयानुक्रमणिका

卐

卐

अशोक वृक्ष

संसार में लाखों तरह की वनस्पतियाँ हैं। उनमें कोई वृक्ष रूप में है तो कोई बेल के रूप में। कोई पौधे के रूप में है तो कोई किसी और ही रूप में। यह नाना रूप धारिणी वनस्पतियाँ पृथ्वी के प्राणियों के लिए किस प्रकार जीवन-दायिनी हैं, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। वनस्पतियों से ही मनुष्यों को फल, फूल, पत्ते और अनाज के रूप में नाना प्रकार के दाने मिलते हैं, जिन पर हमारा जीवन टिका है। जगत् में वनस्पति न होती तो जीवधारी किसी प्रकार जीवित नहीं रह सकते थे।

सब प्रकार की वनस्पतियों में वृक्ष सब से अधिक विकास वाले होते हैं और उनमें भी कुछ विशेष वृक्ष और भी महत्व-पूर्ण होते हैं आम, पीपल और बड़ के वृक्षों की लोग पूजा करते हैं। परन्तु इन सब से श्रेष्ठ एक वृक्ष-जाति और होती है, जिसे अशोक कहते हैं। वास्तव में अशोक वनस्पतियों का राजा है, इन्द्र है।

जैन साहित्य में अशोक वृक्ष को अच्छा महत्त्व दिया गया है। वास्तव में अशोक वृक्ष महत्त्व मिलने योग्य भी है। उसका नाम ही बड़ा सुन्दर है, मनोहर है, मांगलिक है और प्यारा है। अ-शोक, अर्थात् शोक को हरने वाला, आनन्द देने वाला और मन को प्रफुल्लित कर देने वाला ! कैसा मनोरम नाम है।

परन्तु अशोक को जो महत्त्व प्राप्त हुआ है, वह केवल नाम के ही कारण नहीं। उसके और भी कारण हैं। तीर्थंकर भगवान् के प्रसिद्ध आठ महाप्रतिहार्यों में अशोक वृक्ष की सब से पहले गणना की गई है। तीर्थंकर देव जब जहाँ कहीं होते हैं तो वह भगवान् पर अपनी शीतल छाया प्रसारित करता है और मानों यह सूचना करता है कि तीर्थंकर भगवान् का दर्शन ही समस्त प्रकार के शोक का निवारण कर देता है। भगवान् स्वयं अशोक हैं और अशोक की छाया में रहते हैं तो फिर उनका सम्पर्क भी मनुष्य को कैसे अशोक नहीं बना देगा।

भूल नहीं जाना चाहिए कि भगवान् अनन्तनाथ और भगवान् मल्लिनाथ ने अशोक वृक्ष की शीतल और सघन छाया में ही जन्म-मरण का अन्त कर देने वाली भागवती दीक्षा अंगीकार की थी। इस कारण भी अशोक वृक्ष हमारा अत्यन्त प्रिय तरु है।

कितना धन्य और भाग्यवान् है यह अशोक तरु, जिसे तरण तारण महाप्रभु का इतना सान्निध्य प्राप्त होता है।

卐

आगम

आगम का अर्थ है शास्त्र। सच्चे शास्त्र वे कहलाते हैं जो सर्वज्ञ और वीतराग भगवान् के कहे हुए हों। वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट आगम कदापि मिथ्या नहीं हो सकते। जिसमें राग नहीं, द्वेष नहीं, अज्ञान नहीं, उससे न भूल हो सकती है और न वह जान-बूझ कर किसी को छलने के लिए

असत्य भाषण कर सकता है। एतएव वीतराग के कथित आगम पर हम पूर्ण रूप से श्रद्धा कर सकते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं ससझना चाहिए कि सर्वज्ञ भगवान् अपने हाथों से शास्त्र लिखने वैठते हैं। नहीं, ऐसा नहीं होता। तीर्थंकर देव सर्वज्ञता प्राप्त करके तत्त्व का उपदेश करते हैं। उनके प्रधान शिष्य गणधर उसे सुनकर सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं, अर्थात् सिलसिले वद्ध शास्त्र का रूप प्रदान करते हैं। गणधर भी अत्यन्त वुद्धिशाली और उच्च कोटि के महात्मा होते हैं। भगवान के मुख से थोड़ी सी वात सुनकर भी उसे विशाल रूप में परिणत कर लेते हैं। तत्पश्चात् वे अपने शिष्यों को वह आगम सिखलाते हैं और वे शिष्य अपने शिष्यों को। इस प्रकार परम्परा चलती रहती हैं। इसी परम्परा की वदौलत आज भी हमें आगम प्राप्त हैं।

हमें कितना कृतज्ञ होना चाहिए उन महान् सन्तों के प्रति, जिन्होंने घोर तपश्चरण करके शास्त्रों की परम्परा आज तक चालू रक्खी है। आजकल तो शास्त्र छपने लगे हैं, पर छपने से पहले हाथ से लिखे जाते थे। उनके लिखने में वहुत समय लगता था वहुत श्रम होता था। परन्तु लिखाई का रिवाज् चलने से पहले तो आगम मौखिक में रूप में ही चले आते थे। गुरू अपने शिष्य को आगम कंठस्थ करा देता था और वह अपने शिष्य को। उस समम आगमों की रक्षा करना आसान काम नहीं था उस समय में कई वार दुर्भिक्ष आदि के कारण ऐसे अवसर आये कि आगम विस्मृत होने लगे। तव भारत के प्रसिद्ध प्रसिद्ध आगमवेत्ता आचार्य देवर्द्धि क्षमा क्षमण आदि मुनिवर वीर निर्वाण सं० ९८० में एकत्र हुए और उन्होंने आगमों को लिखकर रक्षा की। यद्यपि वे सम्पूर्ण आगम की

रक्षा करने में समर्थ न हो सके, फिर भी आगमों का जो हिस्सा आज बच रहा है, वह भी कुछ कम नहीं है। उसका भलीभाँति अनुशीलन किया जाय तो तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

आगम दो भागों में बंटा हुआ है—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य शास्त्र। तीर्थंकर देव द्वारा कथित और गणधरों द्वारा ग्रथित आगम अंगप्रविष्ट कहलाता है। वह बारह प्रकार का है— (१) आचारांग (२) सूत्र कृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्या प्रज्ञप्ति (६) ज्ञातृ धर्मकथा (७) उपासकदशा (८) अन्तकृद्दशा (९) अनुत्तरोपपातिक (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाक और (१२) दृष्टिवाद ..

इनके अतिरिक्त जो आगम हैं वे विभिन्न स्थविर आचार्यों द्वारा बनाये गये हैं। वे अंगबाह्य कहलाते हैं। उनमें मुख्य १२ उपांग, ४ छेद, ४ मूल और आवश्यक हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं:—

उपांग— (१) औपपातिक (२) राजप्रश्नीय (३) जीवाभिगम (४) प्रज्ञापना (५) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (६) सूर्य प्रज्ञप्ति (७) चन्द्रप्रज्ञप्ति (८) निरयावलिका (९) कल्पावतंसिका (११) पुष्पिका (११) पुष्पचूलिका (१२) वह्निदशा।

चार मूलसूत्र (१) उत्तराध्ययन (२) दशवैकालिक (३) नन्दी और (४) अनुयोगद्वार।

चार छेदसूत्र— (१) दशाश्रुतस्कंध (२) बृहत्कल्प (३) निशीथ और (४) व्यवहार।

इनमें से दृष्टिवाद पूरा का पूरा विच्छिन्न हो गया है। अतएव आजकल मूल ३२ शास्त्र ही उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न विषयों के अनेक

शास्त्र लिखे हैं। उनकी कोई संख्या नहीं है। उनमें जो पूरी तरह वीतराग की वाणी के अनुकूल हैं, वे सब प्रामाणिक हैं। उनका समावेश अंगबाह्य श्रुत में होता है।

आगमों की भाषा प्रायः अर्द्धमागधी है। भगवान् महावीर ने तत्कालीन लोकप्रचलित भाषा अर्द्धमागधी में ही उपदेश किया था। अतएव उसी भाषा में हमारे मूल आगम रचे गये। परन्तु बाद में उन पर प्राकृत और संस्कृत भाषा में अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। आजकल हिन्दी भाषा में भी प्रायः सब के अनुवाद हो चुके हैं। अतएव अब आगमों को पढ़ना और समझना उतना कठिन नहीं रहा। जिन्हें आत्मा का कल्याण करने की इच्छा है, जो अपने जीवन को सफल करना चाहते हैं, तत्त्वज्ञान प्राप्त करके अज्ञान के अंधकार से बाहर निकलना चाहते हैं, उन्हें यथाशक्ति आगमों का अभ्यास करना चाहिए। स्वयं पढ़ने की योग्यता न हो तो विद्वानों के मुख से सुनना और समझना चाहिए।

卐

इन्द्रभूति

जैन जगत् में जो महापुरुष "गौतम स्वामी" के नाम से विख्यात हैं, उनका असली नाम इन्द्रभूति था। गौतम उनका नाम नहीं, गौत्र था। जाति से वह ब्राह्मण थे और अपने समय के सबसे बड़े ब्राह्मण विद्वानों में उनकी गणना की जाती थी। वे वैदिक धर्म को मानते थे और वैदिक धर्म के अनुयायी उन्हें बहुत मानते थे। उनका सारा परिवार सुशिक्षित था। वह ऊबर गांव के निवासी थे। पिता का नाम वसुभूति और माता का नाम पृथ्वी था।

प्राचीन काल में ब्राह्मण विद्वान यज्ञ-याग आदि बाह्य क्रिया काण्ड में रचे-पचे रहते थे। उसी में वे धर्म मानते थे। वे जो यज्ञ करते थे, उनमें गायों की, घोड़ों की, बकरों की, यहां तक कि मनुष्यों की भी बलि दी जाती थी। देश में सर्वत्र इस यज्ञ-धर्म का प्रचार था। उस समय के यह ब्राह्मण पण्डित यज्ञ आदि के सिवाय ब्रह्मज्ञान (आत्म तत्व के ज्ञान) से वंचित थे। ब्रह्मज्ञान क्षत्रियों के पास था। प्राचीन कथाओं से पता चलता है कि शनैः शनैः ब्राह्मण पण्डितों को झुकाव भी ब्रह्मज्ञान की ओर हुआ और उन्होंने क्षत्रियों से यह विद्या सीखी।

भगवान् महावीर के समय में, यद्यपि ब्राह्मण भी ब्रह्मविद्या के ज्ञाता हो चुके थे, फिर भी यज्ञ-याग की परम्परा नष्ट नहीं हुई थी। हजारों वर्षों से धर्म के नाम जो रिवाज़ चला आ रहा हो, वह जल्दी मिट भी तो नहीं सकता।

प्रथम तो एक बार चला हुआ कोई भी रिवाज़ कठिनाई से मिटता है, फिर धर्म का बाना पहनने वाले रिवाज़ तो और भी कठिनाई से। इसके सिवाय उस समय तक, जान पड़ता है, ब्राह्मण विद्वानों को ब्रह्म (आत्मा) के विषय में पूरी आस्था उत्पन्न नहीं हुई थी। इसका प्रमाण यही है कि इन्द्रभूति जैसे अपने काल के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को भी आत्मा के अस्तित्व का पूरा भरोसा नहीं था। वे पाँच सौ शिष्यों के शिक्षक थे; महान् उपाध्याय कहलाते थे। फिर भी आत्मा के सम्बन्ध में उनके दिल में संदेह भरा हुआ था। इसी को कहते हैं–दिया तले अंधेरा होना। आत्मा नामक कोई स्वतंत्र तत्व है भी या नहीं? इस संशय को वे दूर नहीं कर सके थे। इससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

ऐसे समय में भगवान् महावीर की तपः साधना सम्पूर्ण हुई और उन्होंने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी का पद प्राप्त किया।

मध्यापापा नगरी की घटना है। वहां सोमल नामक एक ब्राह्मण ने यज्ञ करने का विचार किया। उसने यज्ञ कराने लिए सर्व ब्राह्मणों में श्रेष्ठ विद्वान जानकर ग्यारह पंडितों को आमंत्रित किया, जिनमें इन्द्रभूति प्रधान थे। यज्ञस्थल से ईशान कोण में महासेन नामक एक उद्यान था। उसी उद्यान में भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे। देवों द्वारा निर्मित समवसरण में विराजमान होकर भगवान् जगत् के कल्याण हेतु धर्मदेशना देने लगे। भगवान् की अमृतमयी वाणी सुनकर अपने जीवन को धन्य बनाने के लिए आकाश-मार्ग से सैकड़ों विमानों में बैठकर चार प्रकार के देवगण आते दिखाई दिये।

आकाश-मण्डल दिव्य विमानों से आच्छादित हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ, मानो स्वर्ग के निवासी देव सब के सब इस वसुधा पर अवतरित हो रहे हैं। इन देवों को देखकर यज्ञ करने वाले ब्राह्मण अभिमान से फूल उठे। सोचने लगे-स्वर्ग के देवता हमारे यज्ञ की आहुति ग्रहण करने आ रहे हैं। यह हमारी बड़ी स्तुल्य सफलता है। देवगण के विमान ज्यों-ज्यों ऊपर से नीचे की ओर उतर रहे थे, पण्डित का अभिमान ऊँचा चढ़ रहा था।

पर यह क्या ? यज्ञ का स्थल एक ओर रह गया, पण्डित देवताओं की ओर टकटकी लगाये रह गये और देवता आगे चले गये। उन्होंने यज्ञस्थान की ओर ध्यान नहीं दिया और सीधे महासेन उद्यान में जा पहुंचे, जहां तीन लोक के नाथ, परम वीतराग, श्रमण भगवान् महावीर धर्मदेशना कर रहे

थे। पण्डितों को भारी निराशा हुई। उनका अभिमान गल गया।

भगवान् का उपदेश समाप्त हो गया। श्रोतृमण्डली अपने-अपने स्थान पर पहुंची। नगर में सर्वत्र भगवान् महावीर की प्रशंसा होने लगी। लोग कहने लगे-आज इस नगर के बाहर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् का पदार्पण हुआ है। क्या ही अनुपम छटा है उनकी। उनके असाधारण रूप का वर्णन करना असम्भव है। कैसा देदीप्यमान विशाल भाल है। उनके चेहरे पर वीतरागता की अद्भुत श्री विराजमान है। उनके मुख से वचन ऐसे निकलते है जैसे सुधाकर से सुधा की वृष्टि हो रही हो। वाणी में अपूर्व मधुरता है। विषय का निरुपण ऐसा सुसंगत और स्पष्ट होता है कि श्रोता को तनिक भी संशय नहीं रह जाता। सरल भाषा में गूढ़ से गूढ़ विषय का प्रतिपादन करने की ऐसी क्षमता आज तक अन्यत्र नहीं देखी गई। लाखों देवता उनके चरण-कमलों की सेवा करते हैं। आज हमारा अहोभाग्य है कि ऐसे लोकोत्तर महापुरुष के दर्शन और वाणी श्रवण करने का सुअवसर मिला।

महा पण्डित इन्द्रभूति ने इस प्रकार भगवान महावीर की प्रशंसा सुनी तो हृदय में ईर्ष्या की आग भड़क उठी। महावीर की इस ख्याति को वह सहन न कर सके। कहने लगे- इस भूतल पर मुझसे बढ़कर विद्वान कौन है? जान पड़ता है, कोई धूर्त्त पुरुष आया है, जिसने अपनी माया से इन अज्ञ लोगों को चमत्कृत कर दिया है। मगर उसे यह पता नहीं होगा कि इस नगर में इन्द्रभूति विद्यमान है। मैं अभी उसके पास जाता हूँ और उसकी सर्वज्ञता की कलई खोल देता हूँ।

इस प्रकार ईर्ष्या से प्रेरित होकर इन्द्रभूति गौतम ने अपने पाँच सौ शिष्यों को साथ लेकर महासेन उद्यान की ओर

प्रस्थान किया। मार्ग में उनके शिष्य बातें करते जा रहे थे कि आज गुरूजी को महान् विजय प्राप्त होने वाली है।

समवसरण के निकट पहुंच कर इन्द्रभूति ने मान स्तम्भ देखा। उसे देखते ही उनका आधा मान गल गया। वह आगे बढ़े और भगवान् के पास पहुंचे। चौंतीस अतिशयों से सुशोभित और मनुष्यों देवों तथा देवेन्द्रों से परिवृत भगवान् के भव्य मुखारविन्द को देखते ही इन्द्रभूति जी चकित एवं आत्मविस्मृत हो गये। हृदय वलात् उनकी ओर आकर्षित होने लगा। सहसा प्रीति का भाव उत्पन्न हो गया। वाणी मूक हो गई। जो कुछ भी सोच कर आये थे, सब भूल गये वह खोये से भगवान् के सामने जाकर खड़े हुए।

इन्द्रभूति की मानसिक स्थिति भगवान् से छिपी नहीं थी। भगवान् ने उनसे कहा—इन्द्रभूति गौतम ! तुम आ गए ?

भगवान् महावीर के मुख से अपना नाम और गौत्र सुनकर इन्द्रभूति को अत्यन्त विस्मय हुआ। आज से पहले उनका कभी साक्षात्कार नहीं हुआ था। गौतम सोचने लगे—यह मेरा नाम और गौत्र भी जानते हैं ! मगर इन्हें यह कैसे पता चल गया।

फिर गौतम ने विचार किया उँह, इसमें क्या विशेषता है ! मैं जगत् में प्रसिद्ध हूँ। कौन मुझे नहीं जानता ? नाम गौत्र वतला देने से ही मैं इन्हें सर्वज्ञ नहीं मान सकता। हाँ, मेरे मन में दीर्घकाल से जो संशय घर किये वैठा है, उसे यह जान लें और प्रकट कर दें तो समझूं कि सर्वज्ञ हैं। मगर उसे जान लेना कोई हंसी-खेल नहीं।

गौतम इस प्रकार विचार हो कर रहे थे कि भगवान् ने अतिशय मधुर और कोमल शब्दों में कहा—देवों के प्यारे

इन्द्रभूति ! तुम्हें आत्मा के विषय में संशय है। वेद के किसी-किसी वाक्य से आत्मा का अभाव जान पड़ता है और किसी बाक्य से सद्भाव प्रतीत होता है। इस कारण तुम ठीक तरह निश्चय नहीं कर सके कि आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व है या नहीं ?

इस प्रकार कह कर भगवान् ने आगे कहा—आयुष्यन् इन्द्रभूति ! तुम सोचते हो–जैसे गधे के सिर पर सींग नहीं दिखाई देते, आकाश के फूलों का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। और आत्मा का जब प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीत नहीं होता तो उसका अस्तित्व कैसे माना जाय ?

कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं, जो प्रत्यक्ष से नहीं जानी जा सकती पर अनुमान से जानी जा सकती है, जैसे परमाणु। एक अलग परमाणु दिखाई नहीं देता, मगर जब बहुत से परमाणु मिलकर पिण्ड का रूप ग्रहण करते हैं, तब उनका प्रत्यक्ष होने लगता है। अतएव अनुमान किया जाता है कि परमाणु न होते तो पिण्ड कैसे बनता ? मगर आत्मा का ऐसे किसी अनुमान से भी पता नहीं चलता।

प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से न जान सकने योग्य कोई कोई वस्तु आगम प्रमाण से भी जानी जा सकती है, परन्तु आत्मा के विषय में आगम परस्पर विरोधी बातें प्रकट करते हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा का निश्चय आगम से भी नहीं हो सकता।

देयानुप्रिय गौत्तम ! तुम्हारे अन्तःकरण में आने वाले इस प्रकार के विचार आत्मा का अभाव मानने को प्रेरित करते हैं और किन्हीं-किन्हीं वेदवाक्यों से आत्मा की सत्ता भी तुम्हें मालूम होती है। इसी कारण तुम सन्देह में पड़े हो। परन्तु

तुम्हारा सन्देह उचित नहीं है। तुम्हें सोचना चाहिए कि आत्मा न होतो तो आत्मा के विषय में संशय कौन करता ? आत्मा के विषय में जिसे संशय होता है, वह आत्मा ही हैं। इसके अतिरित्त 'मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूँ' इस प्रकार का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को होता है। इस अनुभव में प्रतीत होने वाला 'मैं" क्या है ? यह आत्मा ही है।

गुण का प्रत्यक्ष होने से गुणी का प्रत्यक्ष माना जाता है। आत्मा का गुण उपयोग चेतन्य है। उपयोग का प्रत्यक्ष सभी को होता है। अतएव आत्मा गुणी का भी प्रत्यक्ष मानना चाहिए।

गोतम—तो फिर वेद के कई वाक्यों में आत्मा का अभाव क्यों वतलाया गया है ? उदाहरणार्थ एक वाक्य लीजिए:—

"विज्ञान धन एवं भूतेभ्यो समुन्थाय तान्येवानुविनश्यति" न प्रेत्यसंज्ञा ऽस्ति। इसका अर्थ यह है कि विज्ञानधन (आत्मा) चार भूतों से उत्पन्न होता है और भूतों का नाश होने पर नष्ट हो जाता है, परलोक नहीं है।

वेद के इस वाक्य से स्वतंत्र आत्मा का अभाव स्पष्ट ज्ञात होता है। इह विषय में आप क्या कहते हैं ?

भगवान्—तुमने इस वेदवाक्य का सच्चा अर्थ नहीं समझा है।यहाँ विज्ञानधन का अर्थ आत्मा नहीं, ज्ञान ही है। भूतों से अर्थात् दृश्यमान पदार्थों के निमित्त से ज्ञान की उत्पत्ति होती है और जब पदार्थ नहीं होते तो ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। 'न प्रेत्यसंज्ञा ऽ–स्ति इसका अर्थ यह है कि दूसरे—उत्तरकालीन ज्ञान के उत्पन्न होने पर पहला—पूर्वकालीन ज्ञान नहीं रहता। हे गोतम ! इस वाक्य में' विज्ञानधन, के आगे प्रयोग किया हुआ

' एवं अव्यय इसी बात का सूचक है कि भूतों के निमित्त से ज्ञान ही उत्पन्न होता है, आत्मा नहीं। इस प्रकार यह वाक्य उल्टा आत्मा के नित्यत्व का प्रतिपादक है।

भगवान् ने आगे कहा—देवों के प्यारे! शब्दों का आशय बहुत कुछ दृष्टि पर निर्भर करता है। अतएव सब से पहले अपनी दृष्टि को निर्मल बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। दृष्टि निर्मल हो जायगी तो शब्दों का सम्यक् अर्थ प्रतीत होने लगेगा।

भगवान् महावीर के द्वारा किया हुआ यह स्पष्टीकरण इन्द्रभूति को बड़ा रुचिकर हुआ। भगवान् ने प्रथम तो उनके मन के सन्देह को जानकर प्रकट कर दिया और फिर उसका निवारण भी कर दिया। इस कारण उन्हें भगवान् की सर्वज्ञता पर विश्वास हो गया। उसी समय वे भगवान् के चरणों में गिर पड़े और अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ उनके शिष्य बन गये। इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य बने।

इन्द्रभूति के अनुज अग्निभूति और वायुभूति भी बड़े-बड़े विद्वानों में गिने जाते थे। उनके पाँच-पाँच सौ शिष्य थे जब उन्हें मालूम हुआ कि हमारे ज्येष्ठ भ्राता महावीर के शिष्य बन गये। तो अग्निभूति को आवेश आया। वह शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार हुए। बोले-महावीर बड़े इन्द्रजालिया मालूम होते हैं। उन्होने वाग्जाल में फंसा कर मेरे भाई को जीत लिया और अपना शिष्य बना लिया है। मैं उन्हें पराजित करके अपने भाई को वापिस लाऊँगा।

इस प्रकार अहंकार के साथ अग्निभूति, महावीर के पास गये। पर भगवान् की सौम्य मूर्ति तथा अतिशय प्रशान्त एवं गंभीर मुखमुद्रा देख कर चकित रह गये। उनका अहंकार नम्रता में परिणत हो गया। भगवान् ने अग्निभूति का कर्म-

विषयक संशय का निवारण करके सन्तुष्ट किया और वे भी भगवान् के शिष्य वन गये।

दो बड़े भाई भगवान् के शिष्य वन गये तो तीसरे वायुभूति ने सोचा महावीर वास्तव में सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञ हुए विना मेरे प्रचण्ड विद्वान भाइयों को पराजित नहीं कर सकता था और वे किसी के शिष्य तो वन ही नहीं सकते थे। इस प्रकार के विचार से वायुभूति का हृदय भक्ति से झुक गया। वह भक्ति और श्रद्धा के साथ उनके निकट पहुँचे। वह भी उसी समय उनके शिष्य वन गये।

इस प्रकार इन्द्रभूति आदि तीनों भाई भगवान् के प्रधान शिष्य वने और वहीं प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय गणधर कहलाये।

गौतम तीर्थंकर भगवान् के शिष्य वनकर विशिष्ट ज्ञान और संयम के साथ तप की आराधना करने लगे। वे ध्यान में लीन रहते और अपनी आत्मा को भावित करते थे। अपने सात हाथ ऊँचे और अत्यन्त गौर-वर्ण शरीर को उन्होंने तप की आग में झौंक दिया।

भगवान् के प्रति उनकी भक्ति अनुपम थी। ऐसी प्रगाढ़ भक्ति क्वचित ही दिखाई देगी। कहना चाहिए कि उनको भक्ति मोहमें परिणत हो गई थी। अपने सन्मार्गप्रदर्शक गुरू महावीर स्वामी के प्रति उन्हें राग हो गया था। यही कारण है कि उनसे छोटे-छोटे अनेक साधु तो निर्वाण प्राप्त करने में समर्थ हो सके, पर इन्द्रभूति अपने प्रशस्त गुरू-राग के कारण तव तक केवल ज्ञान प्राप्त न कर सके, जव तक भगवान् विद्यमान रहे। भगवान् ने उन्हें चेतावनी भी दी थी कि मुझ पर गहरा राग होने के कारण ही तुम्हारा परिपूर्ण आत्म-विकास रुका हुआ है। फिर

भी वह उस राग का परित्याग न कर सके। अपने कुटुम्ब-परिवार और सांसारिक सुखों सम्बन्धी राग जिनको स्पर्श भी नहीं कर सकता था, वही गौतम स्वामी अपने गुरू के राग को त्यागने में असमर्थ थे।

इन्द्रभूति गणधर चार ज्ञान के धारक थे। तपस्या के प्रभाव से उनकी बुद्धि का अद्भुत विकास हो चुका था। समस्त ऋद्धियां न चाहने पर भी उन्हें प्राप्त हो गई थीं। चौदह हजार भगवान् के शिष्यों में वह सब से बड़े शिष्य थे। फिर भी उनका चित्त अत्यन्त सरल था। अभिमान छू तक नहीं गया था। अपनी भूल को स्वीकार करते उन्हें सकोच नहीं होता था। एक बार अपनी भूल के लिए उन्होंने आनन्द नामक श्रावक के घर जाकर उससे क्षमायाचना की थी। यह उनकी असाधारण महत्ता थी।

महर्षि गौतम का हमारे ऊपर महान् उपकार है। उन्होंने भगवान् के उपदेश को ग्रन्थ रूप में न गूंथा होता तो आज हम घोर अन्धकार में ही भटकते रहते। उन्होंने भगवान् के उपदेश को अपनी अतिसूक्ष्म और तीव्र प्रज्ञाशक्ति से ग्रन्थों का रूप प्रदान किया और अपने शिष्यों को याद कराया। इस प्रकार परम्परा से वह आज हमें भी प्राप्त हो सका है।

गौतम स्वामी अत्यन्त ही दयालु थे। वे जिन प्रश्नों का उत्तर जानते थे, अपने शिष्यों की विशिष्ट ज्ञान वृद्धि के लिए तथा उन्हें पूरा-पूरा विश्वास कराने के लिए भगवान् से पूछा करते थे। आज जो मूल आगम–साहित्य उपलब्ध है, उसका अधिकांश भाग गौतम स्वामी के प्रश्न करने पर भगवान् का कहा हुआ है।

भगवान् महावीर का निर्वाणकाल सन्निकट आ गया।

उन्होंने सोचा-गौतम के सामने मेरा निर्वाण होना उसे दुस्सह: हो जायगा। अतएव भगवान् ने उन्हें अन्यत्र भेज दिया। वह लौट कर आ भी न पाये थे कि भगवान् शरीर त्याग कर परमधाम पहुँच गये। इस घटना से गौतम स्वामी के हृदय को धक्का लगा। उनका मोह उसी समय दूर हो गया—राग हट गया। केवल ज्ञान की अपूर्व आत्मा उनकी आत्मा में चमक उठी। बारह वर्ष केवली अवस्था में रह कर वे निर्वाण को प्राप्त हुए।

卐

ईखुरस

इक्षु, ईख या ईखु के रस की मिठास को कौन नहीं जानता ? उसकी मिठास बहुत उत्तम होती है। ईख खेतों में बोई जाती है। उसे पर्व-बीज वनस्पतियों में गिना गया है। टुकड़े-टुकड़े करके किसान उसे बोते हैं। ईख के रस से गुड़ और शक्कर बनाई जाती है।

आगे चलकर भगवान् ऋषभ देव का परिचय दिया जायगा। उससे विदित होगा कि एक वर्ष तक निराहार रहने के पश्चात् भगवान ने सबसे पहले कुमार श्रेयांस के हाथों से ईक्षुरस ग्रहण करके ही पारणा की थी। भगवान् आदिनाथ उस युग में सबसे पहले साधु बने थे। उस समय की जनता साधुओं को आहार देने की विधि नहीं जानती थी। भगवान् ने छह महीने तक तो आहार लेने की इच्छा ही नहीं की। छह महीने जब आहार लेना चाहा तो वे इधर उधर आहार के निमित्त, यथासमय भ्रमण करने लगे। भगवान् को भ्रमण करते देख

और अपने घर आया देख, लोग अपना अहोभाग्य समझते। उनके चरणों में गिरते। अत्यन्त भक्तिभाव प्रकट करते। कोई उन्हें हाथी घोड़ा देने की इच्छा करता, कोई रत्नजड़ित आभूषणों की भेंट चढ़ाना चाहता। कोई कन्या अर्पित करना चाहता। कोई दूसरी बहुमूल्य वस्तु स्वीकार करने की प्रार्थना करता। मगर आहार जैसी सामन्य वस्तु देने की कल्पना किसी को नहीं आती ! भोले जीव थे उस समय के ! सोचते ऐसे महान् पुरुष को आहार जैसी साधारण चीज़ ग्रहण करने को क्या प्रार्थना की जाय ? उन्हें क्या पता था कि जीवन की दृष्टि से, हाथी-घोड़ों और हीरो-पन्नों आदि की अपेक्षा आहार बहुत मूल्यवान् है। मानव शरीर आहार से टिक सकता है, हीरों और पन्नों से नहीं।

तो जनता की ना समझी की बदौलत भगवान् को छह महीने तक आहार न मिला। जब एक वर्ष पूरा हो गया तो श्रेयांस कुमार को जाति स्मरण ज्ञान हुआ और उन्होंने ईखुरस का दान देकर भगवान् को आहार कराया। उसी समय से अक्षयतृतीय पर्व चला।

आज भी ईखुरस का नाम सुनते ही असंख्य वर्षों का पुराना वह इतिहास हमारी आँखों के आगे झूलने लगता है। वास्तव में ईखुरस भी भगवान् आदिनाथ के संपर्क से धन्य हो गया है ! आज भी वर्षों तप करने वाले प्रायः ईखुरस से ही अपनी तपस्या की पारणा करते हैं।

卐

उपासक

उपासना करने वाला उपासक कहलाता है। उपासना का अर्थ है आराधना। धर्म की आराधना या उपासना करने वाले को धर्मोपासक कहते हैं। श्रमणों की उपासना करने वाले को श्रमणोपासक कहते हैं। जो जिसको उपासना करता है, वह उसी का उपासक कहलाता है।

हमारे यहां श्रमणोपासक शब्द अति प्रचलित है। श्रमणोपासक को श्रावक भी कहते हैं। पाँच महाव्रतों का, पाँच समितियों का और तीन गुप्तियों का तथा साधु सबंधी अन्य आचार का पालन करने वाले संत श्रमण हैं और उनकी उपासना करने वाला श्रमणोपासक है।

श्रमण जिस धर्म का पालन करते हैं, उनका उपासक भी उसी धर्म का पालन करता है। परन्तु श्रमण त्यागी होते हैं और उपासक गृहस्थ होते हैं। अतएव उपासक के लिए श्रमण धर्म का पूरी तरह पालन करना शक्य नहीं है। इस कारण वह श्रमण धर्म पर श्रद्धा तो रखता है और उसका पालना करने की भावना भी रखता है, पर पालता है उस धर्म को आंशिक रूप में ही।

उपासक का गृहस्थजीवन भो बहुत पवित्र होता है। उसके सम्बन्ध में कहा गया है :—

उपासक नीति से ही धन का उपार्जन करता है, उत्तम आचार वाले की प्रशंसा करता है, पाप से डरता है, देशाचार के अनुसार वर्त्ताव करता है, किसी की बुराई या निन्दा नहीं करता, अच्छे पड़ोसियों में रहता है, सदाचारी जनों की संगति करता है, माता-पिता आदि गुरूजनों की सेवा भक्ति करता है,

आय का विचार करके तदनुसार ही व्यय करता है, मुनिजनों का उपदेश सुनता है, यथाशक्ति दान देता है, परोपकार-परायण होता है, ज्ञानवान् पुरुषों की संगति और सेवा करता है, अपनी सन्तान को सुशिक्षित और सुसंस्कारी बनाता है। दयालु और सच्चा होता है। मतलब यह है कि श्रमणोपालक नैतिक दृष्टि से आदर्श गृहस्थ होता है।

उपासक बारह प्रकार के गृहस्थधर्म को शक्ति के अनुसार ग्रहण करके पालता है और प्रतिदिन छह आवश्यकों का सामयिक आदि का आचरण करता है।

भगवान् महावीर के समय के दस उपासक प्रसिद्ध हैं। उनका चरित उपासकदशांग शास्त्र में वर्णित है। उनकी धर्म पर अटल श्रद्धा थी। मनुष्य की तो बात क्या, देवता भी लाख-लाख कोशिश करके थक गये, परन्तु कामदेव जैसे उपासकों को धर्म से चलायमान न कर सके। हमें ऐसा ही उपासक बनना चाहिए।

卐

ऊहापोह

'ऊहापोह' एक शब्द मालूम होता है, किन्तु वास्तव में यह दो शब्दों के मेल से बना है। एक है ऊहा और दूसरा है अपोह। ऊहा का अर्थ है—तर्क-वितर्क करना और अपोह का अर्थ है—किसी वस्तु में न पाये जाने वाले धर्मों को हटाकर पाये जाने वाले धर्मों का निश्चय करना। इस प्रकार 'ऊहापोह' का मतलब निकलता है—किसी वस्तु में पाये जाने वाले धर्मों के अस्तित्व का निश्चय करना और न पाये जाने वाले धर्मों को

हटाना; अर्थात् विधि-निषेध रूप से पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करना।

किसी भी पदार्थ के निश्चित स्वरूप को भलीभाँति समझने के लिए ऊहापोह की आवश्यकता होती है। ऊहापोह किये विना पदार्थ के स्वरूप का ठीक-ठीक निश्चय नहीं होता। उदाहरण लीजिए—

मुनि आत्मा के स्वरूप का ऊहापोह करते हैं। तव वे यह विचार करते हैं कि आत्मा में क्या-क्या गुण विद्यमान हैं? अनन्त ज्ञान है, अनन्त दर्शन है, चमत्कारमयी चेतना है, अनन्त अप्रतिहत वीर्य शक्ति है, अखण्ड सत्ता है इत्यादि। तत्पश्चात् वे यह भी विचार करते हैं कि आत्मा में क्या-क्या धर्म नहीं हैं? जैसे—आत्मा में रूप नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, स्पर्श नहीं, जड़ का कोई धर्म नहीं है। आत्मा स्वभावतः सब प्रकार के विकारों से अतीत, निरंजन निराकार है। इस तरह आत्मा के स्वरूप का ऊहापोह करने से उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

साधारण तौर पर ऊहापोह को चिन्तन करना, मनन करना, विचार करना और तर्क-वितर्क करना भी कहा जा सकता है।

पढ़ लेना और सुन लेना अलग वात है और उस पर चिन्तन-मनन करना अलग वात है। पढ़-सुन लेने मात्र से ज्ञान अन्तस् में रमता नहीं है। उसे अन्तस् में रमाने के लिए पढ़ने-सुनने के वाद गुनने की आवश्यकता होती है। यह गुनना ही ऊहापोह कहलाता है।

जव किसी भी वस्तु पर ऊहापोह करना हो तो चित्त को और सब वस्तुओं से हटा कर उसी एक वस्तु पर स्थिर करना चाहिए। मन की स्थिरता के अभाव में ठीक-ठीक

ऊहापोह नहीं हो सकता। मन कहीं भटक रहा हो और शरीर कहीं हो तो क्या खाक चिन्तन होगा ? कुछ नहीं होगा।

आप कह सकते हैं कि चित्त को एकाग्र करना किस प्रकार संभव हो सकता ? वह तो बड़ा ही चंचल है, हठीला है, एक जगह ठहरता ही नहीं है। क्षण में इधर तो क्षण में उधर भागता है, चक्कर काटता ही रहता है उसे पकड़ कर एक जगह कैसे रक्खा जाय ?

बात सही है। मन चपल है और उसे एक जगह रोक रखना साधारण बात नहीं है। फिर भी अभ्यास के द्वारा इसको काबू में किया जा सकता है। अतएव चित्त की एकाग्रतापूर्वक तत्त्व का ऊहापोह करना ही उचित है।

किसी विशेष परिस्थिति में तड़ाक-फड़ाक निर्णय करना पड़ता है। देर करने से अवसर निकल जाता है, फिर भी इस प्रकार किया गया निर्णय खतरे से खाली नहीं होता। ऐसा करने से हानि होने की संभावना बनी रहती है। अतः जब हमारे सामने कोई महत्त्वपूर्ण समस्या उपस्थित हो तो अच्छी तरह ऊहापोह करके ही अपने कर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिए। ऊहापोह के बाद किया गया निर्णय सुखकारी होता है और उससे सफलता की बहुत कुछ आशा की जा सकती है। नीतिज्ञ जन कहते हैं—

सहसा विदधीत न क्रियताम्,
अविवेकः परभापदां पदम्।

अर्थात् बिना ऊहापोह किये, अचानक ही कोई काम नहीं कर डालना, क्योंकि चाहिये अविवेक से बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ आ जाती हैं।

बुद्धिमान् और विवेकशील पुरूष वे ही कहलाते हैं, जो अच्छी तरह सोचे-समझे विना कभी कोई काम नहीं करते।

अभिप्राय यह है कि ऊहापोह करने से ही तत्त्वों का मार्मिक ज्ञान प्राप्त होता है और ऊहापोह करके किये गये कार्य से पश्चाताप नहीं करना पड़ता। अतएव ऊहापोह हमारे लिए अतीव उपयोगी है।

卐

ऋषभदेव भगवान्

इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के चौरासी लाख पूर्व और नवासी पक्ष जब शेष रहे थे, तब भगवान् ऋषभदेव सर्वार्थसिद्ध विमान से इस धराधाम पर अवतरित हुए। आपके पिता का नाम नाभि और माता का नाम मरूदेवी था। ऋषभदेवजी के गर्भ में आने पर तीनों लोक में प्रकाश फैल गया और प्राणी मात्र को अचानक ही आनन्द का अनुभव हुआ। उसी रात्रि में माता मरुदेवी ने चौदह महान् शुभ स्वप्न देखे, जो ये थे:—(१) वृषभ (२) गज (३) केसरीसिंह (४) महालक्ष्मी (५) पुष्पमालाओं का युगल (६) पूर्ण चन्द्रमा (७) सूर्य (८) कलश (९) क्षीर सागर (१०) पद्म युक्त सरोवर (११) इन्द्रध्वजा (१२) देवविमान (१३) रत्नों की राशि और (१४) धूमहीन अग्निज्वाला। जैसे मोती से सीप और सिंह से कन्दरा शोभायमान होती है, उसी प्रकार गर्भस्थ लोकान्तर शिशु से मरुदेवी माता सुशोभित होने लगी।

नौ मास और साढ़े आठ दिन के पश्चात्, चैत कृष्णा अष्टमी के दिन, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में, ऋषभदेवजी का जन्म

हुआ। आपके जन्म के समय दिशाएँ निर्मल और प्रसन्न हो गई। सर्वत्र हर्ष और उल्लास फैल गया। मनुष्यों, देवों और तिर्यंचों के हृदय में सुख का संचार हुआ। यही नहीं, नारक जीवों को भी क्षण भर के लिए शान्ति मिली। महाराज नाभि ने ठाठ के साथ जन्मोत्सव मनाया। ऋषभदेव जी की जंघा पर वृषभ का चिह्न था और स्वप्न में भी वृषभ दिखाई दिया था, अतएव आपका नाम 'ऋषभ' रक्खा गया। ऋषभदेवजी के बाल्यकाल का वर्णन गुरुदेव श्री जैन दिवाकरजी महाराज के शब्दों में इस प्रकार है:—

तर्जः-आंगना में गिल्ली खेलें

ऋषभ कन्हैया लाला आंगना में रुमझुम खेले,
अँखियन का तारा प्यारा आंगना में रुमझुम खेले ॥टेर॥
इन्द्र इन्द्रानी आई प्रेम धर गोदी में लेवे,
हँसे रमावे करे प्यार दिल की रलियाँ रेले।
रतन पालनिये माता लाल ने झूलावे झूले,
करे लल्ला से अति प्यारनहीं वो दूरी मेले।
स्नान कराई माता लाल ने पहिनावे झेले,
गले मोतियन का हार मुकुट सिर ऊपर मेले।
गुरू प्रसादे "मुनि चौथमल" यूं सब से केवे,
नमन करो हर बार वो तीर्थङ्कर पहले।

ऋषभदेव जी के समय से पहले युगल-काल था। स्त्री-पुरूष का युगल (जोड़ा) एक साथ उत्पन्न होता है और एक ही साथ स्वर्गवासी होता था। परन्तु भगवान् के समय में युगल-काल नष्ट हो रहा था और नवीन-नवीन बातें प्रकट हो रही थीं। उसमें से एक नवीन घटना यह भी हुई। एक युगल किसी

ताड़ वृक्ष के नीचे बैठकर क्रीड़ा कर था। अकस्मात् एक ताड़-फल टूट कर गिरा और उसकी चोट से उस बालक-पुरुष का देहान्त हो गया। अपने ढंग की यह घटना उस समय पहली थी। बालिका एकाकिनी रह गई। एक दूसरा युगल उसे अपने साथ ले गया। उसने बालिका का पालन-पोषण किया। बालिका अत्यन्त सुन्दरी थी। ऐसी जान पड़ती जैसे स्वर्ग की रंभा मर्त्यलोक में आई हो! यथासमय वह बालिका नवयुवती हुई। उसका नाम सुनन्दा था। उसे लेकर वह युगल महाराज नाभि के पास आया। यह ऋषभ की पत्नी होगी। यह कह कर उन्होंने उस बालिका को स्वीकार कर लिया। उसके साथ तथा सुमंलगा नामक एक दूसरी कन्या के साथ ऋषभदेवजी का विवाह हुआ।

इससे पहले विवाह की प्रथा नहीं थी। सर्वप्रथम आपका ही विधिवत् विवाह सम्पन्न हुआ और तभी से विवाह की प्रथा चालू हुई।

ऋषभदेवजी अपनी दोनों पत्नियों के साथ रहते हुए भी संसार से उदासीन रहते थे। अनेक पूर्वभवों के वैराग्य के संस्कार उनकी आत्मा में विद्यमान थे, अतएव वे केवल भोगावली कर्मके उदय से ही गृहस्थावस्था में रहते थे। यों उनका अतःकरण भोगों से सर्वथा अलिप्त था।

सुमंगला के उदर से सर्वप्रथम भरत और ब्राह्मी का युगल उत्पन्न हुआ। सुनन्दा ने महाबली बाहुबली और सुन्दरी को जन्म दिया। तत्पश्चात् यथासमय ४९ युगल पुत्रों के रूप में ९८ पुत्र और उत्पन्न हुए। इस प्रकार १०० पुत्रों और दो पुत्रियों के परिवार से ऋषभदेवजी शोभायमान हुए। उनके सभी पुत्र विन्ध्याचल के गजराज की तरह शूरवीर थे।

हुआ। आपके जन्म के समय दिशाएँ निर्मल और प्रसन्न हो गईं। सर्वत्र हर्ष और उल्लास फैल गया। मनुष्यों, देवों और तिर्यंचों के हृदय में सुख का संचार हुआ। यही नहीं, नारक जीवों को भी क्षण भर के लिए शान्ति मिली। महाराज नाभि ने ठाठ के साथ जन्मोत्सव मनाया। ऋषभदेव जी की जंघा पर वृषभ का चिह्न था और स्वप्न में भी वृषभ दिखाई दिया था, अतएव आपका नाम 'ऋषभ' रखा गया। ऋषभदेवजी के बाल्यकाल का वर्णन गुरुदेव श्री जैन दिवाकरजी महाराज के शब्दों में इस प्रकार है:—

तर्ज:-आंगना में गिल्ली खेलें

ऋषभ कन्हैया लाला आंगना में रुनझुम खेले,
त्रिभुवन का तारा प्यारा आंगना में रुनझुम खेले ॥टेर॥
इन्द्र इन्द्राणी आई प्रेम भर गोदी में लेवे,
हँसी खिलावे करे प्यार दिल की रलियाँ रेले।
रतन पालणिये माता लाल ने झुलावे झूले,
करे नजरा से अति प्यार नहीं यो दूरी मेले।
जामा जराई माता लाल ने पहिरावे झेले,
गले मोतियन का हार मुकुट सिर ऊपर मेले।
गुरु प्रतापे 'मुनि चौथमल' यूं मन से केवे,
नमन करो हर वार यो तीर्थंकर पहले।

ऋषभदेव जी के समय से पहले युगल-काल था। स्त्री-पुरुष का युगल (जोड़ा) एक साथ उत्पन्न होता है और एक ही साथ स्वर्गवासी होता था। परन्तु भगवान् के समय में युगल-काल नष्ट हो रहा था और नवीन-नवीन बातें प्रकट हो रही थीं। उसमें से एक नवीन घटना यह भी हुई। एक युगल किसी

ताड़ वृक्ष के नीचे बैठकर क्रीड़ा कर था। अकस्मात् एक ताड़-फल टूट कर गिरा और उसकी चोट से उस बालक-पुरुष का देहान्त हो गया। अपने ढंग की यह घटना उस समय पहली थी। बालिका एकाकिनी रह गई। एक दूसरा युगल उसे अपने साथ ले गया। उसने बालिका का पालन-पोषण किया। बालिका अत्यन्त सुन्दरी थी। ऐसी जान पड़ती जैसे स्वर्ग की रंभा मर्त्यलोक में आई हो! यथासमय वह बालिका नवयुवती हुई। उसका नाम सुनन्दा था। उसे लेकर वह युगल महाराज नाभि के पास आया। यह ऋषभ की पत्नी होगी। यह कह कर उन्होंने उस बालिका को स्वीकार कर लिया। उसके साथ तथा सुमंलगा नामक एक दूसरी कन्या के साथ ऋषभदेवजी का विवाह हुआ।

इससे पहले विवाह की प्रथा नहीं थी। सर्वप्रथम आपका ही विधिवत् विवाह सम्पन्न हुआ और तभी से विवाह की प्रथा चालू हुई।

ऋषभदेवजी अपनी दोनों पत्नियों के साथ रहते हुए भी संसार से उदासीन रहते थे। अनेक पूर्वभवों के वैराग्य के संस्कार उनकी आत्मा में विद्यमान थे, अतएव वे केवल भोगावली कर्मके उदय से ही गृहस्थावस्था में रहते थे। यों उनका अतःकरण भोगों से सर्वथा अलिप्त था।

सुमंगला के उदर से सर्वप्रथम भरत और ब्राह्मी का युगल उत्पन्न हुआ। सुनन्दा ने महाबली बाहुबली और सुन्दरी को जन्म दिया। तत्पश्चात् यथासमय ४९ युगल पुत्रों के रूप में ९८ पुत्र और उत्पन्न हुए। इस प्रकार १०० पुत्रों और दो पुत्रियों के परिवार से ऋषभदेवजी शोभायमान हुए। उनके सभी पुत्र विन्ध्याचल के गजराज की तरह शूरवीर थे।

इस प्रकार सुखपूर्वक समय व्यतीत हो रहा था कि काल के प्रभाव से कल्पवृक्ष प्रभाहीन होने लगे। युगल लोग नीति-मर्यादा को भंग करने लगे। उनमें कषाय की वृद्धि होने लगी। तब प्रभु ने उन्हें नवीन पद्धति से रहने की शिक्षा दी। भगवान् ने उनसे कहा जो मर्यादा को भंग करता है, उसे शिक्षा देने के लिए राजा नियुक्त किया जाता है। राजा के राज्याभिषेक आदि के संबंध में भी उन्होंने युगलियों को समझाया। तब युगलियों ने कहा इस समय आपको ही हमारा राजा बनना पड़ेगा। आपके सिवाय दूसरा कोई हमें दृष्टिगोचर नहीं होता, जो इस परिस्थिति को संभाल सके। आप ही हमारे आधार हैं, आप ही सर्वस्व हैं। आप ही हमारे रक्षक हैं आपके सिवाय हमारे लिए अन्य कोई शरण नहीं है।

ऋषभदेव जी ने कहा—आप लोग पुरुषोत्तम श्रीनाभि के पास जाइये। वे राजा बतला देंगे। उसी की आज्ञा मान कर चलना।

लोग नाभि कुलकर के पास पहुँचे। उस समय ऋषभदेवजी ही सब से बड़े ज्ञानी और योग्य पुरुष थे। पलटने वाली परिस्थिति में जनता की सहायता करने की और पथ प्रदर्शन करने की योग्यता उनके समान और किसी में नहीं थी। अतएव कुलकर नाभि ने ऋषभदेव जी को ही राजा के रूप में स्वीकार करने का परामर्श दिया। यह परामर्श सुनकर युगलगण अत्यन्त हर्षित हुए। उन्होंने उत्साह और उमंग के साथ राज्याभिषेक किया। उसी समय इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने विनीता अर्थात् अयोध्या नगरी की रचना की, जो बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ाई में थी।

इस प्रकार इस युग में सब से पहले राजा ऋषभदेव जी हुए। वे पुत्र के समान प्रजा का पालन करने लगे। उन्होंने मन्त्री, सेनापति, ग्रामरक्षक आदि नियुक्त किये। हाथियों और घोड़ों आदि की सेना बनाई। पहले के लोग गाय, बैल, ऊंट आदि पशुओं का उपयोग नहीं करते थे, भगवान् ने उनका पालना और उपयोग में लाना सिखलाया। खेती करने और भोजन पकाने की विधि समझाई।

रूखापन आ जाने के कारण वृक्षों की आपस में जो रगड़ हुई, उससे आग प्रकट हो गई। युगल लोग आग को जानते नहीं थे। उन्होंने उस आग को रत्न समझकर लेने का प्रयत्न किया तो हाथ जल गये। वे भागे-भागे ऋषभदेव जी के पास आए। सब हाल सुनकर आपने अग्नि के उपयोग की विधि समझाई। मृत्तिका के बरतन बनाने की कला भी बतलाई। इस प्रकार आपने कुम्हार, बढ़ई, चित्रकार, जुलाहे और नापित स्थापित किये। इन पाँच शिल्पों से संसार में सौ शिल्प प्रकट हुए। तात्पर्य यह है कि ऋषभदेव जी ने उस बदली हुई हालत में लोगों को एकदम नये ढंग से जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी। शाम, दाम, दंड और भेद की राजनीति सिखलाई। असि, मसि, कृषि, कर्म सिखलाए। पुरुषों के लिए ७२ और स्त्रियों के लिए ६४ कलाएं बतलाईं। अठारह प्रकार की लिपियां अपनी कन्या ब्राह्मी को सिखलाई। सुन्दरी को अंक विद्या सिखाई। माता-पिता पुत्र एवं पति पत्नि का सम्बन्ध समझाकर परिवार की योजना की। दूसरे की कन्या से विवाह करने की विधि बताकर समाज स्थापना की नींव डाली। साथ ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण की स्थापना करके उनके अलग-अलग कर्तव्य स्थापित किये।

तात्पर्य यह है कि उस समय जनता कल्प वृक्षों के फल-फूलों से निर्वाह करती थी। न परिवार थे, न समाज था। न राजा, न प्रजा थी। न कला थी, न शिल्प था। न ग्राम थे। मगर जब समय वदल गया और कल्पवृक्षों से काम चलना वंद हो गया। लोगों के सामने जिन्दगी की कठिनाईयां भीषण रूप में सामने आईं, तो ऋषभदेव जी ने उनका नेतृत्व किया और जीवन को एकदम नवीन ढांचे में ढाल दिया। लोग शांति के साथ रहने लगे। भोग भूमि की जगह कर्म भूमि की प्रतिष्ठा हुई।

वसन्त ऋतु का मौसम था। नाभिनन्दन अपने परिवार के अनुरोध से उद्यान में जाकर विराजे। भांति-भांति के पुष्प खिले हुये थे और उनके मनोहर सौरभ से दिशाएं व्याप्त हो रही थीं। पुष्पों के मकरन्दपान के लिए भ्रमरों के झुंड के झुंड गुनगुनाते हुए इधर-उधर घूम रहे थे। कभी कोकिला का कान्त कलरव सुनाई दे रहा था। कहीं पपीहा बोल रहा था। नर-नारियां नवीन उमंग के साथ गाने गाते और बाजे बजाते हुए आनन्द में मग्न थे। यह छटा देख कर आदिनाथ जी ने अपने अवधि ज्ञान का उपयोग लगाया। उन्हें पूर्व जन्मों में भोगे हुए स्वर्ग के सुखों का स्मरण हो आया धीरे-धीरे मोह का बन्धन टूट गया और हृदय में वैराग्य उमड़ आया। उसी समय ब्रह्मलोक नामक पांचवें स्वर्ग से लोकान्तिक देवों ने आकर प्रभु के वैराग्य की अनुमोदना और सराहना की। उन्होंने निवेदन किया-नाथ, आपने संसार, व्यवहार प्रचलित करके जगत् की जनता को जीवन-दान दिया है महान् उपकार किया है। अब मोक्ष-मार्ग की प्रवृत्ति कीजिये।

उसी समय श्री नाभिनन्दन ने भरत और बाहबली आदि

पुत्रों को बुलाकर कहा–पुत्रों जगत् जंजाल है। संसार असार है। मेरा संसार संबंधी कार्य पूर्ण हो चुका है। प्रजा की सब सुव्यवस्था होगई है। तुम लोग भी अब परिस्थिति को संभालने योग्य होगये हो। अतः मैं अब इस बखेड़े से अलग होना चाहता हूं। मैं अपनी आत्मा के कल्याण की साधना करूंगा संयम ग्रहण करूंगा।

अपने पिता की बात सुनकर भरत नतमस्तक होकर थोड़ी देर चुप बैठे रहे। तत्पश्चात् उन्होंने गद्गद होकर कहा–नाथ, आपकी छत्र-छाया में जो सुख है, वह रत्नजटित छाया में नहीं। आपके चरण-कमलों में जो आनन्द है, वह सिंहासन में नहीं। अतः हमारी अभिलाषा तो यही है कि हमारे मस्तक पर आपकी छाया बनी रहे।

ऋषभदेव जी ने कहा–आत्मकल्याण के लिए और संसार को त्याग एवं संयम का मार्ग बतलाने के लिए मैं राज्य का त्याग कर मुनि धर्म का आचरण करना चाहता हूँ। किन्तु किसी न किसी का राजा रहना आवश्यक है। राजा न होगा तो अन्याय-अत्याचार बढ़ जायगा। सबल निर्बल को सतायेंगे। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की कहावत चरितार्थ हो जाएगी। अतएव प्रजा में शान्ति और सुव्यवस्था रखने के लिए तुम शासन के उत्तरदायित्व को वहन करो, यही मेरा आदेश है।

भरतजी को अपने आराध्य पिताजी के आदेश के सामने सिर झुकाना पड़ा। तब अयोध्या के राजा भरतजी हुए। उन्होंने अपने बाहुबली आदि पुत्रों को भी यथायोग्य देशों का विभाजन करके राज्य का बँटवारा कर दिया। वे राज्यभार से सर्वथा मुक्त हो गए। तत्पश्चात् आदि देव ने वर्षी दान देना आरम्भ किया। सर्वत्र दान की घोषणा करादी गई कि जिसे

जो चाहिए सो ले सकता है। पर उस समय के लोगों की लालसा बढ़ी हुई नहीं थी। इस कारण कोई भी लालच में पड़ कर आवश्यकता से अधिक नहीं लेता था। इस प्रकार एक वर्ष तक भगवान् ने यथेष्ट दान करके जनता को दान देना सिखलाया।

अब भगवान् दीक्षा लेने के लिए तैयार हुए। भगवान् का सांसारिक व्यवस्था सम्बन्धी कार्य पूर्ण हो चुका था और आगे का उत्तरदायित्व उन्होंने भरतजी को सौंप दिया था। प्रजा का जीवन स्थिर हो गया था। परन्तु मनुष्य जीवन का लक्ष्य पेट पाल लेना, संसार के प्रपंचों में फँसे रहना और अन्त में मौत का शिकार हो जाना ही नहीं है। मानव-जीवन इससे बड़े और उच्च उद्देश्य की प्राप्ति के लिए है। मनुष्य को चाहिए कि वह आत्मा की शान्ति के लिए भी कुछ प्रयत्न करे। शाश्वत शान्ति की खोज करे और उस मार्ग पर चले। ऐसा करने के लिए धर्म तीर्थ का अनुसरण करना अनिवार्य है। उस समय धर्मतीर्थ नहीं था। वह कार्य भी भगवान् को ही करना था। परन्तु धर्मतीर्थ की स्थापना उच्चतर तपस्या के द्वारा परिपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के बिना सम्भव नहीं है। अतएव भगवान् तपस्या करने को उद्यत हुए।

मगर ऊपर जो कहा गया है, उसका अर्थ यह न समझा जाय कि धर्म पारलौकिक जीवन के लिए ही है। धर्म की उपयोगिता सिर्फ व्यक्ति—आत्मा के लिए ही नहीं, समाज की शान्ति और सुव्यवस्था के लिए भी है। धर्म के बिना जीवन में उच्च संस्कार नहीं आते और उच्च संस्कृति के अभाव में समाज का यथेष्ट विकास नहीं होता। अतएव भगवान् ऋषभदेव मुनि के रूप में दीक्षित होकर जहां आत्मा को विशुद्ध बनाना चाहते

थे, वहीं समाज के सामने एक महान् आदर्श भी उपस्थित करना चाहते थे।

भगवान् को दीक्षा लेने के लिए उद्यत देखकर देवराज इन्द्र आ पहुँचे। अन्य देवगण भी अयोध्या आये। चौंसठ इन्द्रों ने दीक्षा का महोत्सव मनाया। उस समय भगवान् के पारिवारिक जन वियोग से व्याकुल होकर आंसू बहाने लगे। समस्त प्रजा अतिशय दुखित हुई, क्योंकि भगवान् को सभी अपना आत्मीय ही समझते थे। भगवान् नगरी के वहिभाग में स्थित सिद्धार्थ उद्यान में पहुंचे। वहां पहुंच कर उन्होंने अशोक वृक्ष के नीचे समस्त वस्त्राभरण त्याग कर परम निर्ग्रन्थ-दीक्षा अंगीकार की।

दीक्षित होने के पश्चात् भगवान् ने विनीता नगरी से विहार कर दिया। विहार का यह दृश्य अतिशय करुणाजनक था। भरत ने चरणों में मस्तक टेक कर कहा—प्रभो ! शीघ्र दर्शन दें। दूर देशान्तर में विहार न करें।

वाहुवली बोले—नाथ, आपका स्नेह हमसे नहीं छूटता। आपके बिना यह नगरी सुहाती नहीं; जैसे काटने को दौड़ती है।

ब्रह्मी और सुन्दरी ने आंखों में आंसू भर कर कहा—प्रभो ! हम दोनों ने बाल ब्रह्मचारिणी रहने का निश्चय किया है। आप लौट कर कब आयेंगे? आपके बिना सर्वत्र सुनसान सा प्रतीत हो रहा है।

इसी प्रकार भगवान् के समस्त परिवार और नगर के प्रजाजनों ने भगवान् के समक्ष अपने अपने मनोभाव प्रकट किये। सब ने प्रभु के चरणों में नमस्कार किया।

उस समय भगवान् की भोली माता मरुदेवी ही ऐसी थीं जिन्होंने सब को सान्त्वना देते हुए कहा—सब लोग घबरा रहे

रहे हो ? मेरा लाल किसी काम से गांव जा रहा है, लौट आयेगा । आना-जाना तो लगा ही रहता है। इसमें चिन्ता करने की क्या बात है।

भद्रहृदया माताजी को भगवान् के जाने के असली मर्म का पता ही नहीं था। उन्हें कल्पना ही नहीं थी कि वे किस प्रकार जा रहे हैं-सदा के लिए पारिवारिक नाता तोड़ रहे हैं।

आखिर भगवान् चल दिये और अयोध्या के नर-नारी लुटे से वापिस लौटे।

भगवान् के साथ चार हजार दूसरों पुरुषों ने भी दीक्षा धारण की थी। वे भगवान् के साथ ही विचरण कर रहे थे। भगवान् ने मौन धारण कर लिया था। भगवान् की तपस्या अब पूरी हो गई तो वे पारणा के लिए बस्ती में पधारते ही लोगों के आनन्द और हर्ष की सीमा नहीं रहती थी । झुंड के झुंड नर-नारी एकत्र हो जाते और चरणों में मस्तक झुकाते थे। जिसके घर में भगवान् का पदार्पण हो जाता वह अपने धन्य और कृतार्थ को मानने लगता । सोचता-हमारे राजा, हमारे महाराजा, हमारे नाथ पधारे हैं। इन्हें क्या भेंट देनी चाहिए ?

भगवान् से पहले कोई साधु नहीं बना था । किसी ने भिक्षावृत्ति अंगीकार नहीं की थो। किसो को कल्पना ही नहीं होतो थी कि भगवान् को भोजन-पानो देना चाहिये ! जो सबके जीवन दाता हैं, महाराजा हैं, उन्हें भोजन-पानी जैसी तुच्छ चीज लेने को कहना असीम क्षुद्रता थी। अतएव यह बात किसी के मन में आती ही नहीं थी । उस समय के लोग साधु के आचार-विचार से सर्वथा अनभिज्ञ थे । अतएव भगवान् के पधारने पर कोई थाल भर कर हीरा-मोती देना चाहता था।

कोई कहता-नाथ, आप पैदल विचरण कर रहे हैं। मेरे पास उत्तम हाथी है, इसे स्वीकार कीजिये। और इस पर सवारी कीजिये कोई अपना उत्तम से उत्तम घोड़ा प्रभु को भेंट देने की इच्छा करता। कोई अपनी सुन्दर कन्या देने की भावना प्रकट करता था।

भगवान् लोगों के इस भोलेपन का विचार करके चुपचाप लौट जाते थे। समभाव से भूख-प्यास को सहन करते हुए, आत्म ध्यान में तल्लीन भगवान् को विचरते-विचरते काफी समय हो गया। वे अपने आचार पर अटल थे और लोग आहार देना जानते नहीं थे। तब क्षुधा पिपासा को शान्त भाव से सहन करने के सिवाय और चारा ही क्या था?

मगर भगवान् के साथी साधुओं का धैर्य जाता रहा। उन्होंने विचार किया-भगवान् सर्दी-गर्मी की परवाह नहीं करते कड़क आसन लगाकर बैठते हैं तो वैठे ही रह जाते हैं। न कुछ खाते हैं, न पानी पीते हैं। न किसी से वात करते हैं। इस प्रकार कैसे जीवित रहा जायेगा? भरत महाराज के पास जायें भी तो कैसे जायें? और भूखे-प्यासे रहें भी तो कब तक? इस प्रकार असह्य भूख-प्यास से पीड़ित होकर किसी ने कन्द-मूल खाना आरंभ कर, किसी ने पेट भरने का कोई दूसरा मार्ग खोज लिया। वे सब भगवान् की ही सेवा में रहते थे, उनके प्रति अखंड भक्तिभाव रखते थे, फिर भी इच्छानुसार खा-पी कर अपना जीवन-निर्वाह करने लगे। यही विकृति धीरे-धीरे नाना मतों और पंथों का कारण बन गई और उसी समय से संसार में नाना प्रकार के साधक बन गये।

❀ ❀ ❀

उस समय हस्तिनापुर के राजा, बाहुबली जी के पुत्र सोमप्रभ थे। सोमप्रभ के पुत्र का नाम श्रेयांस कुमार था।

श्रेयांस कुमार ने रात्रि में एक स्वप्न देखा कि उसने अपने हाथ से कल्पवृक्ष को अमृत पिलाया है ! स्वप्न देखकर कुमार जाग उठा। दिन में वह अपने महल के गवाक्ष में बैठा था कि अकस्मात् भगवान् पर उसकी दृष्टि पड़ी। श्रेयांस कुमार को लगा ऐसे साधु को मैंने पहले भी कभी देखा है ! ख्याल आते ही उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हुआ। कुमार ने जान लिया पूर्वभव में यह वज्रनाभ चक्रवर्ती थे और मैं इनका सारथी था। हम दोनों ने ही संयम धारण किया था। इस भव में ये हमारे दादा हैं और हमें तारने के हेतु आये हैं।

उसी समय कुमार ने नीचे आकर प्रभु के चरणों में नमस्कार किया और इक्षुरस से पारणा कराया। तब से लोगों को यह ज्ञान हुआ कि साधु को किस प्रकार आहार-दान दिया जाता है। बारह मास के पश्चात् भगवान् का पारणा वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन हुआ। इसी घटना ने इस दिन को 'अक्षय तृतीया' के नाम से महापर्व बना दिया !

दीर्घकाल तक भगवान् ऋषभदेव ने इसी प्रकार कठिन तपस्या और उग्र साधना करके समस्त आत्मिक विकारों को दूर कर दिया। एक बार विचरते-विचरते आप आयोध्या के उपनगर पुरिमताल में पधारे। वहाँ शकट नामक उद्यान में वटवृक्ष के नीचे ध्यान में लीन होकर विराजमान हुए। उसी समय चार घनघातिक कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त किया। भगवान् की साधना सफल हो गई। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग परमात्मा के पद पर पहुँचे।

इधर मरूदेवी माता अपने लाड़ले लाल के वियोग में अत्यन्त दुखी हो रही थीं। उठते-बैठते, खाते-पीते सदैव उन्हीं का स्मरण करती रहती थीं। कभी-कभी तो 'ऋषभ, मेरा

ऋषभ' कहतीं-कहतीं मूर्छित हो जाती थीं। वह हमेशा यही चिन्ता किया करती थीं कि वह मेरा लाल न जाने कहाँ चल दिया है! ढूंढने जाऊं तो कहां जाऊं? किससे उसका समाचार पूछूं? मेरा इकलौता बेटा था, वही मुझे छोड़कर न जाने कहाँ चल दिया? गया सो फिर लौटा नहीं! समाचार तक न भेजे! मैं नहीं जानती थी कि मेरा बेटा इस प्रकार बदल जाएगा! मगर वह तो एकदम ही निर्मोह हो गया! उसे अपनी माता पर तनिक भी प्रेम नहीं रहा। हाय, मैं क्या करूँ। क्या सोचती थी और क्या हो गया!

एक दिन माताजी इसी प्रकार के विचारों में डूबी अत्यन्त उदास बैठी थीं कि भरतजी उनके पास जा पहुँचे। दादीजी को चिन्तित और दुखी देखकर उन्होंने कहा दादीजी, आपके ऋषभदेवजी सरीखे पुत्र और भरत जैसे पोते हैं। इतना बड़ा विनीत परिवार है। फिर आप क्यों दुखी रहती हैं?

भरत के प्रश्न से माताजी का दुःख उमड़ पड़ा। नेत्रों में नीर आ गया। बोली आह, मेरा ऋषभ! मुझे यहीं छोड़-कर चला गया। वह न जाने कहाँ भटकता होगा। यहाँ सिर पर छत्र धारण करता था, वहाँ सूर्य की धूप में तपता होगा। यहाँ गजराज पर सवारी करता था, वहाँ पाँव पैदल भटकता होगा! यहाँ चँवर ढुलते थे, वहाँ मच्छर काटते होंगे! यहां उत्तम शाल-दुशाले ओढ़ता था, वहाँ उगाड़ा रह कर शीत की वेदना सहन करता होगा।

अन्त में माताजी ने कहा भरत, मेरे लिए यह असह्य है। मेरा सुख चाहते हो और मुझे प्रसन्न देखना चाहते हो तो मेरे ऋषभ की तलाश करो। उसके आने का समाचार मँगवाओ।

भरतजी ने आश्वासन देकर कहा दादीजी चिन्ता न करो भगवान् अब जल्दी ही आने वाले हैं। अधिक देरी नहीं लगेगी जल्दी हो तो मैं उनके आने का शुभ समाचार मँगवाता हूँ।

यह कह कर भरतजी राजसभा में आये ही थे कि दं पुरूषों ने आकर सूचना दी तीन लोक के नाथ, जगत् के पितामह प्रभु ऋषभदेव विनीता के उपवन में पधारे हैं।

भरतजी यह सुखद संवाद सुनकर हर्षित हो ही रहे थे कि दूसरे पुरूष ने आकर उन्हें आयुधशाला में 'चक्ररत्न' के प्रकट होने का समाचार सुनाया। उसी समय उन्हें पुत्ररत्न के उत्पन्न होने की बधाई भी मिली!

तीनों बधाईयाँ मिलने पर भरत महाराज ने सर्वप्रथम धार्मिक महोत्सव मनाना उचित समझा। उसी समय उन्होंने भगवान् की सेवा में जाने के लिए सवारियाँ तैयार करने का आदेश दिया। दादीजी के पास जाकर भगवान् के पदार्पण का समाचार कहा। इस समाचार को पाकर मरूदेवी माता को असीम प्रसन्नता हुई। वह भगवान् से मिलने के लिए अत्यन्त व्यग्र थीं ही; चटपट तैयार हो गई। भरत महाराज अपने विराट परिवार के साथ भगवान् को सेवा में उपस्थित हुए नगरी के निवासी भी अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति से सा वहाँ पहुँचे।

माता मरूदेवी अपने अतिशय लाड़ले लाल को देख कर वात्सल्य भाव से विह्वल हो उठीं। भगवान् को देख-देखकर उनके नेत्र तृप्त नहीं हो रहे थे। उन्हें पता नहीं था कि उनका लाला मोहनीय कर्म का समूल क्षय करके पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त कर चुका है। वे भगवान् ऋषभदेव को भगवान् के में नहीं, अपने प्यारे बेटे के रूप में ही देख रही थीं।

उन्होंने कहा—बेटा, जरा इस ओर देख, तेरी माता आ गई है। तेरे बिना मुझे सारा संसार निस्सार जान पड़ता है। तू इतने दिन कहां-कहां भटकता रहा ? न अपने कुशल समाचार दिये और न मेरे समाचार मंगवाये ! मेरी आंखों के तारे ! अब तक तूने कहां खाया-पीया ? कहां सोया-बैठा ? मैं तेरा स्मरण करते-करते परेशान हो गई।

माता के इस प्रकार कहने पर भी जव भगवान् ऋषभदेव मौन ही रहे तो माताजी की विचारधारा दूसरी दिशा में मुड़ गई। सोचने लगी मैं तो इतना प्यार प्रकट कर रही हूँ, इसके लिए तड़फ रही हूँ, प्रेम के दो वोल सुनने के लिए अधीर हो रही हूँ, परन्तु यह तो आंख उठा कर भो मेरी ओर नहीं देखता। इतने दिनों में एकदम बदल गया- वैरागी हो गया। मानो, हमारे साथ इसका कोई सम्वन्ध ही नहीं है। मैं इसकी कुछ नहीं हूँ।

मरूदेवी माता की विचार धारा अस्खलित गति से अग्रसर होती ही गई—अब मैं समझ गई। संसार झूठा है। संसार के सव नेह के नाते झूठे हैं। वास्तव में यहां कोई किसी का नहीं है। सव अकेले जन्म लेते हैं और मरते हैं। मेरे मोह को धिक्कार है। यह मोह ही दुःख का कारण है।

इस प्रकार वैराग्यमय विचारों की धारा जब और आगे बढ़ी तो वह शुक्ल ध्यान के रूप में परिणित हो गई। वह क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो कर दसवें गुणस्थान की स्थिति पर पहुंची। उनका मोह कर्म सर्वथा नष्ट हो गया और अन्तर्मुहूर्त्त में ही शेष तीन घातिया कर्म भी क्षीण हो गये। उसी समय चारों अघातिया कर्मों ने भी एक साथ छुट्टी ली और वे

अमर पद को प्राप्त हुई । इस काल में मरूदेवी माता ने सर्वप्रथम मुक्ति प्राप्त की ।

तत्पश्चात् पहली बार भगवान् ऋषभदेव ने समव में विराजमान होकर देवों तथा मनुष्यों आदि के विराट समूह को धर्मदेशना दी। इसी काल में इसी समय धर्मतीर्थ की प्रवृ हुई। भगवान् आदिनाथ ही प्रथम नृप, प्रथम मुनि, प्र केवली और प्रथम तीर्थंकर थे। इन्हीं महापुरुष की परम्परा आज भी चल रही हैं।

भगवान् आदिदेव की देशना श्रवण कर महाराज भर के पांच सौ पुत्रों ने तथा सात सौ पौत्रों ने उसी समय होकर मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली । कुमारी ब्राह्मी ने साध्वीव्रत अंगीकार कर लिए। भगवान् के ऋषभसेन चौरासी गणधर हुए। इस प्रकार विधिवत् तीर्थ की स्था हो गई। भगवान् ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में विचरण धर्मोपदेश देकर तत्कालीन मनुष्यों को नूतन चेतना प्रदा करने लगे । दीक्षा से लेकर एक लाख पूर्व तक भगवान् इ पृथ्वीतल को पावन करते रहे ।

आखिर अपना अन्तिम समय सन्निकट आया जान भगवान् अष्टापद पर्वत पर आरूढ़ हुए। वहां पादपोप संथारा करके अन्तिम समाधि में लीन हो गये। यह संवाद महाराज भरत को मिला तो उनके दुःख का पार न रहा। नेत्रों नीर की धारा वहने लगी। वे अपने अन्तःपुर के साथ पैदल अष्टापद की ओर चल पड़े। वहां जाकर उन्होंने भगवान् परम समाधी में लीन देखा। वे हतबुद्धि की तरह वहीं गये। थोड़ी देर पश्चात् भगवान ने मन, वचन, काय के यो का सर्वथा निरोध करके शुक्लध्यान के चौथे चरण में

कया और पांच ह्रस्व स्वरों का उच्चारण करने में जितना ाल लगता है, उतने काल में चार अघाति कर्मों का क्षय रके निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् आदिनाथ की यह संक्षिप्त जीवनी है। इससे पष्ट प्रकट है कि भगवान् का समग्र जीवन जगत् कल्याण के तु ही समर्पित रहा। गृस्थावस्था में रहे तो प्रजा को जीवन नर्वाह की शिक्षा देते रहे। त्यागी बने तो संसार को आत्म कल्याण का मंत्र सुनाया। वास्तव में भगवान् नाभिनन्दन गत् के आद्य गुरु हैं। संसार उनकी करुणा के लिए सदैव आभारी रहेगा। उन्हें भारत वर्ष का 'राष्ट्र-देव' कहना सर्वथा उचित है। जैन और वैदिक साहित्य समान रूप से उनके प्रति अपनी गहरी श्रद्धा एवं भक्ति व्यक्त करता है। अथर्ववेद में कहा गया है :—

अहोमुचं वृषभं यज्ञियानां, विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हु वेधिय इन्द्रियेण इन्द्रियं दन्तमोजः।
१६-४२-४

अर्थात्—सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अहिंसक व्रतियों के थम राजा, आदित्यस्वरूप श्री वृषभदेव का मैं आह्वान् करता हूँ। वे मुझे बुद्धि एवं इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।

एवं वभ्रो वृषभ चेकिस्तान यथा देव न हृणीषे न हंसि।
—ऋग्वेद, २-३३-१५

अर्थात्—हे शुद्ध दीप्तिमान् सर्वज्ञ वृषभ! हमारे ऊपर सी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों—अजर अमर होजाएँ।

नित्यानुभूतिनिजलाभनिवृत्त तृष्णः,
श्रेयस्य तद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।

लोकस्य यः करुणयाऽभयमात्मलोक-
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥

—भागवत् स्क० ५, अ० ६

अर्थात्—उन ऋषभदेव भगवान् को नमस्कार हो जिन्होंने अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करके तृष्णा को पूरी तरह हटा दिया है और संसार को करुणा करके धर्म का स्वरूप बतलाया है।

जैन साहित्य में तो भगवान् ऋषभदेव के बड़े-बड़े स्तवन और चरितग्रन्थ विद्यमान हैं। अतएव वहाँ से उद्धरण देने की आवश्यकता ही नहीं है। इस्लाम धर्म में जिस महापुरुष को 'आदम' कहकर स्मरण किया गया है, वे आदिनाथ ही हैं, ऐसा अनेक विद्वानों का अभिप्राय है, जो यथार्थ ही प्रतीत होता है।

卐

एवंता कुमार

एवंता कुमार ससार की एक विरल विभूति हैं, ऐसी विभूति जो कभी-कभी संसार में जन्म लेती हैं। ऐसे महापुरुष अपवाद रूप होते हैं जिन्होंने पूर्व भव में धर्म और तत्त्वज्ञान की विशेष आराधना की हो, वही वर्तमान जीवन में, एवंता कुमार के समान, अल्प वय में ही धर्म की शरण जा सकते हैं। उनके प्रारम्भिक जीवन की घटना ज्ञातव्य है।

एवंता कुमार राजा के लाड़ले बेटे थे। प्राचीन काल में राजकुमारों को अन्य बालकों के साथ मिलने-जुलने और खेलने-

दने की मनाई नहीं थी। अतएव वे गली में अन्य वालकों के
ाथ खेल रहे थे। अकस्मात् उधर होकर गौतम स्वामी भिक्षा
; लिए निकले। वे खेल के स्थल के पास होकर ही निकले तो
ौतम स्वामी पर एवन्ता कुमार की दृष्टि पड़ गई। एवन्ता
ुमार उन्हें देखकर सोचने लगे—इनका रूप कितना सुन्दर है।
ारीर देदीप्यमान है। चेहरे पर कितनी चमक है। मुख वड़ा
ी सौम्य है। ऐसे तेजस्वी पुरुष को किस चीज की कमी हो
कती है ? कमी नहीं है तो फिर यह इस तरह क्यों घूम रहे
?

मन में शंका उत्पन्न हुई तो सोच-विचार होने लगा।
ाखिर कुमार ने गौतम स्वामी से ही घर-घर घूमने का
ारण पूछना उचित समझा।

खेल की तरफ वालकों की स्वभावतः अभिरुचि होती
। वे खाना-पीना छोड़कर भी खेलना पसंद करते हैं। खेल
छोड़ देना उन्हें अत्यन्त अप्रिय मालूम होता है, किन्तु एवन्ता
ुमार गौतम स्वामी की ओर इतने अधिक आकृष्ट हुए कि
उन्होंने खेलना छोड़ दिया।

गौतम स्वामी महान् साधु थे। बड़े ही तेजस्वी थे।
उनके तेज को देखकर साधारण आदमी को उनसे कुछ पूछने
में झिझक होती, मगर एवन्ता कुमार क्षत्रिय के पुत्र थे। यद्यपि
अभी वालक ही थे, फिर भी उनकी आत्मा में भी तेज विद्यमान
ा। वह मन में उठी हुई शंका का निवारण करने के लिए
किसी से डरने वाले नहीं थे।

एवंता कुमार अपने साथियों को खेलता छोड़कर गौतम
स्वामी की तरफ उसी तरह खींचे जैसे लोहा चुम्बक की तरफ

खींचता है। उन्होंने खेल की परवाह नहीं की। गौतम स्वामी के समीप आकर मधुर स्वर में कहा—भगवन्, आप कौन हैं? किस प्रयोजन से घूम रहे हैं?

एवन्ता कुमार जैसे छोटे बालक का, भोलेपन से भरा, यह प्रश्न सुन कर न जाने उन्हें किस दृष्टि से देखा होगा!

मगर एवन्ता कुमार के प्रश्न के उत्तर में भगवान् गौतम ने कहा—वत्स, हम निर्ग्रन्थ श्रमण हैं। हम सचित्त आहार नहीं लेते। अपने निमित्त बनाया गया आहार नहीं लेते। अपने लिए खरीद कर दिया जाने वाला आहार भी नहीं लेते। किसी भी प्रकार का दूषित आहार हम नहीं लेते। हम स्वयं भोजन नहीं बनाते। जब आहार की आवश्यकता होती है तो भिक्षा करते हैं। कई घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेते हैं।

एवन्ता कुमार आखिर बालक ही तो ठहरे! उन्होंने कहा—आप बड़े तेजस्वी हैं। भाग्यवान् दिखाई देते हैं। आपके तेज के सामने देवों का तेज भी फीका नजर आता है। फिर भी आपको भिक्षा मांगनी पड़ती है? और वह भी घर-घर से! भगवन्, मेरे घर चलो। मैं आपको भिक्षा दूंगा।

इतना कह कर गौतम स्वामी के उत्तर की प्रतीक्षा न करके कुमार ने उनकी उंगली पकड़ ली।

गौतम स्वामी को एवन्ता कुमार द्वारा पकड़ी हुई उंगली छुड़ा लेनी चाहिए थी या नहीं? उंगली न छुड़ाने पर कदाचित् श्रावक लोग निन्दा करने लगते कि—भला यह भी साधु की कोई रीति है? मगर गौतम स्वामी इस तरह डरने वाले साधु नहीं थे। उस समय के श्रावक भी आज कल के श्रावकों से

भिन्न प्रकार के थे। एवन्ता कुमार की वीरता, धीरता और साहस देखकर गौतम स्वामी उनसे अपनी उंगली नहीं छुड़ा सके। कहावत है:—

होनहार विरवान के होत चीकने पांत।

उस होनहार बालक से गौतम स्वामी अपना हाथ न छुड़ा सके। गौतम स्वामी की उंगली पकड़े एवन्ता कुमार भिक्षा देने के लिए अपने घर की ओर ले चले। गौतम स्वामी बालक की भावुकता पर मुग्ध थे और उसकी अवज्ञा नहीं कर सके। वे बालक के साथ साथ खिंचे चले गये। किसी ने ठीक ही कहा है—

भक्त के वश में हैं भगवान्।

एवन्ता कुमार की माता श्रीदेवी अपने बच्चे की प्रतीक्षा कर रही थी। भोजन का समय हो जाने पर भी एवन्ता कुमार अब तक नहीं पहुंचे थे। वह सोच रही थीं—न जाने एवन्ता कौन-से खेल में लग गया कि भोजन की सुधि भी भूल गया।

आखिर एवन्ता कुमार गौतम स्वामी का हाथ पकड़े आया। उसे देखकर श्रीदेवी के हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—लाल, कब से तेरी राह देख रही हूँ। लेकिन तू अतिशय भाग्यवान् है जो खेल छोड़ कर इस तरन-तारन जहाज को ले आया! बड़े पुण्य के उदय से ऐसे महात्मा के दर्शन होते हैं। इनके चरण-कमलों से घर पावन हो जाता है। भाग्यशाली मनुष्य ही इनका सुयोग पा सकते हैं। आज तेरा खेलना भी सार्थक हो गया। खेलने न जाता तो यह भव-सागर का जहाज कहां मिलता? आज का दिन धन्य है कि इन तपस्वी महात्मा के चरण इस घर में पड़ गये।

एवन्ता कुमार गौतम स्वामी के तेज से प्रेरित होकर, अपने बाल सुलभ भोलेपन के कारण उन्हें अपने साथ ले गये थे। उन्हें कल्पना ही नहीं थी कि वे कोई महान् पुण्य-कार्य कर रहे हैं। उनकी माता ने जो कुछ कहा, उससे उन्हें अपने कार्य की महत्ता का खयाल आया। बालक के किसी कार्य से जब माता प्रसन्न होती है तो बालक की प्रसन्नता का पार नहीं रहता।

एवन्ता कुमार ने गौतम स्वामी से प्रार्थना की—भगवन्, यह आहार-पानी निर्दोष है। इसे ग्रहण कीजिए। यह कह कर उसने और साथ ही श्रीदेवी ने भी गौतम स्वामी को आहार-पानी दिया। गौतम स्वामी आहार लेकर लौटने लगे तो एवन्ता कुमार ने कहा—भगवन्, आप कहां रहते हैं?

गौतम स्वामी कुमार, हम अनगार हैं। हमारा कोई घर नहीं है। कहीं एक जगह टिक कर नहीं रहते। देश-देश में भ्रमण करते रहते हैं। मैं भगवान् महावीर का शिष्य हूँ और उनकी सेवा में ही रहता हूँ। इस समय भगवान् नगर के बाहर एक बगीचे में ठहरे हैं।

गौतम स्वामी का उत्तर सुनकर एवन्ता कुमार विस्मय में पड़ गया। वह सोचने लगा—मैं इन्हें देख कर ही आश्चर्य कर रहा था, पर ये भी शिष्य हैं। इनके भी गुरु हैं। शिष्य ऐसे हैं तो गुरु कैसे होंगे? उन्हें भी देखना चाहिए।

यह सोच कर कुमार ने कहा—भगवन्, मैं आपके साथ चल कर भगवान् महावीर स्वामी के दर्शन करना चाहता हूँ।

कुमार की भावना और उत्कंठा इतनी प्रबल थी कि न तो गौतम स्वामी ही मना कर सके और न उसकी माता श्रीदेवी

को ही इंकार करने का साहस हुआ। वरन् श्रीदेवी को यह सोचकर प्रसन्नता ही हुई कि बालक एवंता को गौतम स्वामी इतने प्रिय लगे।

जिस पुत्र को सन्त पुरूष प्यारे लगते हैं, जो पुत्र धर्म का प्रेमी होता है, और सदाचारी होता है, उसके माता-पिता अपना अहोभाग्य समझते हैं। कौन ऐसे माता-पिता है जो अपने पुत्र को महात्माओं का भक्त न देखना चाहते हो? श्रीदेवी समझदार महिला थीं। उन्हें एवन्ता कुमार की सद्-भावना देखकर सन्तोष और आनन्द हुआ। गौत्तम स्वामी चल पड़े और उनके पीछे-पीछे एवन्ता कुमार भी।

लारे-लारे चाल्यो बालक भेट्यो भाग सुभाग।
भगवंतारी वाणी सुनने मन आयो वैराग॥

एवन्ता कुमार गौत्तम स्वामी के साथ-साथ भगवान् महावीर के पास आये। भगवान् को देखकर एवन्ता कुमार की प्रसन्नता का पार न रहा। जैसे बहुत दिनों के प्यासे चातक को वर्षा की बूंद मिलने से आनन्द होता है, बहुत दिनों से बिछुड़ी माता को पाकर बालक के हर्ष की सीमा नहीं रहती, लम्बे समय तक परदेश में रहने वाले प्रवासी को लौट कर आने पर घर पर नज़र पड़ते ही प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार भगवान् को देखकर एवन्ता कुमार को असीम आनन्द हुआ। भगवान् के निकट पहुँचते ही उसने श्रद्धा और भक्ति के साथ भगवान् को प्रणाम किया।

भगवान् ने बालक को भव्य और सुबोध समझ कर तथा उसके भीतर छिपे हुए दिव्य प्रकाश को जानकर यथोचित उपदेश दिया। उपदेश सुनकर कुमार की अन्तरात्मा में ज्योति

प्रकट हो गई। उसने भगवान् से प्रार्थना की-प्रभो, मैं माता-पिता से आज्ञा लेकर आपके निकट दीक्षा लूँगा।

भगवान् ने कहा तुम्हें जिस प्रकार सुख उपजे, वैसा करो। किन्तु धर्म कार्यों में प्रमाद नहीं करना चाहिए। एवन्ता कुमार लौट कर घर पहुँचे। माता ने कहा बहुत देर लगाई बेटा, भोजन की भी सुधि न रही। कब से राह देख रही हूँ!

कुमार—मां, आज मैंने वह अमृत पिया है कि कुछ कह नहीं सकता उसका। वर्णन करना असंभव है। गौतम स्वामी के साथ-साथ मैं भगवान् महावीर के पास गया था। वहाँ जाकर भगवान् का उपदेश सुना। बड़ा रूचिकर हुआ। माँ, भगवान् के पास से हटने की इच्छा नहीं हो रही थी। ऐसा लगता था कि यहीं रह जाऊँ। मगर तुमसे पूछे बिना रह नहीं सकता था। इसी कारण आ गया हूँ। अगर तुम आज्ञा दे दो तो मैं भगवान् से दीक्षा ले लूँ और उनका शिष्य बनकर रहूँ।

तूं कांई जाणे साधपणा में बाल अवस्था थारी।
उत्तर दीधो ऐसो कुंवर जी, मात कहे बलिहारी॥

एवन्ता कुमार के मुँह से दीक्षा की बात सुनकर औरों की माता तो मोह-ममता के कारण रोई होंगी, पर एवन्ता की माता को हँसी आ गई। वह कहने लगी—भोले, तुझे क्या मालूम दीक्षा क्या है और कितना कष्ट सहन करके उसका पालन किया जाता है? अभी तेरा बचपन का खेल-कूद नहीं छूटा है। दूध के दांत तक नहीं गिरे हैं। फिर भी तू संयम लेने की बात कहता है! तू समझता होगा, दीक्षा भी कोई बच्चों का खेल है।

एवन्ता—माताजी, मैं उम्र से जितना छोटा हूँ, बुद्धि से उतना छोटा नहीं हूँ। मुझे मालूम है कि दीक्षा बच्चों का खेल नहीं है, पर यह भी मालूम है कि दीक्षा मनुष्य जीवन का सब से बड़ा महत्त्वपूर्ण और उपयोगी खेल है। इसके अतिरिक्त, मैं जिसे जानता हूँ उसे नहीं जानता और जिसे नहीं जानता उसे जानता हूँ।

एवन्ता कुमार का यह कथन आश्चर्य में डालने वाला है, किन्तु यही तो स्याद्वाद है। असंगत प्रतीत होने वाली बात को संगत बनाना ही स्याद्वाद का प्रयोजन है।

एवन्ता कुमार की माता ने यह अटपटा कथन सुनकर कहा—ऐसी क्या बात है बेटा, जिसे तू जानता हुआ भी नहीं जानता और नहीं जानता हुआ भी जानता है?

एवन्ता ने कहा—माताजी, मोह-ममता के जाल में फँसे हुए संसार के लोगों की आँखों पर पर्दा पड़ा हुआ है। मेरी आँखों पर भी पड़ा था, परन्तु वह आज भगवान् महावीर की कृपा से हट गया है। अब मुझे देवी प्रकाश दिखाई दे रहा है। माँ, यह कौन नहीं जानता कि संसार में जितने भी जीव जन्म हैं, वे सब मरेंगे? यह बात सभी जानते हैं और मैं भी जानता हूँ कि जिसने देह धारण की है, उसे देह का त्याग भी करना पड़ेगा। जिसका उदय हुआ है, वह अस्त भी होगा। जो फूला है वह कुम्हलाएगा। मैं यह जानता हूँ। पर यह नहीं जानता कि यह सब किस घड़ी और किस पल में होगा? इसी को कहते हैं जानते हुए भी न जानना। इसी आशय से मैंने वह बात कही थी।

एवन्ता कुमार की उक्ति में बड़ा रहस्य भरा हुआ है।

दुनिया का प्रत्येक मनुष्य मृत्यु की अनिवार्यता को जानता है मगर खेद है कि फिर भी वह मृत्यु को भूला हुआ है। मृत्यु को जो नहीं भूलेगा वह आत्मा के कल्याण में ढील कैसे करेगा? हिंसा, झूठ और चोरी जैसे पाप क्यों करेगा? लोग इन पापों में रचे-पचे रहते हैं, इसी से जान पड़ता है कि उन्हें मृत्यु का ज्ञान नहीं है। कहा है :—

या मनखां मोटी वात मरणो जाणणो।
मरणो-मरणो सारा केवे, मरे सभो नर-नारी रे।
मरवा पेली जो मर जावे तो बलिहारी रे॥
जीबा सूं सघलो जग राजी मरणो कोइय न चावे रे।
राजा रंक सभी ने सरखो तो पण आवे रे॥

जिसे मृत्यु का भय होगा, जो मरना जानते होंगे, वे बुरे काम नहीं करेंगे। शराब पीना, मांस खाना, परस्त्रीगमन करना, जुआ खेलना, चोरी करना, बेईमानी करना, विश्वासघात करना आदि मृत्यु को नहीं जानने के फल हैं। मृत्यु को जानने वाला इन पापों से बचने का अवश्य प्रयास करेगा।

एवन्ता कुमार को अल्पा आयु में ही धर्म की शिक्षा मिली थी। इसी कारण वह इतनी चमत्कार-पूर्ण बात कह सका। उसने कहा मां, तू मुझे छोटा कहती है, लेकिन क्या छोटे नहीं मरते? अगर छोटी आयु में भी मौत आ सकती है तो संसार में रहना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है?

माता समझ गई कि बालक को तत्वज्ञान हो गया है। जिसे तत्व का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह गृहस्थी में नहीं रहता। जिसकी आत्मा में ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है, जो संसार के असार स्वरूप को समझ लेता है, उसे विरक्ति हो

जाती है। वह संसार की संपदा को विपदा समझता है। संसार के आनन्द-विनोद और आमोद-प्रमोद उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते। बहुमूल्य हीरा उसे पत्थर के रूप में दिखाई देता है। उसे भोग रोग जान पड़ते हैं। वह समस्त पदार्थों को उनके वास्तविक रूप में देखने लगता है। ऐसे विरक्त पुरुषों को वासनाओं के बन्धनों में बंधे साधारण मनुष्यों की बुद्धि पर तरस आता है।

जैसे काला नाग भयंकर प्रतीत होता है और उसके पास कोई नहीं जाना चाहता उसी प्रकार ज्ञानो पुरुष विषय भोगों को भयंकर समझते हैं और उनके पास भी नहीं फटकना चाहते। जिसे ऐसा ज्ञान और वैराग्य हो जाता है, तो समझा-बुझा कर या आग्रह करके गृहस्थी के जंजाल में नहीं फंसाया जा सकता।

एवन्ता कुमार की माता इस बात को भलीभाँति समझती थो। उसे विश्वास हो गया कि बालक अब गृह संसार में नहीं रह सकता। अतएव उसने कहा—तुम्हारी यही इच्छा है तो कोई हानि नहीं, मगर एक बात मेरी मान लो। तुम चाहे एक दिन ही राज्य करना, मगर एक बार राज्य ग्रहण कर लो। फिर जैसी तुम्हारी इच्छा हो, करना।

माता की इस छोटी-सो मांग को टालना एवन्ता कुमार ने उचित नहीं समझा। वह मौन रह गये और मौन को स्वीकृति का लक्षण मान कर माता-पिता ने राज्याभिषेक की तैयारी आरंभ कर दी।

दूसरे दिन एवन्ता कुमार का धूमधाम के साथ राज्याभिषेक हुआ। वे सिहासन पर बैठे और राजा बन गये। राजा बन जाने के पश्चात् उनके माता-पिता ने कहा-वत्स,राजा

वन जाने में यह आनन्द है। इस आनन्द को छोड़ कर घर-घर भीख मांगना क्या उचित है ? पैदल बिना जूतियों के घूमना, सर्दी-गर्मी के कष्ट सहन करना, विदेशों में भ्रमण करते फिरना आसान नहीं है। तुम्हारे जैसे अल्पवयस्क और सुकुमार बालक के लिए संयम के कष्टों को सहन कर लेना तो और भी कठिन है। अतएव हमारी बात मानो। उम्र पकने दो। फिर साधु बन कर आत्मकल्याण करना अभी रुक जाओ।

एवन्ता कुमार की आत्मा में अलौकिक प्रकाश जगमगा उठा था। उसकी बुद्धि बहुत निर्मल और विचार शक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण हो गई थी। उसने माता-पिता से कहा—आपने मुझे राजा का पद प्रदान किया है, परन्तु मुनि का पद क्या छोटा है ? अगर आप मुनि का पद राजा के पद से बड़ा समझते हैं तो उस पद को छुड़ाने के लिए राजा के पद का प्रलोभन क्यों दे रहे हैं ? हाथ जोड़ेगा तो राजा ही मुनि के सामने हाथ जोड़ेगा मुनि किसी राजाधिराज को भी हाथ नहीं जोड़ता। औरों की बात जाने दीजिए, चक्रवर्ती और देवों का राजा इन्द्र भी मुनि के चरणों में मस्तक नमाते हैं।

माता-पिता को पूर्ण विश्वास हो गया कि अब हमारा कोई प्रयत्न कारगर नहीं हो सकता। बालक एवन्ता को कोई प्रलोभन संयमी बनने से नहीं रोक सकता। अतएव उन्होंने दीक्षा लेने की अनुमति दे दी। वे कुमार को भगवान् के पास ले गये और बोले—भगवन्, एवन्ता कुमार को अब गृहस्थी में रखना असंभव है। यह आपके चरणों की शरण ग्रहण करना चाहता है। इसे भव-सागर से पार उतारिए।

भगवान् सर्वज्ञ थे। भूत और भविष्य के ज्ञाता थे। सभी भाव उनके निर्मल ज्ञान में स्पष्ट रुप से झलकते थे। उन्होंने

वन्ता के भविष्य को जान लिया था। वह चरम शरीरी हैं— सी भव से निर्वाण प्राप्त करेंगे, यह उन्हें मालूम था। अत व भगवान् ने एवंता कुमार को दीक्षा देकर अपना शिष्य ना लिया।

मुनि बनकर एवन्ता कुमार ज्ञान-ध्यान सीखने लगे। यद्यपि नकी आत्मा बहुत उज्ज्वल थी, फिर भी आखिर तो बचपन ही हरा। एक दिन वे शौच के लिए दूसरे मुनियों के साथ जंगल ये। साथ के मुनि अलग अलग हो गये और एवन्ता मुनि केले रह गए। उनके पास से एक छोटा सा नाला बह रहा ा। उसमें पानी गहरा नहीं, छिछला था। उसे देखकर बाल- ुनि के मन में एक तरंग उठी। उन्होंने बहते पानी को रोकने ़ लिए आसपास की मिट्टी और रेत इकट्ठी करके पाल बांध ी। पाल बंधने से पानी रुक गया और कुछ गहरा हो गया। उसमें उन्होंने अपना छोटा पात्र डाला और उसे तैराने लगे। थोड़ी देर बाद जब साथ के मुनि आये तो उन्हें जल में पात्र ैराते देखकर नाराज़ हुए। बोले—तुम्हें इतना भी ज्ञान नहीं है कि मुनि सचित्त जल का स्पर्श नहीं करते! बचपन और ुनिपन दोनों साथ-साथ कैसे निभ सकते हैं?

आखिर एवन्ता कुमार के इस कार्य की सूचना भगवान् को दी। भगवान् ने शान्त और गंभीर स्वर में कहा—एवन्ता मुनि चरम शरीरी हैं। कोई इनको अवहेलना न करो। इन्होंने पानी में पात्र क्या तैराया है, संसार-सागर से अपनी आत्मा को पार कर लिया है।

भगवान् की वाणी अन्यथा कैसे हो सकती थी? बड़े होकर इन मुनिराज ने प्रबल तपस्या और उग्र संयम का

आचरण करके अपनी आत्मा को पूरी तरह निर्मल बना और अन्त में निर्वाण प्राप्त किया। वे अजर-अमर हो गये।

वास्तव में एवन्ता कुमार के समान ज्ञानी पुरूष विरले ही होते हैं। धन्य हैं ऐसे महापुरूष! उनका-प चरित भी हमारे लिए कल्याणकारी है।

卐

ऐरावत

जैसे मनुष्य-जाति में, प्राचीन काल में, चार प्रकार की सेना होती थी, उसी प्रकार देवलोक में भी चार प्रकार की सेना होती है। अन्तर है तो यही कि यहां हाथी, घोड़े आदि तिर्यंचगति के जीव हैं, रथ अजीव होता है। और मनुष्य (पैदल सैनिक) तो मनुष्य है ही! किन्तु देवलोक में देवगण ही हाथी घोड़ा आदि का रूप धारण करके सेना रूप बन जाते हैं।

ऐरावत इसी प्रकार का एक हाथी है। इन्द्र द्वारा की चतुर्विध सेवा में जो गजसेना है, ऐरावत उस सेना का अधिपति माना जाता है। इसी लिए उसे हस्ती-राजा कहते हैं। स्थानांगसूत्र में कहा है :—

एरावणे हत्थिराया कुंजराणीयाहिवई।

अर्थात् गजराज ऐरावत कुंजरसेना का अधिपति है।

हाथियों में कई जातियाँ होती है। उन सब में ऐरावत हाथी सब में श्रेष्ठ माना गया है। कहा भी है :—

हत्थीसु एरावणमाहुणायं।

भगवान् महावीर की स्तुति-प्रसंग में कहा है कि जैसे [स]मस्त हाथियों में ऐरावत उत्तम है, उसी प्रकार भगवान् सब [म]हापुरुषों में उत्तम हैं।

इंद्र महाराज जब तीर्थङ्कर भगवान् के जन्मोत्सव को [म]नाने के लिए आते हैं तो ऐरावत पर सवार होकर आते हैं [औ]र भगवान् को उसी पर विराजमान करके सुमेरु पर्वत पर [अ]भिषेक के लिए ले जाते हैं। जैन कवि रूपचंदजी ने ऐरावत [ह]ाथी का, जिनदेव के जन्मोत्सव के समय का वर्णन करते हुए [लि]खा है :—

जोजन लाख गयंद बदन सौ निरभये,
वदन वदन वसु दंत, दंत सर संठये।
सर सर सौ पनवीस कमलिनी छाजहीं,
कमलिनि कमलिनि कमल पचीस विराजहीं।

राजहीं कमलिनि कमलऽठोत्तर सौ मनोहर दल बने,
दल दलहिं अपछर नरहिं नव रस हावभाव सुहावने।
मणि कनक-कंकण वर विचित्र सु अमरमंडप सोहये,
घन घंट चमर ध्वजा पताका, देखि त्रिभुवन मोहये॥

जिन-जन्माभिषेक के अवसर पर जिस ऐरावत पर आरूढ़ होकर इन्द्र आते हैं, उसका शरीर एक लाख योजन का होता है। उसके सौ मुख होते हैं। प्रत्येक मुख के अगल-बगल में आठ-आठ दांत होते हैं। वे दांत भी एक लाख योजन शरीर-परिमाण के अनुसार बहुत विशाल होते हैं। इतने विशाल कि उन पर सरोवर बने रहते हैं। प्रत्येक सरोवर में सवा सौ-सवा सौ कमलिनियां होती हैं। प्रत्येक कमलिनी में पच्चीस-पच्चीस कमल होते हैं। प्रत्येक कमल में एक सौ आठ पत्ते होते हैं। उन

सब पत्तों पर अप्सराएँ नवरसमय और विविध प्रकार के हा. भाव दिखलाती हुई मनोहर नृत्य करती हैं। हाथी ...र जादि स्वर्ण के आभूषणों से सुशोभित होता है। घंटा, ध्वजा, ता... और चँवर आदि से सुसज्जित होता है। उसे देखकर ... लोकों के प्राणियों का मन मुग्ध हो जाता है।

ऐरावत के इस वर्णन में असंभव जैसी कोई चीज नहीं है, क्योंकि विक्रिया लब्धि के द्वारा इस प्रकार की रचना की जा सकती है।

धन्य है वह गजराज जिसे अपने ऊपर भगवान् को आरूढ़ करने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

卐

ओं (ॐ)

समस्त आर्य जाति में ॐ शब्द की महत्ता स्वीकार की गई है। वैदिक धर्म की किसी भी शाखा को ले लीजिए, चाहे जैन धर्म की दृष्टि से देखिए, ॐ एक अत्यन्त ही पवित्र शब्द माना गया है। इस ॐकार में विभिन्न मतों के अनुसार उनके इष्ट देवों का समावेश हो जाता है।

वैदिक धर्म के अनुसार ॐ में ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों प्रधान देवों का समावेश इस प्रकार होता है—ब्रह्मा का वाचक 'अ', विष्णु का वाचक 'उ' और महादेव का वाचक 'म्' इन तीनों अक्षरों को मिलाने से 'ओं' बनता है, और 'म्' की जगह अनुस्वार होता है।

जैन धर्म के अनुसार 'ओं' में पांचों परमेष्ठियों का अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु का समावेष

होता है। वह इस प्रकार अरिहन्त का 'अ' अशरीर (सिद्ध) का 'अ' और आचार्य का 'आ' ये तीनों मिल कर 'आ' बनते हैं। उनमें उपाध्याय का पहला अक्षर 'उ' मिलाने से 'ओ' होता है और फिर मुनि का आद्य अक्षर 'म्' मिला देने से 'ओं' रूप बन जाता है।

इस कथन से सहज ही समझा जा सकता है कि भारत-वर्ष में ॐ का महत्त्व कितना अधिक है! वास्तव में यह एक अत्यन्त पवित्र शब्द है।

विभिन्न आराध्य देवों का समावेश होने के कारण ॐ एकाक्षरी पवित्र मन्त्र भी माना गया है। योगी जन इस मंत्र का ध्यान करके अपने आपको कृतार्थ बनाते हैं। श्री हेमचन्द्रा-चार्य अपने योगशास्त्र में ॐ का ध्यान करने की विधि बतलाते हुए कहते हैं:—

तथा हृत्पद्ममध्यस्थं, शब्दब्रह्मैककारणम्।
स्वरव्यंजनसंवीतं, वाचकं परमेष्ठिनः।
मूर्द्ध संस्थिकशीतांशुकलामृतरसप्लुतम्।
कुम्भकेन महामंत्रं, प्रणवं परिचिन्तयेत्॥

—योगशास्त्र, ८, ३०-३१

अर्थात्-हृदय रूपी कमल में स्थित, समग्र शब्दब्रह्म की उत्पत्ति के स्थान, स्वर और व्यंजन से युक्त, पंच परमेष्ठी के वाचक, तथा मस्तक में चन्द्रमा की कलाओं से झरने वाले अमृत-रस से भींगते हुए महामंत्र प्रणव अर्थात् ॐकार का श्वासोच्छ्वास को रोक कर चिन्तन करना चाहिए।

यही नहीं, योगशास्त्र में यह भी कहा है:—

पीतं स्तंभेऽरुणं वश्ये, क्षोभणे विद्रुमप्रभम्
कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत्, कर्मघाते शशिप्रभम्॥

अर्थात्-स्तंभन करने में पीले वर्ण के ॐकार का, वशी-

करण करने के लिए लाल, क्षोभ पहुंचाने के लिए मूंगे के व
के, विद्वेषणकर्म में काले और कर्मों का नाश करने में चन्द्र
की कान्ति के समान उज्ज्वल वर्ण के ॐकार का ध्यान कर
चाहिए।

स्पष्ट है कि ॐकार एक पवित्र महामंत्र है और शु
भाव से उसका ध्यान करने से आत्मा में निर्मलता और प
त्रता आती है। उसकी महिमा बतलाते हुए एक आचा
कहते हैं:—

ओंकारं विन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदञ्चैव, ओंकाराय नमो नमः॥

अर्थात्—योगी जन नित्य ही अपने अन्तःकरण में विन्
सहित ॐकार का ध्यान करते हैं। यह ॐकार समस्त काम
नाओं की सिद्धि करने वाला है और मुक्ति भी देने वाला है।
अर्थात् इसका ध्यान करने से लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार
की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। ऐसे परम पावन ॐकार को मेरा
बार-बार नमस्कार हो!

योगशास्त्र में ध्यान करने के लिए जो अनेक पवित्र मंत्र
बतलाये गये हैं, उन सब में ॐकार ही सब से छोटा मंत्र है।
अतएव साधक जनों का कर्त्तव्य है कि वे इसका ध्यान करके
शुद्धि प्राप्त करें।

कई विद्वानों की मान्यता है कि 'ॐ' अक्षर का भारत-
वर्ष से बाहर भी अनेक देशों में प्रचार हुआ है, पर उसके रूप
बदल गये हैं। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि ॐकार की
महिमा बहुत अधिक है और उसका चिन्तन करने से अनेक
भला होते हैं।

औरत

ध्यान से चित्र की ओर देखिये। आपको इस चित्र में क औरत दिखाई देगी। उसके मुख पर मुखवस्तिका बँधी ई है। वह दोनों हाथ जोड़ कर भगवान् जिनेन्द्र की प्रार्थना र रही है। उसके नीचे आसन बिछा है और सामने रेत-घड़ी रखी है यह सब देखने से मालूम होता है कि वह सामयिक र रही है।

प्राचीन काल में घड़ियों का ज्यादा प्रचार नहीं था। ाजकल घड़ियों का बहुत प्रचार हो गया है, फिर भी अनेक द्ध औरतें ऐसी हैं जो घड़ी देखना नहीं जानतीं। उनके लिए ह घड़ी बड़ी उपयोगी है। इससे वे सामयिक पूर्ण होने का मय आ गया है या नहीं, यह बात अत्यन्त सरलता से समझ ेती हैं।

सामयिक का समय ४८ मिनिट का आचार्यों ने निर्धारित किया है। इसी समय के अनुसार सामयिक करनी चाहिए।

जिस क्रिया से समभाव की प्राप्ति हो, अर्थात् अन्तरंग में जलने वाली कषायों की आग शान्त हो और चित्त में प्रशम भाव एवं निराकुलता उत्पन्न हो, उसे सामायिक कहते हैं। कषाय ही समस्त दुःखों की जड़ है। जितने अंश में उसकी कमी होती है, उतने ही अंश में आत्मिक शान्ति बढ़ती है। कषायों का नाश करने का सर्वोत्तम मार्ग समभाव को जगाना है। अतएव प्रत्येक विचारशील नर-नारी को प्रतिदिन सामायिक अवश्य करनी चाहिए।

अंजना

अंजना महेन्द्रपुर के राजा महेन्द्र की दुलारी सुक
थी। उसमें सौन्दर्य के साथ सद्गुणों का भी समन्वय हुआ था
उसका चेहरा इतना सौम्य और भव्य था और उस पर इत
सात्विकता झलकती थी कि विकारमय दृष्टि वालों को भी
निर्विकार बना देती थी। अतएव उसका 'अंजना' ना
सार्थक ही था।

विवाह के योग्य उम्र होने पर राजकुमार पवन
साथ अंजना की सगाई हो गई। उस समय पवन ने विच
किया जिस के साथ सारा जीवन बिताना है, जिसे अपना स
का साथी बनाना है, उसे एक बार देख तो लेना चाहि
उसने अपना विचार अपने मित्र प्रहस्त को बतलाया। प्रह
ने कहा—अंजना कुमारी की प्रशंसा सर्वत्र सुनाई देती है,
भी देख लेने में क्या हानि है।

पवन कुमार विद्याधर थे। उनके पास आकाशगा
विमान था। उस पर सवार होकर दोनों एक दिन महेन्द्र
आ पहुँचे। वहां वे एक बगीचे में गये थे कि संयोगवश अंज
भी अपनी सखियों के साथ वहीं जा पहुंची। अंजना
सखियों ने उसकी सगाई की चर्चा छेड़ दी। एक ने पवन कु
की प्रशंसा करते हुए उनके साथ सगाई होने के उपलक्ष
बधाई दी। दूसरी सखी कहने लगी—पवन कुमार से
विद्युत्पर्व ही अच्छा था। पवन कुमार उसकी बराबरी
कर सकते।

तीसरी सखी—विद्युत्पर्व अल्पायु है। उसके साथ हम
सखी का विवाह कैसे हो सकता है?

दूसरी—अल्पायु होकर भी वह मोक्षगामी है। मोक्ष-गामी की विधवा होना क्या कम सौभाग्य की बात है?

अंजना अपने भावी जीवन के सम्बन्ध में विचार कर रही थी। उसने सखियों के वार्त्तालाप में न कोई भाग लिया और न उस पर ध्यान दिया।

पवन कुमार ने यह सब बातचीत सुन ली। पर पुरुष ी प्रशंसा और जिसके साथ सगाई हो चुकी है, उसकी निन्दा र कर भी अंजना चुप रही, उसने प्रतिवाद नहीं किया, इस ार से पवन कुमार उत्तेजित हो उठा। वह आपे से बाहर चाहता था कि प्रहस्त ने समझा-बुझाकर उसे शान्त कर । फिर भी पवन ने निश्चय कर लिया कि विवाह हो ान के बाद जब अंजना मेरी हो जायगी, तब उससे भरपूर बदला लूँगा।

× × × ×

विवाह के पश्चात् अंजना पति के घर आई उसके श्वसुर राजा प्रह्लाद ने अंजना के लिए अलग महल बनवा दिया था। अंजना उसी में उतरी, पर पवन कुमार ने उस महल में पैर भी न रक्खा। दिन पर दिन और मास पर मास व्यतीत होने लगे, अंजना यह भी न समझ सकी कि पति की अप्रसन्नता का क्या कारण है? उसने खूब सोच-विचार किया, पर कोई अपराध दिखाई न दिया। आखिर उसने यही निश्चय किया मैंने पहले जन्म में कोई अपराध किया होगा, उसी का फल भुगतना पड़ रहा है। यह सोच कर अंजना अपने पति के प्रति तनिक भी दुर्भाव न रखती हुई धैर्य और शान्ति के साथ काल यापन करने लगी।

अंजना की एक सखी वसन्तमाला पिता के घर से साथ आई थी। पवन कुमार का व्यवहार उसे अन्यायपूर्ण प्रतीत हो रहा था। अंजना को उदास देखकर वह भी बहुत दुखी होती पर उसका कुछ वश नहीं चलता था। एक दिन उसने कहा-सखी, तुम निरपराध हो, फिर भी कुमार अप्रसन्न हैं। यह पुरुषों का घोर अन्याय है। इसका फल उनके हक में अच्छा न होगा।

अंजना-बहिन, ऐसा न कहो। मैं पति के अनिष्ट की कल्पना भी नहीं कर सकती। उनका अनिष्ट मेरा ही अनिष्ट है। मैं अपने ही किसी कर्म का फल भोग रही हूँ। दूसरे को दोष देना वृथा है।

अंजना के महल में एक ऐसी खिड़की थी, जिसके द्वारा पवन कुमार के महल की खिड़की में से उन्हें देखा जा सकता था। अंजना प्रतिदिन उसी खिड़की से पति के दर्शन कर लेती थी। एक दिन पवन को यह बात मालूम हुई तो उसने वह खिड़की भी बंद करवा दी ! इस पर भी अंजना ने अपना धैर्य नहीं गँवाया और न अन्तःकरण में कोई दुर्भाव उत्पन्न होने दिया।

एक बार राजकुमार पवन एक युद्ध में जाने को तैयार हुए। बसन्त माला ने यह समाचार अंजना को सुनाया और इस अवसर पर उन्हें एक पत्र लिख भेजने का भी आग्रह किया। अंजना ने कहा—पतिदेव मेरे अन्तःकरण में विद्यमान हैं। अगर साक्षात् मिलन नहीं होता तो भी क्या हानि है ? मेरे पापकर्म का अन्त जब आएगा तो सब ठीक हो जायगा फिर भी जब बसन्तमाला न मानी तो अंजना ने पवन को एक पत्र लिखा। उस पत्र का आशय यह था कि आप पिताजी पर आप

बोझ को अपने कंधों पर लेकर युद्ध करने जा रहे हैं, यह उचित ही है। मेरे लिए भी यह गौरव की बात है। मैं आपके चरणों में शतशः प्रणाम करती हूँ और आपकी विजय की कामना करती हूँ। आप मुझे भूल न जाएं, बस यही प्रार्थना है।

अंजना से सरल भाव से यह पत्र लिखा और वसन्तमाला ने जाकर उसे कुमार के हाथों में थमा दिया उन्होंने उसे खोला और ज्यों ही अंजना का नाम दिखाई दिया त्यों ही उसे बिना पढ़े फाड़कर फेंक दिया। उसने लाल पीली आंखें करके कहा—मैं जिसका नाम भी नहीं सुनना चाहता, उसका पत्र इस समय लाने की क्या आवश्यकता थी ?

अंजना के पत्र की यह अवहेलना अंजना की ही घोर अवहेलना थी। बसन्तमाला रोती-रोती अंजना के पास पहुँची। उसने सब हाल कह कर कुमार के विरुद्ध भी कुछ बातें कहीं। सब कुछ सुनकर अंजना के हृदय को गहरा धक्का तो अवश्य लगा, मगर वह शांत ही रही। उसने कहा मैं लिखना ही नहीं चाहती थी, पर तू मानी नहीं। मगर यह तो विदित हो गया कि राजकुमार सत्यप्रिय हैं। कपटी नहीं हैं जो भीतर वही बाहर है। यह कम आनन्द की बात नहीं।

इधर अंजना बसन्तमाला को समझा-बुझा रही थी, उधर पवनकुमार के युद्ध प्रस्थान की घोषणा करने वाले बाजे बजने लगे। अंजना ने बाजों का निर्घोष सुनकर कहा—राजकुमार प्रस्थान कर रहे हैं, इस समय उनके दर्शन कर लेने चाहिए और शुभ शकुन भी बताना चाहिए। बसन्तमाला पत्र से क्षुब्ध थी। जानती थी कि राजकुमार के हृदय में अंजना के लिए तिल भर भी स्थान नहीं है। अतएव उसने अंजना को चुपचाप बैठी रहने का परामर्श दिया। मगर सती का पवित्र हृदय न

माना। युद्ध के लिए प्रयाण करते पति के दर्शन करने की उत्कंठा को वह रोक न सकी। उन के लिये मंगल-आचरण किये बिना उससे न रहा गया। अतएव वह शुद्ध और स्वच्छ वस्त्र धारण करके और हाथ में दही का कटोरा लेकर ऐसी जगह खड़ी होगई जहां से पवनकुमार निकलने वाले थे।

पवनकुमार उसी रास्ते से चले। जब वह निकट आये और उन्होंने देखा कि यह अंजना है तो उनके क्रोध का पार न रहा। क्रोध के आवेश में विवेकवान् पुरुष भी विवेकहीन हो जाता है। वह अधम से अधम काम भी कर गुज़रता है। पवनकुमार ने दही के कटोरे के एक लात लगाई। दही ज़मीन पर जा गिरा। इस प्रकार सती अंजना का तिरस्कार करके राजकुमार आगे बढ़ गये।

तिरस्कृत अंजना भावनाओं के तूफान में उड़ती-उड़ती अपने महल में आई। उसने बसन्तमाला से कहा—बहिन, मेरे पाप-कर्म बड़े प्रबल हैं। मैं किसी उपाय से पतिदेव को सन्तुष्ट नहीं कर सकी। अब एक नया उपाय करना चाहती हूँ। अनशन व्रत धारण करके मैं अपनी आत्मा को शुद्धि करने का विचार कर रही हूँ।

वसन्तमाला—सखी, युद्ध के लिए जाते समय तो शत्रु के साथ भी अच्छा व्यवहार किया जाता है। तुम शकुन बताने गई और उन्होंने अपमान किया। मेरी समझ में राजकुमार ने अपना ही अपशकुन किया है।

अंजना—सखी, पति के अहित की बात न कह। मेरा रोम-रोम सदा उनका हित चाहता है। उन्होंने जो अपमान किया, वह मेरा नहीं, कर्म का अपमान है। दुष्कर्म का अन्त धैर्य धारण करने से ही हो सकता है, दूसरे का अहित चाहने

से नहीं। मेरी तो यही कामना है कि पतिदेव विजयी हों, उनका कल्याण हो और मेरा दिखाया शुभ शकुन सफल हो। इस प्रकार कह कर सती अंजना ने तपस्या अंगीकार करने का विचार कर लिया।

卐 卐 卐 卐

इधर सती अंजना जब पति के हित का चिन्तन कर रही थी, तब उधर राजकुमार पवन मानसरोवर पर पड़ाव डालकर अपने तम्बू में सो रहे थे। अचानक एक चकवी का का करुण विलाप उनके कानों में पड़ा और निद्रा भंग हो गई। राजकुमार पवन सोचने लगे—मैं समझता था कि स्त्री-जाति में निष्ठुरता ही होती है, परन्तु देखता हूं, पक्षियों की स्त्रीजाति में भी पुरुष के प्रति ऐसा ज्वलंत प्रेम है तो फिर विवेकशील मानव समाज की स्त्रीजाति में कितना प्रेम न होगा!

कुमार ने उसी समय अपने मित्र प्रहस्त को बुला कर कहा—मित्र, अचानक मेरी नींद उचट गई है। आज हृदय में कुछ नये से विचार उत्पन्न हो रहे हैं।

प्रहस्त—वास्तव में आपने बड़ा ही अनुचित कार्य किया है। नींद आये तो कैसे?

कुमार—क्या अनुचित किया है मैंने?

प्रहस्त—सती अंजना आपको शकुन बताने आई और आपने सबके सामने उसका घोर अपमान किया!

पवन—तुम नहीं जानते, स्त्रियां कितनी क्रूर होती हैं!

प्रहस्त—जी हाँ, और पुरुष अत्यन्त दयालु! तभी तो अंजना जैसी पतिव्रता पर आपकी अपार करुणा है! वह चाहती तो अपने पिता के घर जा सकती थी, पर आपके प्रति प्रेम होने से ही बेचारी को लांछना भोगनी पड़ी है।

पवन—तुम भूल गये प्रहस्त, अंजना ने मेरी निन्दा सुन कर भी मौन साध रक्खा था !

प्रहस्त—इतनी-सी साधारण घटना को आपने क्यों इतना तूल दे रक्खा है ? अंजना धर्म को पहचानती है। विद्युतपर्व के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह अठारह वर्ष की उम्र में दीक्षा लेकर छब्बीस वर्ष में मुक्ति लाभ करेंगे। ऐसी स्थिति में एक चरमशरीरी की प्रशंसा के विरोध में वह क्या कह सकती थी ? वह आपको न चाहती होती तो आपके यहां रह कर क्यों इतना अपमान, तिरस्कार और मानसिक कष्ट भोगती ? आपको अंजना के विषय में जो भ्रम है, वह सर्वथा निराधार है। वह पतिव्रता सती है।

प्रहस्त की बातों से पवन कुमार का भ्रम दूर हो गया। हृदय की कठोरता कोमलता के रूप में परिणत हो गई। वह सोचने लगे—यदि अंजना के अन्तःकरण मेरे प्रति प्रेम होगा तो वह भी इस चकवी की तरह बिलख रही होगी। अभी तक वह भावी सुख की आशा पर जीवित रही है, परन्तु आते समय मैंने उसका जो तिरस्कार कर दिया है, उसके बाद वह किस आशा पर जीवित रह सकेगी ? लौट कर जाऊँ और उसे सान्त्वना दे आऊँ ? परन्तु पिताजी और दूसरे लोग क्या कहेंगे ? युद्ध में जाते-जाते औरत के मोह में पड़ गया ! नहीं जाता हूं तो संभव है, अंजना प्राण खो बैठे।

आखिर पवन कुमार ने अपनी दुविधा प्रहस्त के सामने रख दी। प्रहस्त ने कहा—हम लोग रातों-रात जाकर वापिस लौट सकते हैं। किसी को पता ही नहीं लगेगा कि आप कहां गये हैं ? सुबह होते-होते यहां आ पहुँचेंगे । आपके मिलन से

जना देवी को सन्तोष भी होगा और बदनामी भी नहीं होगी। मान से चलें और लौट आयें।

अंजना के अन्तःकरण में कभी पल भर के लिए भी ति के प्रति दुर्भावना उत्पन्न नहीं हुई थी। धर्म और उसकी विचल और अखण्ड आस्था थी। संसार में धर्म की शक्ति पूर्व और अजेय है उसमें अद्भुत आकर्षण शक्ति होती है। वन कुमार को अंजना के प्रति आकर्षित करने में धर्म की दृश्य शक्ति काम कर रही थी।

आखिर पवन और प्रहस्त—दोनों विमान पर आरूढ़ होकर चल पड़े और अंजना के महल में जा पहुँचे। प्रहस्त ने राजकुमार से कहा—ठहर जाइए और भीतर जो बातें हो रही हैं, उन्हें सुन लीजिए। उस समय अंजना और बसन्तमाला में वार्त्तालाप हो रहा था।

बसन्तमाला कह रही थी—सखी, राजकुमार ने जो अपमान किया है, उसे देखते भविष्य में क्या आशा की जा सकती है?

अंजना—मुझे पतिदेव के काम को नहीं देखना है, अपने धर्म का पालन करना है। पति ने मेरा अपमान किया है तो मैं अपने चित्त में क्यों दुर्भाव उत्पन्न होने दूँ? अपमान का बदला अपमान से नहीं प्रेम करके लेना उचित है। यही दूसरे को हृदय को जीतने का सरल मार्ग है। मैं मोह-वासना को जीतकर अपने जीवन का उत्थान करूँगी। पतिदेव ने रूष्ट होकर मुझे अपना जीवन का सुधार करने का अवकाश दिया है। उन्होंने मेरा बड़ा उपकार किया है।

अंजना के हृदय के उद्गार सुनकर पवन कुमार चकित रह गए। कहने लगे—कैसी दृढ़ और विशुद्ध भावना है।

प्रहस्त—अब तो विश्वास हो गया !

प्रहस्त ने आवाज लगा कर कहा—द्वार खोलिए।

इतनी रात्रि गये पुरूष को आवाज सुनकर अंजना कहने लगी—कोन है यह दुष्ट जो द्वार खोलने के लिए कहता है? राजकुमार को अनुपस्थित समझ कर किसने यहाँ आने का साहस किया है ?

अंजना सती के यह अप्रिय शब्द भी पवन कुमार को अत्यन्त प्रिय लगे। प्रहस्त ने कहा—आप सन्देह न कीजिए। राजकुमार पवन आपसे मिलने के लिए द्वार पर खड़े प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं उनका मित्र प्रहस्त हूँ।

अंजना सहसा विश्वास न कर सकी। उसने कहा—आप ठीक कहते होंगे, किन्तु खातरी किये बिना मैं द्वार नहीं खोल सकती।

इतना कहकर अंजना ने एक छोटी-सी खिड़की में से देखा तो पतिदेव उपस्थित थे !

इस प्रकार खातरी करके अंजना ने द्वार खोल दिये कुमार ने भीतर प्रवेश किया तो अंजना ने नमन करके कहा—आपका अनुग्रह पाकर आज मैं भाग्यशालिनी हुई। आप दयालु हैं, मैं अपराधिनी हूँ। मेरा अपराध क्षमा कीजिए। ज्ञात या अज्ञात रूप में मैं आपके कष्ट का कारण बनी हूँ -

वास्तव में अंजना का कोई अपराध नहीं था। अपराध तो पवन कुमार का ही था। फिर भी अंजना ने अपना अपराध माना और क्षमायाचना की। इससे उन लोगों को शिक्षा लेनी चाहिये जो स्वयं अपराधी होते हुए भी अपने को निर्दोष समझते हैं और दूसरों के दोष देखा करते हैं। वास्तव में दूसरों के दो

बदले अपने दोष देखने की आदत डाली जाय तो बहुत से गड़े सहज ही मिट जायें।

अंजना की यह बात सुनकर पवन कुमार ने कहा— पराध तुम्हारा है या हमारा ?

अंजना—मेरी माता ने मुझे अपना ही अपराध मानने ा शिक्षा दी है। उन्होंने पतिदेव की सेवा का यही मंत्र खलाया है।

पवन—प्रिये, तुम्हारी भावना पवित्र और प्रशंसनीय है। अभी तक तुम्हें पहचान नहीं सका था। चकवी की प्रेरणा से हचान सका। आज मेरे जीवन में बड़े ही आनन्द का वसर है।

इस प्रकार दो बिछुड़े हृदय परस्पर प्रीति के साथ मिले। वन कुमार ने वह रात्रि अंजना के महल में ही व्यतीत की।

प्रभात होने में थोड़ा ही समय शेष रहा था कि प्रहस्त आवाज़ देकर कहा—मित्र, रात्रि थोड़ी रह गई है। चलना ाहिये। हमें अपने ध्येय को भूल नहीं जाना है।

पवन जाने के लिए तैयार हुए तो अंजना ने हाथ ोड़कर कहा—आज के समागम के फलस्वरूप गर्भ रह गया ो वह आपका ही है, इस बात का साक्षी कौन देगा ? आप ाक्षी दिये बिना चले जायेंगे तो संभव है कोई नया संकट पस्थित हो जाय।

पवन—तुम्हारा कहना यथार्थ है। लेकिन यहां आने की टना अगर मैं प्रकट कर दूंगा तो लोग मेरी निन्दा करेंगे। ाक्षी नहीं देता तो तुम संकट में पड़ सकती हो। अच्छा तो साक्षी के रूप में अपनी अंगूठी देता हूँ। आवश्यकता पड़ने र इसे काम में लाना।

अंजना गर्भवती हुई लोगों में काना फूसी होने लगी-राज कुमार ने अंजना का परित्याग कर दिया है फिर वह गर्भवती कैसे हो गई ? यह काना फूसी धीरे-धीरे अंजना की सास केतुमती के कानों तक जा पहुँची। प्रथम तो केतुमती को विश्वास न हुआ, मगर जब उसने अंजना को बुलाया तो विश्वास करना ही पड़ा कि वह गर्भवती है।

केतुमती ने कहा—बहू, तूने यह क्या काली करतूत कर डाली है ?

अंजना—माताजी, मुझ पर विश्वास कीजिए। क्रोध न कीजिए। मेरे पेट में जो गर्भ है, आपके पुत्र का ही है। वे विमान से रात्रि में लौट कर आये थे। इस संबंध में बसन्तमाला और उनकी दी हुई अंगूठी साक्षी है। इतने पर भी विश्वास न हो तो अपने पुत्र को आ जाने दीजिए।

केतुमती—बसन्तमाला तेरी ही दासी है और स्वाभाविक है कि वह तेरा ही पक्ष ले। रही अंगूठी, सो वह कहीं भी ही मिल सकती है। ऐसी स्थिति में प्रबल साक्षी के बिना विश्वास नहीं किया जा सकता। सारे नगर में इस बात की चर्चा हो रही है। राजकुमार के लौटने तक तुझे घर में रखना असंभव है। मैं अपने कुल को कलंक न लगने दूंगी।

अंजना के पास और कोई प्रमाण नहीं था। वह सास के सन्देह को दूर करने में समर्थ न हो सकी। केतुमती ने राजा प्रह्लाद के कान भर दिये। अंजना को घर से निकाल देने का निश्चय हो गया।

प्रह्लाद ने अपने विश्वास और चतुर आदमी को बुला

और कहा—अंजना को रथ में बिठला कर कहीं ऐसी जगह छोड़ आओ कि वह स्वयं अपने मायके पहुँच सके।

राजा का आदमी अंजना के पास आया। उसने कहा—बैठिए, रथ तैयार है रानीजी ने आपको बाहर घूमने के लिए रथ भेजा है।

अंजना समझ गई कि उसे कहाँ जाना है। उसने वसन्तमाला से कहा—मेरे विषय में जो भ्रम उत्पन्न हो गया है। उसी का यह दुष्परिणाम है।

वसन्तमाला—सखी, यह तो भारी अनर्थ हो रहा है। आपकी आज्ञा हो तो मैं महारानी और महाराज के पास जाकर उनके संदेह को दूर करने का प्रयत्न करूँ।

अंजना—इस समय कोई प्रयत्न सफल होने की आशा नहीं है। इस मौके पर सास-ससुर की आज्ञा का पालन करना ही उचित है।

वसन्तमाला, अंजना की दशा का विचार कर रोने लगी। तब अंजना ने कहा—मेरे ऊपर दुःख आया है, फिर भी मैं नहीं रोती और तू रोती है। रोना किसी संकट की दवा नहीं है। कर्म की गति विचित्र है। होनहार होकर ही रहता है। फिर भी सत्य अन्त तक छिपा नहीं रहता। वह एक न एक दिन सूर्य की तरह चमकता है। जिस दिन राजकुमार आये उस दिन तू प्रसन्न हुई थी तो आज दुखी क्यों हो रही है? वसन्तमाला, प्रत्येक परिस्थिति में समभाव रखना ही सुख की कुंजी है। सुख में फूलना और दुख में घबराना नहीं चाहिये।

अंजना अपनी सखी वसन्तमाला के साथ रवाना हुई। पिता के घर भी उसे आश्रय न मिला। पिता ने कह दिया—

जो पतिगृह से कलंकित होकर निकाली गई है, उसे मैं अपने घर में रखकर अपकीर्ति नहीं लेना चाहता। अन्त में अंजना ने जंगल की राह ली। जब पिता के राज्य की सीमा समाप्त हो गई तब अंजना ने जंगल के फल आदि खाकर भूख मिटाई और ठण्डा पानी पीया। कुछ आगे जाने पर अंजना को एक महात्मा ध्यान में मग्न दिखाई दिये। वह वहीं कुछ दूरी पर ठहर गई। ध्यान समाप्त होने पर उसने यथाविधि वन्दना नमस्कार करके अपने दुःखों का कारण पूछा। महात्मा ने करुणा करके कहा—पूर्व भव में अपनी सौत के लड़के को २२ घड़ी तक तूने छिपा रक्खा था और उसे दुखी किया था। इसी कर्म का फल तुझे आज भोगना पड़ रहा है। परन्तु तेरा भविष्य उज्ज्वल है। तुझे प्रतापी पुत्र की प्राप्ति होगी। शीघ्र ही सब दुःख दूर हो जाएँगे।

कुछ समय व्यतीत होने पर अंजना को एक दिन प्रसव-वेदना होने लगी। प्रसव के लिए दोनों एक गुफा के निकट गईं तो देखा कि वहां एक सिंह मुँह फाड़े बैठा है। सिंह को देखते ही वसन्तमाला के होश उड़ गये, पर सिंह इन्हें देखकर बाहर चला गया। उसी गुफा में बालक 'हनुमान' का जन्म हुआ। अंजना को इससे अपार आनन्द हुआ। थोड़े दिन बाद उसी वन में अंजना के मामा मिल गये और उनके प्रबल अनुरोध को न टाल सकने के कारण वह उनके घर चली गई।

× × × ×

उधर पवन कुमार युद्ध में विजयी होकर महेन्द्रपुर आये, तो तत्काल अंजना से मिलने चले। पर अंजना वहाँ कहाँ थी? उनके सारे उत्साह पर पानी फिर गया। विजय का उल्लास घोर दुःख में परिणत हो गया। वे उसकी खोज करने के लिए

अपनी ससुराल गये; परन्तु जब वहाँ भी अंजना का पता न लगा तो बिना खाये-पीये ही वहाँ से चल पड़े और वन में खोज करते भटकने लगे। अंजना का पता न लगा। पवन कुमार की मनोव्यथा सीमा को पार कर गई। उन्होंने सोचा—ऐसे भयानक वन में अंजना जीवित नहीं रह सकी होगी और जब वह जीवित न रही तो मेरा जीना भी व्यर्थ है। इस प्रकार पवन ने भी प्राण त्याग देने का विचार कर लिया, मगर प्रहस्त ने कहा—कुमार, संभव है देवी अंजना जीवित हों। अगर आप आत्मघात कर लेंगे तो उनकी क्या दशा होगी ?

उधर राजा प्रहलाद और रानी केतुमती के दुःख का पार न था। वे अपने बिना विचारे किये कार्य के लिए घोर पश्चाताप कर रहे थे। अत्यन्त लज्जित थे। राजा प्रहलाद ने चारों ओर अंजना की खोज के लिए आदमी भेजे। उनमें से एक ने आकर खबर दी-इस समय देवी अंजना अपने पुत्र के साथ हनुमत्पाटन में अपने मामा शूरसेन के घर हैं।

इस समाचार से सर्वत्र आनन्द छा गया। राजा प्रहलाद कुमार के साथ हनुमत्पाटन आये। राजा शूरसेन ने प्रेम से उनका स्वागत किया। समय पर अंजना और पवन का सम्मिलन हुआ। थोड़ी देर तक किसी के मुख से एक भी शब्द न निकला। आखिर पवन ने पूछा सकुशल तो हो ? अंजना भावावेश में कुछ भी न बोल सकी। बसन्तमाला ने इस समय भी उसकी सहायता की। अंजना की कष्ट कथा सुन कर राजकुमार अन्तःकरण व्यथित हो उठा। तत्पश्चात् पवनकुमार ने भी अपना समग्र वृत्तान्त कहा। परन्तु इस मिलन की खुशी में दोनों अपना-अपना भूतकालीन दुःख भूल गये।

यथासमय राजा प्रहलाद, अंजना आदि को साथ लेकर

अपने घर पहुँचे। अंजना ने पहुँचते ही अपनी सासू के चरणों में प्रणाम किया। सासू का हृदय गद्‌गद हो उठा। वह बोली-बहू, मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिये हैं। मैंने तुम्हारा परित्याग किया, पर तुमने मेरा त्याग नहीं किया, यह तुम्हारी बड़ी उदारता है। बेटी, तू गुणवती है। तूने हमें तार दिया।

अंजना—माता, आप जरा भी खेद न करें। वह सब तो मेरे ही कर्मों का खेल था। आपका कोई दोष नहीं था। आपने उस समय मेरा कहना मान कर घर से न निकाला होता तो आज जो अपूर्व आनन्द प्राप्त हो रहा है, वह कैसे प्राप्त होता ? इस घटना से मेरी जो प्रशंसा हुई है, वह आपकी ही कृपा का फल है।

वास्तव में अंजना ने राग-द्वेष पर बहुत कुछ विजय प्राप्त कर ली थी। यही कारण है कि वह भयंकर से भयंकर और अनुकूल से अनुकूल परिस्थितियों में समभाव रख सकी। अंजना को केतुमती पर क्रोध आना स्वाभाविक था लेकिन क्रोध न करके उसने उल्टा उपकार माना। उसने कहा-सासूजी ने परीक्षा करके मेरे गुणों को संसार में फैला दिया है। ईख की प्रशंसा इसी कारण होती है कि घानी में पेरने पर भी वह अपना मिठास नहीं छोड़ती। सोना तभी शुद्ध समझा जाता है तब वह ताप-कष-छेद की परीक्षा में ठहरता है।

अंजना परम पतिव्रता सती के रूप में प्रसिद्ध हुई। सब उसे आदर की दृष्टि से देखने लगे और उसकी प्रशंसा करने लगे। कुछ दिनों बाद राजा प्रहलाद और केतुमती ने संसार त्याग कर प्रव्रज्या धारण की और पवन कुमार राजा एवं अंजना रानी बनीं। आनन्दपूर्वक उनका समय व्यतीत होने लगा।

एक बार पिछली रात में अंजना की नींद टूट गई। उसे विचार आया-मुझे जो सुखसामग्री मिली है वह सबसे पहले की करनी का फल है। उस करनी को सांसारिक कामों में ही खर्च कर देना उचित नहीं। उसकी सहायता से आत्मकल्याण करना उचित है।

इस प्रकार विचार कर अंजना सती पवन कुमार के पास गई और बोली आपकी आज्ञा हो तो मैं धर्म-करनी में लग जाना चाहती हूँ।

पवन—धर्म करने की मनाई किसने की है। खूब किया करो।

अंजना—मेरी इच्छा यह है कि सांसारिक बन्धनों को त्याग कर एक मात्र धर्मक्रिया में ही शेष जीवन व्यतीत करूं।

पवन—क्या घर में रहकर धर्म का आचरण संभव नहीं है?

अंजना—संभव तो है, परन्तु एकाग्र भाव से धर्म की साधना गृहत्याग कर ही की जा सकती है।

पवन—मगर कुछ दिन बाद यह विचार करना उचित होगा।

अंजना—नाथ, काल को रोकने की शक्ति किसी में भी नहीं है। कौन जानता है कि काल कब आ जायगा और किसे ले जायगा? अतः जो अवसर मिला है उसका सदुपयोग कर लेना चाहिए।

इस प्रकार पति को समझा-बुझा कर तथा अपने पुत्र हनुमान से भी स्वीकृति लेकर अंजना सती महासती बन गई। पवन भी उन्हीं के साथ दीक्षित होकर मुनि बन गये।

卐

महासती कलावती

चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर के समय की बात है। मगध जनपद के अन्तर्गत शंखपुर नामक एक नगर था। उस नगर के राजा का नाम भी शंख ही था। संभव है, इसी राजा ने अपने नाम से यह नगर बसाया हो अथवा पहले बसे नगर का नाम बदल कर उसके नाम पर हो गया हो। राजा शंख की उस समय अच्छी प्रसिद्धि रही होगी, यह बात इस घटना से स्पष्ट मालूम होती है।

कलावती इन्हीं राजा शंख की अर्धांगिनो थी। वह देवशाल नगर के राजा विजयसेन की पुत्री और जयसेन की बहिन थी।

किसी समय राजकुमार जयसेन विदेश यात्रा के लिए निकले। वह जिस रास्ते से जा रहे थे, उसी रास्ते में बहिन का नगर भी पड़ता था। राजकुमार ने सोचा—बहिन से मिलने का यह अच्छा अवसर है। बार-बार मिलना नहीं होता। इधर आया हूँ तो मिलता जाऊँ! एक पंथ दो काज हो जाएँगे।

जयसेन शंखपुर की ओर चल दिये। बहिन से मिले। परन्तु उस समय उसके बहिनोई राजा शंख वहाँ मौजूद नहीं थे। कहीं बाहर गये थे। जयसेन को इतनी फुर्सत नहीं थी कि वह अधिक दिन ठहर कर उनकी प्रतीक्षा करते। अतएव वह बहिन से मिल कर ही आगे की यात्रा पर चल पड़े।

स्त्रियां—अपने मायके के प्रति अत्यन्त ममताशील होती हैं। उन्हें पोहर बहुत प्रिय होता है। पीहर से प्राप्त हुई छोटी से छोटी वस्तु भी उन्हें बड़ी और बड़ी प्रिय जान पड़ती है। वे उसे सावधानी से सहेजती हैं और उसे ऐसे अवसर काम में

जाती हैं, जब पाँच आदमी उसे देखें और उस वस्तु की बड़ाई करें। मायके की प्रशंसा उन्हें अत्यन्त रुचिकर होती है। उस प्रशंसा में वे अपना गौरव मानती हैं। यद्यपि नारी का सुख-दुःख उसकी सुसराल पर ही निर्भर है, परन्तु जन्म स्थान का आकर्षण उनके प्राणों को पीहर की ओर ही खींचता है।

हाँ, तो रानी कलावती को उनका भाई जाते समय हाथों में पहनने के कंगन भेंट कर गया था। कलावती ने अपने भाई के द्वारा दिये हुए रत्नजटित कंगन अपने हाथों में पहन लिये। आगे चल कर यही कंगन उसकी विपत्ति के कारण बन गए। अथवा यों कहना चाहिए कि इन कंगनों ने कलावती को इतिहास में अमर कर दिया।

कुछ दिनों के पश्चात् राजा शंख अपना कार्य करके शंखपुर लौटा। उसने राजमहल में प्रवेश किया और कलावती उसकी अगवानी करने के लिए आगे बढ़ी। बहुत दिनों बाद पति के आगमन से उसके चित्त में अत्यन्त आनन्द हो रहा था। उसका हृदय पुष्प की भांति खिल रहा था। राजा शंख ने भी कलावती की ओर स्नेहपूर्ण नेत्रों से देखा। मगर शंख की दृष्टि अकस्मात् कलावती के कंगनों पर जा पड़ी।

शंख का आनन्द धीमा पड़ गया उसके हृदय में अप्रिय आशंका उत्पन्न हो गई। शंख ने सोचा—यह कंगन कलावती के पास कहां से आये? यह मैंने नहीं बनवाये हैं और पहले देखे भी नहीं। कलावती को यह सुन्दर उपहार किसने प्रदान किया है?

शंका ने क्रोध का रूप प्रदान कर लिया। शंख, सती कलावती के निर्मल चरित्र को मलीन समझ कर क्रुद्ध और संतप्त हो उठा। उसने कलावती को कुलटा समझ लिया।

सोचा—आह, जिसे मैंने आज तक पतिव्रता, शीलवती और सदाचारिणी समझा था, वह ऐसी दुराचारिणी है ! थोड़े दिनों के लिए ही मैं बाहर गया तो इसका यह हाल हैं कदाचित् मेरी मृत्यु हो जाय तो क्या होगा ? यह मेरे नाम और कुल की कीर्त्ति पर कालिख पोत देगी। जिसे में प्राणों के समान चाहता हूँ, वह किसी और को चाहती है। सच है-स्त्रियों के चरित्र का पता लेना बड़ा ही कठिन है। वे पुरूष मूर्ख हैं जो स्त्रियों पर भरोसा करते हैं और उन्हें 'अबला' कहते हैं।

इस प्रकार सत्य-असत्य का निर्णय किये बिना ही राजा शंख ने कलावती को अपराधिनी समझ लिया। उसने किसी साधारण अपराधी के समान भी कलावती को अपनी सफाई देने का अवसर भी नहीं दिया। उसके अपराध का उसे पता नहीं लगने दिया।

वहम और कुशंका ने उसके हृदय में जड़ जमा ली। इस वहम-निराधार वहम की बदौलत संसार में अनेक अनर्थ हुए हैं। वहम ने बड़े-बड़े पवित्रात्मा महात्माओं की जीते जी खाल खिचवाई है, घानी में पिलवाया है, प्राण लिये हैं ! वहम की बदौलत अनेक शीलवती सदाचार की मूर्त्ति सतियों को वनवास आदि की दुःसह यातनाएँ भोगनी पड़ी हैं। वहम के शिकार होकर न जाने कितने अभिन्नहृदय मित्र शत्रु बन बैठे हैं। वह मनुष्य की बुद्धि को कुंठित कर देता है, सत्य-असत्य का निर्णय करने की क्षमता को नष्ट कर देता है, यथार्थता पर पर्दा डाल देता है। वह मनुष्य को मूर्ख बना देता है। जब वह हृदय में घुस जाता है तो निकलना कठिन हो जाता है।

राजा शंख के दिल में वहम गहरा घुस गया उसने कलावती जैसी पतिव्रता-सती को कलंकिनी समझ लिया।

उसके अपराध के विषय में किसी से चर्चा तक नहीं की। यहाँ तक कि उसे कठोर से कठोर दंड देने का निर्णय कर लिया।

शंख ने अपने एक सारथी को बुलाकर कहा—सारथी, तुम्हें एक महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपना चाहता हूँ। बड़ी सावधानी के साथ उसे सम्पन्न करना होगा। किसी के कान में भनक भी न पड़े।

सारथी अपने आपको राजा का अतिविश्वासपात्र समझ कर गौरव का अनुभव किया। कहा—अन्नदाता ! आपके लिए मेरे प्राण भी अर्पित हैं। आपके आदेश का पालन करना ही मेरा सबसे बड़ा कर्त्तव्य है। जिस प्रकार आपकी आज्ञा होगी, पालन करूँगा।

शंख—ठीक है। देखो कलावती को रथ में बिठला कर भयानक सुन-सान जंगल में छोड़ आओ।

सारथी को कल्पना भी नहीं थी कि उसे यह आज्ञा दी जाने वाली है। राजा की बात सुनते ही उसका हृदय चीख उठा। कलावती के प्रति उसके हृदय में अगाध श्रद्धा थी। रानी ने अपने सदाचार और सद्व्यवहार से सबका आदर प्राप्त कर लिया था। सब लोग उसे अपनी माता के समान मानते थे और सबको भाई एवं पुत्र के समान समझती थी। ऐसी स्थिति में सारथी के हृदय को गंभीर आघात लगना स्वाभाविक था। वह भौंचक्का-सा रह गया। गर्दन नीची करके गंभीर विचार में डूब गया।

राजा शंख उसके मनोभाव को समझ कर बोले—क्यों क्या सोचते हो ?

सारथी—अन्नदाता, अपराध क्षमा कीजिये। माता कलावती पवित्रात्मा हैं। उनके प्रति यह कठोर व्यवहार······

शंख—तर्क वितर्क करने के लिए मैंने तुम्हें नहीं बुलाया। मैं इस विषय में तुम्हारी सलाह नहीं लेना चाहता। यह मेरा आदेश है। तुम्हें इसका पालन करना होगा।

सारथी—आपका हुक्म सिर माथे है नाथ, परन्तु वह बड़ी दयालु है, धर्मात्मा हैं। ऐसा न हो कि आपको स्वयं में पश्चात्ताप करना पड़े!

शंख को क्रोध आ गया। उसने तीखे और कठोर स्वर में कहा—चुप रहो। तुम्हें अपना जीवन प्रिय है तो चुपचाप मेरी आज्ञा का पालन करो। मेरा निर्णय बदल नहीं सकता।

सारथी काँप उठा। उसकी क्या हैसियत थी कि राजा के सामने बोल सके! इतना भी कह सका सो रानी कलावती के प्रति अगाध श्रद्धा होने के कारण ही। मगर राजा की भृकुटि देख कर वह सहम गया। आगे कुछ बोल न सका। सिर्फ यही कहा—जो आज्ञा स्वामी!

सारथी के सामने पेट और प्राणों का प्रश्न था। पेट की समस्या वह हल कर सकता था, परन्तु प्राणों के प्रश्न ने उसे लाचार कर दिया। वह रानी के पास जाकर बोला—माताजी, महाराज ने आदेश दिया है कि आपको रथ में बिठकर जंगल की ओर ले चलूँ। जल्दी तैयार हो जाइए।

सरलहृदया कलावती को कल्पना ही नहीं थी कि मेरे लिए क्या विधान किया गया है! महल की बंद वायु के बदले जंगल की स्वच्छ हवा में विचरण करने के विचार से रानी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसने सोचा—महाराज मुझे वन विहार के लिए ले जा रहे हैं!

रानी उस समय गर्भवती थी। प्रसव का समय

न्निकट आ गया था। कलावती हर्षित-चित्त से तैयार हुई और रथ पर सवार हो गई।

रथ चल पड़ा वेग के साथ चलता-चलता सुनसान जंगल की ओर बढ़ा। थोड़ी ही देर में निर्जन और भयानक वन में प्रविष्ट हो गया यह देख कलावती को आश्चर्य हुआ। उसका चित्त उद्विग्न होने लगा। महाराज साथ में नहीं हैं और रथ भयानक वन में चला रहा है! बात क्या है? कलावती बैचैन और विकल हो उठी। उसने सारथी से भयंकर वन में लाने का कारण पूछा।

सारथी के हृदय को भी गहरा आघात लगा। उसका गला भर आया। वह कुछ भी नहीं बोल सका।

कलावती सारथी की यह हालत देखकर सन्न रह गई। अमंगल की संभावना से वह सिर से पैर तक कांप उठी। उसने पुनः प्रश्न किया सारथी! सारी बात स्पष्ट क्यों नहीं करते?

सारथी की आँखे बरस पड़ीं। वह हिचकियाँ भर-भर कर रोने लगा। रोते-रोते उसने कहा—माताजी, आपके लिए स्वामी की यही आज्ञा है। मैं अत्यन्त पापी हूँ कि मुझे यह जघन्य कृत्य करना पड़ रहा है।

कलावती यह सुनते ही बेहोश हो कर गिर पड़ी। वह सती थी। उसका जीवन स्वच्छ और पवित्र था। पाप की हल्की-सी कालिमा ने भी उसके हृदय को स्पर्श नहीं किया था। अपराधी व्यक्ति अपने अपराध का विचार करके दंड भोगते समय सान्त्वना पा लेता है, किन्तु निरपराध को जब दंड भोगना पड़ता है, तब उसे वह असह्य होता है। उसे धैर्य करने का कोई आधार नहीं मिलता। कलावती को अपने

अपराध का ख़याल भी नहीं था और न वह अपराधिनी थी ही। जिस पर भी उसे दंड मिल रहा था और वह दंड भी साधारण नहीं, भयानक और निर्दयतापूर्ण था। ऐसी स्थिति में रानी अपने आपको संभाल न सकी। वह बेहोश होकर रथ से नीचे गिर पड़ी।

बेहोशी की हालत में ही राजा के द्वारा भेजी हुई एक स्त्री ने बहुत तीखे शस्त्र से कलावती के दोनों हाथ काट लिये। कटे हाथों को लेकर वह उसी समय वापिस लौट गई। रोते-बिलखते सारथी ने भी उसी समय चला जाना उचित समझा। होश आने पर वह रानी को क्या उत्तर देगा? क्या कह कर विदाई लेगा? कैसे उसे अकेली अपंग दशा में छोड़ कर जायगा? इत्यादि विचार करके सारथी रानी को बेहोश छोड़ कर ही रवाना हो गया।

हाथ कट जाने पर कलावती की मूर्छा तो हट गई, परन्तु मानसिक और शारीरिक–दोनों प्रकार की पीड़ा से वह तड़फड़ाने लगी। उसकी वेदना इतनी बढ़ गई कि बालक का प्रसव हो गया। रानी के लिए यह दूसरी विपत्ति थी। दोनों हाथ कट चुके थे। वह बालक को उठा और सँभाल नहीं सकती थी। बालक रुदन करने लगा और उधर कलावती का हृदय भी रोने लगा। भीषण दुःख से एक बार फिर वह बेहोश हो गई, परन्तु नवजात बालक का रुदन सुन कर उसकी बेहोशी शीघ्र ही दूर हो गई। एक कवि ने इस घटना का वर्णन इस इस प्रकार किया है:—

म्हारो बालकजी यों तड़फे,
रुदन मचावे, कुण आकर धीर बँधावे?

शुद्ध मन सेतो परमेष्ठि ध्यान जब ध्यावे,
सुर आकर हाथ बनावे।
ले बालकियो रानी, झट दूध पिलावे,
देव पुष्प वृष्टि बरसावे।
उस विरियां जी एक तपस्विनी आवे,
शिशु रानी को संग ले जावे ।।

रानी कलावती के हृदय के दुःख को शब्दों द्वारा प्रकट करना संभव नहीं। राजमहल में होती तो इस प्रसंग पर कैसा उत्सव मनाया जाता? राज्य भर में हर्ष और आनन्द की लहरें उठने लगतीं। बाजों का मांगलिक घोष होता और राजा प्रजा का हृदय बांसों उछलने लगता। किन्तु आज राजकुमार सुनसान वन में असहाय होकर चीख रहा है! धरती पर पड़ा बिलख रहा है! कोई उसे हाथों में लेने वाला भी नहीं है। माता पास में है, परन्तु उसके हाथ कटे हैं! हाय, कितनी विषम और दारुण अवस्था है! रानी के हृदय पर उस समय कैसी बीत रही होगी, यह कल्पना करना भी कठिन है।

किन्तु रानी धर्मवती थी। उसने विचार किया इस समय हाय-हाय करने से काम नहीं चलेगा। विपदा के समय धर्म ही सहायक होगा। यह सोच कर कलावती ने चित्त को शान्त करके पंच परमेष्ठी का ध्यान किया। वह प्रभु के ध्यान में लीन हो गई।

जब सारा संसार विमुख हो जाता है, कोई भी सहायक नहीं होता, तब धर्म ही सहायक बनता है। जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा करता है। रानी कलावती परम शीलवती थी। उसके रोम-रोम में धर्म के संस्कार विद्यमान

थे। अतएव इन विकट संकट के अवसर पर धर्म ने उसकी रक्षा की। उसके ध्यान की शक्ति से शीलरक्षक देव का सिंहासन डोल उठा। देव ने उपयोग लगाया तो उसे प्रतीत हुआ कि एक सती पर घोर संकट आ पड़ा है। देव ने रानी की धर्मनिष्ठा का विचार किया और तत्काल ही अपनी दिव्य शक्ति से उसके हाथ ज्यों के त्यों बना दिये।

अचानक दोनों हाथ पाकर रानी को आश्चर्य के साथ परम आनन्द की प्राप्ति हुई। उसने सोचा वास्तव में धर्म की शक्ति अद्भुतहै। धर्म के प्रताप से ही जीव दुखों से बचता है और सुख का भागी हो सकता है। इस संसार में धर्म के समान सुखदाता और कोई भी नहीं हो सकता।

दोनों हाथ प्राप्त होते ही रानी कलावती ने अपने आंखों के तारे, परम दुलारे पुत्र को उठा लिया। उसे छाती से लगाया और फिर बार-बार चूमा। दूध पिलाने पर बालक चुप हो गया।

उसी समय उस वन में रहने वाली एक तपस्विनी वहां आ पहुंची। वह बालक और कलावती को अपने आश्रम में ले गई। आश्रम में पहुंच कर रानी कलावती निर्भय, निश्चिन्त और स्वस्थ हुई। प्रेम के साथ अपने बालक का पालन-पोषण करने लगी।

(२)

जरा पाठक शंखपुर की ओर ध्यान दें।

जब राजा शंख के सामने महारानी कलावती के दोनों कटे हाथ उपस्थित किये गये तो क्षण भर के लिए राजा को सन्तोष हुआ। उसने सोचा-कलावती को मेरे साथ विश्वासघात करने की उचित शिक्षा मिल गई!

परन्तु दूसरे ही क्षण उसकी नज़र कंगनों पर पड़ी। उसने गौर से कंगन देखे और उन पर लिखे हुये अक्षर पढ़े। उसे यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि उन पर कलावती के भाई का नाम खुदा हुआ है। राजा को यह समझते देर न लगी कि यह कंगन कलावती के भाई ने ही उसे भेंट में दिये हैं। यह समझते ही राजा को मनोवेदना का पार न रहा। उसके हृदय को गहरा आघात लगा। दुःख के कारण वह विकल हो उठा। अपने अविचारपूर्ण कृत्य के लिए घोर पश्चाताप करने लगा। सोचने लगा-हाय, मैंने यह क्या कर डाला! कलावती जैसी सती पत्नी के साथ निर्दयता से भरा व्यवहार किया! बिना सोचे-विचारे आवेश में आकर मैंने जो क्रूर कर्म किया है, न जाने उसका क्या दुष्परिणाम होगा! रानी गर्भवती थी और दोनों हाथों से अपंग कर दी गई है। अब उसका जीवित रहना संभव नहीं जान पड़ता। किसी ने सत्य ही कहा है :—

अविचारः परमापदां पदम्।

बिना विचारे कार्य करने से अनेक आपत्तियां आ पड़ती हैं। अविचार सर्वनाश का कारण है। अनर्थों का मूल है। जो भलोभांति विचार किये बिना ही कार्य करता है, वह मूर्ख बनता है, जगत् में उपहास का पात्र बनता है और कभी-कभी ऐसा काम कर गुजरता है कि जिन्दगी भर पछताता है।

राजा शंख ने सती कलावती को बिना जांच-पड़ताल किये कठोर से कठोर दंड दे दिया। अगर वह थोड़ा सा भी विचार करता, कलावती को अपनी निर्दोषता सिद्ध करने का अवसर देता और आवेश में आकर शान्त एवं स्वस्थ चित्त से

परीक्षा करता तो रानी को घोर संकट में न पड़ना पड़ता और राजा को भी पछताने का अवसर न आता।

आवेश मनुष्य को गड़हे में गिरा देता है। आवेश विवेक-बुद्धि का विनाश कर डालता है। आवेश मनुष्य को अंधा बना देता है। आवेश के वश में चतुर से चतुर मनुष्य भी अत्यन्त मूढ़ बन जाता है।

जब राजा शंख को अपनी मूर्खता का पता चला तो वह अपने को धिक्कारने लगा अपने आपको जघन्य अपराधी, अपनी प्राण प्रिया पत्नी तथा पुत्र का घातक समझने लगा। पश्चाताप की आग में जलने लगा।

राजा शंख ने तत्काल अपने मंत्री को बुलाया और समग्र वृत्तान्त कह कर उससे सम्मति मांगी कि अब क्या करना चाहिए ?

मंत्री को भी यह वृत्तान्त जानकर दारूण दुःख हुआ। उसने कहा—नर-नाथ, जो हुआ सो बहुत बुरा हुआ, परन्तु इस समय अतीत का स्मरण करने की अपेक्षा भविष्य के कर्त्तव्य का विचार करना अधिक श्रेयस्कर है। एक भी क्षण का विलम्ब न करके महारानी की खोज करनी चाहिए। जिस वन में और जहाँ उन्हें छोड़ा गया है, अभी वहाँ चलना योग्य है।

आखिर मंत्री को साथ लेकर राजा शंख उसी वन में पहुँचा। जिस जगह रानी के हाथ काटे गये थे, उस जगह पहुँच कर देखा तो अब भी खून के चिह्न विद्यमान थे। उन चिह्नों को देखकर राजा का हृदय भर आया। उसे रानी को पुनः जीवित अवस्था में देखने की आशा न रही। तथापि मंत्री के धीरज बंधाने पर वह आगे बढ़ा। खोज करते-करते वे दोनों

महाराज शंख उस समय तुम्हारे पालतू तोते के रूप में थे। बड़े लाड प्यार के साथ तुम तोते का पालन करती थीं। एक वार वहाँ तीर्थंकर भगवान् का शुभागमन हुआ। तुम तोते को साथ लेकर भगवान् के समीप गई। दूसरे दिन तुम्हारे जाने में देरी देख तोते ने अपने पंजे से पिंजरे की कील खोल ली और वह अकेला ही भगवान् के पास उड़ गया। जब तुमने पिंजरे को खाली देखा तो तोते खोजने के लिए दास-दासियों को दौड़ाया। तोता मार्ग में ही उन्हें मिल गया। वे उसे पकड़ कर तुम्हारे पास लाए। तुमने क्रोधित होकर उसके दो पंख नोंच लिए।

इस प्रकार तोते के जीव ने अपने पूर्व जन्म का वदला लेने के लिए तुम्हारे हाथ कटवा दिए। तुमने दो पंख नोंचे थे, उसके फलस्वरूप तुम्हारे दोनों हाथ काटे गए। कोई कितना ही सामर्थ्यवान् क्यों न हो, अपने किये कर्म का फल भोगने से बच नहीं सकता।

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

अर्थात्—कृत कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है।

जयघोष मुनिराज को यह मर्म भरी बात सुनकर राजा और रानी को उसी समय जातिस्मरण ज्ञान हो गया। दोनों को अपने-अपने पूर्व भव स्पष्ट दिखाई देने लगे। दोनों ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिराज के चरण-कमलों में नमस्कार किया और कहा—भगवान्! आपने हमारे नेत्रों पर पड़ा पर्दा दूर कर दिया! आपके असीम अनुग्रह को हम कभी नहीं भूल सकेंगे।

अपने पूर्वभव के वृत्तान्त को जानकर राजा और रानी को संसार से विरक्ति हो गई। उन्हें संसार नीरस और भया-

अर्थात्-जिस आत्मा ने पहले जैसे कर्म का बन्ध किया है, वह वैसा ही शुभ या अशुभ फल पाता है। यदि कोई प्राणी दूसरों के दिये दुःख को भोगे तो अपने किये कर्म निरर्थक निष्फल हो जाएँ!

कलावती कहती है—पतिदेव, आप ग्लानि न करें। मुझे जो कष्ट उठाना पड़ा है, वह मेरे ही अशुभ कर्मों का फल था। उसके लिए मैं स्वयं उत्तरदायित्व हूँ, अन्य कोई नहीं। मेरे अन्तःकरण में आपके प्रति तनिक भी रोष नहीं है।

इस प्रकार कलावती की उदारतापूर्ण बात सुनकर राजा शंख को संतोष हुआ। कलावती पतिव्रता थी, सती थी, फिर भी उसकी इतनी अधिक जो ख्याति हुई, उसका कारण यही उदारता थी। पल भर के लिए भी उसके चित्त में अपने पति के प्रति विरोध, क्रोध, या आवेश का भाव उत्पन्न नहीं हुआ। उसने स्तुल्य समभाव से समस्त संकटों को सहन किया और पति पर स्नेह का भाव बनाए रक्खा।

आखिर राजा शंख रानी कलावती को साथ लेकर शंखपुर में आया। दोनों अभिनभ स्नेह के साथ जीवन यापन करने लगे।

कुछ दिन पश्चात् शंखपुर में 'जयघोष' नामक मुनिराज पधारे। वे चार ज्ञानों धारक थे। राजा और रानी उनका उपदेश सुनने गये। उपदेश समाप्त होने पर रानी कलावती ने मुनिराज से प्रश्न किया—भगवान्! मैंने किस भव में, कौन-सा घोर पाप किया था, जिसके फलस्वरूप इस भव में मुझे हाथ कटने का दंड भुगतना पड़ा? अनुग्रह करके प्रकाश डालिए।

मुनिराज ने अविधज्ञान का उपयोग लगाकर बतलाया—महाभागे! अपने पूर्वभव में तुम सुलोचना नामक रानी थी।

महाराज शंख उस समय तुम्हारे पालतू तोते के रूप में थे। बड़े लाड प्यार के साथ तुम तोते का पालन करती थीं। एक बार वहाँ तीर्थंकर भगवान् का शुभागमन हुआ। तुम तोते को साथ लेकर भगवान् के समीप गई। दूसरे दिन तुम्हारे जाने में देरी देख तोते ने अपने पंजे से पिंजरे की कील खोल ली और वह अकेला ही भगवान् के पास उड़ गया। जब तुमने पिंजरे को खाली देखा तो तोते खोजने के लिए दास-दासियों को दौड़ाया। तोता मार्ग में ही उन्हें मिल गया। वे उसे पकड़ कर तुम्हारे पास लाए। तुमने क्रोधित होकर उसके दो पंख नोंच लिए।

इस प्रकार तोते के जीव ने अपने पूर्व जन्म का बदला लेने के लिए तुम्हारे हाथ कटवा दिए। तुमने दो पंख नोंचे थे, उसके फलस्वरूप तुम्हारे दोनों हाथ काटे गए। कोई कितना ही सामर्थ्यवान् क्यों न हो, अपने किये कर्म का फल भोगने से बच नहीं सकता।

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

अर्थात्—कृत कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है।

जयघोष मुनिराज की यह मर्म भरी बात सुनकर राजा और रानी को उसी समय जातिस्मरण ज्ञान हो गया। दोनों को अपने-अपने पूर्व भव स्पष्ट दिखाई देने लगे। दोनों ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिराज के चरण-कमलों में नमस्कार किया और कहा—भगवान् ! आपने हमारे नेत्रों पर पड़ा पर्दा दूर कर दिया ! आपके असीम अनुग्रह को हम कभी नहीं भूल सकेंगे।

अपने पूर्वभव के वृत्तान्त को जानकर राजा और रानी को संसार से विरक्ति हो गई। उन्हें संसार नीरस और भया-

नक प्रतीत होने लगा। अतएव दोनों ने उसी समय राज्य वैभव और श्रेष्ठ भोगोपभोग त्याग कर दीक्षा धारण कर ली।

कोमल-कलेवरा कलावती ने साध्वी-जीवन अंगीकार करके कठोर तपस्या की। अन्त में समाधि के साथ शरीर का परित्याग किया। वह स्वर्ग में उत्पन्न हुई। स्वर्ग की आयु पूर्ण करके रानी कलावती का जीव महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त करेगा।

रानी कलावती की जीवनी की सबसे बड़ी शिक्षा सहिष्णुता है। जीवन में जब विषय विपत्ति आ पड़े तो समभाव के साथ उसका सामना करना और उसके लिए दूसरे को अपराधी न समझ कर अपने आपको ही अपराधी मानना यही उचित है। यही तथ्य है और यही कल्याण का मार्ग है।

卐

खंदक मुनि

श्रावस्ती नगरी के राजा कनककेतु थे। उनकी रानी मलयासुन्दरी ने एक सौभाग्यवान् पुत्र-रत्न को जन्म दिया। नवजात राजकुमार का नाम खंदक (स्कन्दक) कुमार रक्खा गया।

प्राचीन काल में शिक्षा की प्रणाली दूसरे प्रकार की थी। उस समय ऐसी शिक्षा नहीं दी जाती थी जो बेकारी बढ़ाने वाली हो, जिसे प्राप्त करके मनुष्य नौकरी के सिवाय अन्य किसी काम को करने में अक्षम हो जाय या करना पसंद ही न करे। उस काल में बहत्तर कलाएँ पुरुष को और चौंसठ कलाएं

स्त्री को सिखलाई जाती थी उन कलाओं में अक्षर ज्ञान, गणित आदि का समावेश तो हो ही जाता था, साथ ही जीविका चलाने की प्रायः सभी विद्याएँ भी आ जाती थीं। वस्त्र बुनना, कृषि करना, मिट्टी आदि के बरतन बनाना, व्यापार करना आदि भी इन कलाओं में अन्तर्गत था। चाहे राजकुमार हो, चाहे साधारण मनुष्य का लड़का, प्रत्येक को इन कलाओं का ज्ञान दिया जाता था। इस शिक्षा विधि का परिणाम यह होता था कि शिक्षा-प्राप्त नवयुवक प्रायः अपने पैत्रिक धंधे में लगकर आनन्द के साथ अपनी जीवन सम्वन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता था और साथ ही उसका समस्त जीवन कलामय बन जाता था। उसे जीवन-निर्वाह के लिए दूसरों का मुंह नहीं ताकना पड़ता था। वह परावलम्बी नहीं रहता था।

इसी प्रचलित प्रणाली के अनुसार राजकुमार को समस्त कलाओं की शिक्षा दी गई। खंदक कुमार अत्यन्त नम्र, विनीत और बुद्धिमान थे। अतएव स्वल्प काल में ही उन्होंने कलाओं में कुशलता प्राप्त कर ली। वह राजनीति के दाव-पेंच भी भली-भांति समझने लगे। आशय यह कि मानव-जीवन को सुख के साथ बिताने के लिए जिस तैयारी की आवश्यकता होती है, वह सब कुमार की हो चुकी। वे शिक्षा प्राप्त करके राजमहल में लौट आए।

राज कुमार अब इस अवस्था में पहुंच चुके थे कि वे अपने सुयोग्य जीवन-साथी का चुनाव करते और संसार-व्यवहार चलाते। परन्तु उनकी रूचि कुछ विलक्षण ही थी। वे संसार संबंधी कार्यों में अधिक दिलचस्पी न लेते। भोग-विलास की ओर उनका आकर्षण नहीं था। आमोद-प्रमोद उन्हें सुहाता

नहीं था। उनके स्वभाव में एक प्रकार की रहस्यमयी गंभीरता थी। वह अक्सर एकान्त को पसंद करते और सोच-विचार में लीन रहते थे। महाराज कनककेतु और महारानी मलयासुन्दरी अपने पुत्र की इस प्रकार की चेष्टाओं को देख कर कभी-कभी संशक हो जाते थे। वे नौजवान राजकुमार की स्वाभाविक चेष्टाएँ कुमार में देखना चाहते थे। पर उन्हें निराशा होती थी। असामयिक गंभीरता उन्हें नहीं सुहाती थी। परन्तु राजकुमार के स्वभाव में जो वस्तु जन्मजात थी, वह किसी भी प्रकार मिट नहीं सकती थी।

राजकुमार को अपार सम्पत्ति प्राप्त थी, राजकीय ऐश्वर्य प्राप्त था और नवयौवन अवस्था थी, मगर भोग-विलास की प्रवृत्ति उनके चित्त में उदित नहीं हुई थी। विवाह करने की अरुचि देखकर माता-पिता को मन मार कर रह जाना पड़ा।

इन्हीं दिनों एक ऐसी घटना हो गई, जिससे कुमार का जीवन एकदम ही बदल गया कहना शायद उपयुक्त न हो, कहना चाहिए कि उनके अन्तःकरण में जो अग्नि सुलग रही थी, वह भड़क उठी। उनकी दबी हुई आकांक्षा निमित्त पाकर उभर आई। श्रावस्ती ने एक दिन विजयसेन मुनि का शुभागमन हुआ। मुनिराज संसार के वास्तविक स्वरूप के ज्ञाता थे। जीवन की अस्थिरता और संसार की असारता के कारण उनके हृदय में प्रबल वैराग्य उमड़ रहा था। भोग-विलास में फंसे हुए संसारी जीवों पर उन्हें तरस आता था। वे सोचते—अहा, ये बेचारे-मोह के प्रगाढ़ बन्धन से जकड़े हुए और विवेक-हीनता के कारण अपने हित-अहित को न समझने वाले जीव कितने दयनीय है! इन्हें यह भी नहीं ज्ञात है कि सच्चा सुख क्या है? ये सुख की इच्छा की इच्छा रखते हैं, सुख के लिए

ही रात-दिन श्रम करते हैं—पचते हैं, फिर भी सुख के स्वरूप को न समझने के कारण उलटे दुःख के भागी बनते हैं !

अपनी इस करुणापूर्ण विचारधारा के कारण मुनि विजयसेन ने उपदेश सुनने के लिए आये हुए श्रोताओं से कहा—सुख आत्मा का ही गुण है और गुण सदैव गुणी में ही रहता है। गुणी को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता। सुख के संबंध में भी यही बात है। सुख आत्मा में है; अन्यत्र नहीं। जड़ पदार्थों में सुख कहाँ से आया ? पर तुम मूढ़ता के वशीभूत होकर जड़ पदार्थों में सुख की खोज करते हो। ऐसा करके तुम बालू में से तेल निकालना चाहते हो। यह असंभव है ! इस असंभव को संभव बनाने का प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता। अगर तुम्हें सुख की इच्छा है तो पारमार्थिक दृष्टिकोण से विचार करो। अपनी आत्मा को ही टटोलो। बाह्य पदार्थों से विमुख होकर आत्माराम में ही रमण करो। आत्मा पर आये हुए आवरणों को दूर करने का प्रयत्न करो। अपने असली स्वरूप को प्रकट करने का प्रयास करो। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रकट होना ही अनन्त आनन्द का प्रकट होना है। आत्मा आनन्द को प्रकट करने का साधन है तृष्णा एवं ममता का परित्याग करके चित्त को उपशान्त एवं निराकुल बनाना। जितनी-जितनी भोगों के प्रति निरीह-वृत्ति बढ़ती जाएगी, उतना ही उतना निराकुलताजनित आनन्द भी बढ़ता चला जाएगा। स्मरण रक्खो कि संसार की चौरासी लाख योनियों में यही मानव-योनि श्रेष्ठ है और आत्मा के स्वरूप का विकास इसी योनि में पूर्णता पर पहुँचना है। यह जीवन अध्रुव है, अशाश्वत है। अतएव इसका आत्मकल्याण में उपयोग कर लेना ही बुद्धिमता है। खूब अच्छी तरह समझ लो कि

यदि इस अवसर को व्यर्थ खो दिया तो फिर पश्चात्ताप ही भाग्य में रह जायगा। तत्त्वज्ञानियों के इस कथन को मत भूलो कि:—

'अवसर बेर-बेर नहिं आवे।'

भद्र जीवों ! मानवभव की महत्ता को समझ कर अगर आत्मकल्याण में इसका सदुपयोग करोगे तो अवश्य अक्षय आनन्द प्राप्त होगा।

विजयसेन मुनि की इस प्रकार की प्रेरणाप्रदायिनी वाणी सुनकर राजकुमार खंदक के अन्तःकरण में वैराग्य का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने मुनि से निवेदन किया—भगवन् आपका कथन मुझे रुचिकर हुआ हैं। मैं अक्षय आनन्द की खोज में आपके पथ का अनुसरण करना चाहता हूँ। मुझे अपनी शरण में लीजिए। रत्नत्रय प्रदान करके अनुग्रह कीजिए। माता-पिता की अनुमति लेकर मैं आपकी शरण में आता हूँ।

आखिर कुमार ने मुनि-दीक्षा अंगीकार कर ली। उत्कृष्ट भावों से दीक्षा लेकर मुनि खंदक उत्कृष्ट आचार का पालन करने लगे। निरन्तर स्वाध्याय, ध्यान, तपश्चरण आदि में ही उनका समय व्यतीत होने लगा। थोड़े ही समय के पश्चात् उन्होंने एकाकी विचरण करने की योग्यता प्राप्त करली। गुरूदेव ने उन्हें अकेले विचरने, धर्मोपदेश करने और विशिष्ट आत्मसाधना करने की अनुमति दी और वे गुरूजी की आज्ञा पाकर अकेले विचरने लगे। उनके माता-पिता को जब यह समाचार मिला तो पुत्र-प्रेम की प्रेरणा के वशीभूत होकर उन्होंने पांच सौ सुभटों को मुनि के अंगरक्षक के रूप में तैनात कर दिया। उन सुभटों को समझा दिया कि सदैव ध्यान रखना, मुनि कुमार को कोई कष्ट न होने पावे।

महाराज कनककेतु के आदेश से पाँच सौ सुभट मुनि की देखभाल करते हुए उनके आसपास ही रहने लगे। उन्हें भली-भाँति समझा दिया गया था कि मुनि को पता न लग जाय कि वे उनकी रक्षा के लिए तैनात किये गये हैं। इस प्रकार वे गुप्त रूप से उनकी रक्षा करते थे।

जो स्वयं जगत् के रक्षक हैं, सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव-जन्तु की रक्षा करते हैं, उनके लिए रक्षकों की क्या आवश्यकता थी? जो अपने आपको अजर, अमर, अविनाशी मानते हैं, जिन्होंने दुःख को भी उपकारक समझ कर सुख समझ लिया हो, उन्हें अंगरक्षकों की अपेक्षा नहीं रहती। जो अपने अंग को भी अपना नहीं समझते, शरीर को जड़ और क्षणभंगुर समझते हैं, वे अंगरक्षक रखकर क्या करेंगे? भगवान् ने तो साफ बतला दिया है—

अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरन्ति ममाइयं।

अर्थात्—सच्चा साधक बाह्य पदार्थों की तो बात ही अलग, अपनी देह पर भी ममता का भाव नहीं रखता।

मुनि को यद्यपि रक्षकों की आवश्यकता नहीं थी, तथापि माता-पिता की ममता न मानी। अतएव उन्होंने पाँच सौ रक्षक नियुक्त कर दिये और वे अपरिलक्षित रूप से मुनि की रक्षा करने लगे।

मुनि यथेष्ट विहार करते हुए एक बार कुन्ती नगर पधारे—और नगर के बाहर एक बगीचे में ठहरे। मुनि खंदक मास-मास की तपस्या करते थे। एक मास में सिर्फ एक बार आहार करते।

उस समय तपस्या के पारणा का दिन था। मुनिराज गोचरी के लिए निकले और पर्यटन करते हुए राजमहल के नीचे होकर गये। इस नगर के राजा का नाम पुरुषसिंह था। यह खंदक मुनि के बहिनोई थे। उनकी बहिन सुनन्दा का विवाह पुरुषसिंह के साथ ही हुआ था। जिस समय खंधक मुनि राज महल के पास से निकले, राजा-रानी दोनों महल के गवाक्ष में बैठे चौपड़ खेल रहे थे। अचानक रानी सुनन्दा की दृष्टि मुनि पर पड़ गई।

प्रथम तो उग्र तपस्या के कारण मुनि के शरीर का रूप बदल गया था, दूसरे रानी का मन खेल की तरफ था। अतएव उसने मुनि को पहचान न पाया। मगर मुनि को देखकर सुनन्दा को अपने भाई का स्मरण हो आया। चित्त उदास हो गया और खेल से हट गया।

चित्त की उदासीनता छिपती नहीं है। 'वक्त्रं वक्ति हि मानसम्' अर्थात् चेहरा मनोभावों को प्रकट कर देता है। इस उक्ति के अनुसार सुनन्दा के मन में अपने भाई की स्मृति के कारण जो उदासी आई तो वह उसके चेहरे पर भी झलक उठी। राजा पुरुषसिंह से रानी की यह परिवर्तित चेष्ठा छिपी न रही। मगर उसने और ही कुछ अभिप्राय समझ लिया। उसने रानी एवं मुनि के बीच अनुचित सम्बन्ध की कल्पना कर ली। वह खेलना बन्द करके उत्तेजना के वश होकर उठ खड़ा हुआ और उसी समय अन्यत्र चला गया।

संसार में भ्रम और आशंका एवं निराधार सन्देहों के कारण कितने ही अनर्थ होते रहते हैं। मनुष्य का कर्त्तव्य तो यह है कि वह अपनी बुद्धि को सदा सजग रक्खे और जब दूसरे को अपराधी ठहराने का प्रसंग हो, किसी पर लांछन आता हो,

तो सौ बार भली-भांति विचार करे, पर उत्तेजना, द्वेष, रोष आदि ऐसे भयंकर शत्रु हैं कि वे विवेक को नष्ट कर देते हैं। इनके अधीन होकर मनुष्य मूढ़ बन जाता है।

पुरुषसिंह ने उत्तेजना ही उत्तेजना में जल्लादों को बुलाया और जिंदा मुनि के सारे शरीर की चमड़ी उधेड़ लेने को आज्ञा दे दी। इस अत्यन्त कठोर आज्ञा को सुनकर पाषाण-हृदय जल्लाद भी एक बार कांप उठे। पर उस समय राजा के आदेश के विरुद्ध एक भी शब्द बोलना अपने प्राणों को संकट में डालना था। उन्होंने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का विवेक राजा के सुपुर्द करके उसके आदेश का पालन करना ही अपना कर्त्तव्य समझा। वे चुपचाप अनमने भाव से वहाँ से रवाना हुए।

उधर मुनि भिक्षा के लिए पर्यटन कर रहे थे। उन्हें साधु धर्म के अनुकूल भिक्षा नहीं मिल पाई थी कि जल्लाद उनके समीप जा पहुंचे। उन्होंने राजा का आदेश सुनाया और साथ ही सीधे श्मशान की ओर चलने को कहा।

कितना भयावह प्रसंग था मनुष्य मौत का नाम सुनते ही कांपने लगता है, परन्तु मौत का यह तरीका तो बड़ा ही भीषण था। फिर भी मुनिवर खंधक जरा भी विचलित नहीं हुए। पल भर के लिए भी उनके अन्तःकरण में कायरता का संचार न हुआ। दीनता उनके पास भी न फटकी। भय ने उन्हें व्याकुल न किया। यहां तक कि उनके चेहरे के भावों में भी कोई विशेष परिवर्तन न हुआ।

ऐसा होता भी क्यों? जिस महापुरुष ने अपने आपको शरीर से सर्वथा भिन्न मान लिया हो, जिसने अपने अमर स्वरूप की प्रतीति कर ली हो, जो शरीर को आत्मा का कारागर

समझता हो, वह शरीर के नष्ट होने पर क्यों आकुल-व्याकुल होगा ?

मुनिराज भलीभांति जानते थे कि राजा के इस आदेश का तात्कालिक कोई कारण नहीं है। फिर भी कारण के बिना कार्य होता नहीं, इस न्याय के अनुसार कोई कारण होना अवश्य चाहिए। वह किसी पिछले जन्म की घटना ही हो सकती है। जो हो, पर आज चिरकाल से चढ़ा कर्ज उतर रहा है, यह कोई अवांछनीय बात नहीं। आत्मा जितना हल्का हो जाय, अच्छा ही है,

मुनिराज फिर सोचने लगे—पुरूषसिंह मेरे संसार-अवस्था के संबंधी हैं। आदर्श संबंधी वही है जो अपने संबंधी की सहायता करता है। सचमुच वह मेरी सहायता कर रहे हैं। मेरी ममता के एक साधन को कम कर रहे हैं। मेरी साधना के फल को निकटतर लाने में सहायक हो रहे हैं। मुझे इतने दिनों के संयम-पालन का जो फल विलंब में मिलता, उनकी कृपा से आज ही मिल जायगा। इसमें रोष का कोई कारण नहीं, द्वेष की कोई बात नहीं।

इस प्रकार विचार करते हुए मुनिराज श्मशान की ओर बढ़े चले जा रहे थे। उनकी भावना उच्च से उच्चतर और विशुद्ध से विशुद्धतर होती चली जा रही थी। इतने में श्मशान आ गया।

मुनिराज खंदक एक स्थान पर ठिठक गये। जल्लाद अपनी तैयारी करने लगे। मुनिराज ने उन पर करुणा का अमृत बरसाते हुए कहा—भाई तपस्या के कारण "इस शरीर का मांस सब सूख गया है। चमड़ी हाड़ों से चिपक गई है। इस

मड़ी को उधेड़ने में तुम्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा ! तुम्हारे ास्त्र तीखे तो हैं ?

जल्लाद इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ हो गये। उनके कलेजे में जैसे तीर चुभा हो ! जीवित शरीर की चमड़ी उधेड़ने वाले जल्लादों के प्रति मुनि की यह करुणा ! जल्लादों के हृदय में शूल भिदने लगे। उनके नेत्रों से धारा बहने लगी। मुनिराज के चरणों में लोट गये ! क्षण भर के लिए राजा के आदेश का उल्लंघन कर डालने की उनकी इच्छा हुई। पर कुटुम्ब............परिवार . ...बाल बच्चे !

और फिर मुनि की रक्षा तो असंभव है ! हम भी मारे जाएँगे, मुनि भी न बच सकेंगे ! यह विचार उनके आश्वासन का आधार बन गया।

मुनिराज खंदक यों तो दीक्षा के समय से ही शरीर ममता का परित्याग कर चुके थे; पर संयम में साधक जान कर उसे महीने भर में एक बार भाड़ा दे दिया करते थे। अब उन्होंने अन्तिम रूप से उससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया कायोत्सर्ग करके ध्यान में लीन हो गए। यह विचार करने लगे:—

कृमिजालशताकीर्णे, जर्जरे देहपञ्जरे।
भिद्यमाने न भेत्तव्यं, यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ॥

अर्थात्—सैकड़ों कीड़ों के समूह से व्याप्त देह नामक यह हाड़ों का पींजरा अगर भेदा जा रहा है तो भिदने दो ! हे आत्मन् ! तेरे लिए भय की क्या बात है ! तू तो ज्ञानमय देह वाला है !

इस प्रकार आत्मा और शरीर की भिन्नता का विचार करते हुए मुनिराज परमज्योति में तन्मय हो गए। जल्लादों ने

अपना कार्य आरंभ किया। मुनि मानों देह से अतीत हो गये थे। इनके मुख से उफ् तक नहीं निकला। सहिष्णुता, क्षमा, दया और विरक्ति की साक्षात् मूर्ति मुनिराज शान्ति में रमण करते रहे। इधर जल्लादों ने अपना काम समाप्त किया और उधर मुनि महाराज का कार्य भी समाप्त हो गया। उनकी साधना सम्पन्न हो गई। जिस अर्थ की सिद्धि के लिए उन्होंने दीक्षा अंगीकार की थी, तपस्या तपी थी, वह अर्थ-परमार्थ-सिद्ध हो गया। उनकी आत्मा समस्त विकारों, वासनाओं एवं कर्म से रहित होकर लोकोत्तर तथा शाश्वत सुखमय स्थान-मोक्ष में विराजमान हो गई।

कायर नर कष्टों से डरता है, विपत्ति से भयभीत होता है, संकटों से दूर भागता है। परिणाम यह होता है कि उसके जीवन का विकास रुक जाता है—ह्रास होता है। वीर पुरुष संकटों का सामना करते हैं। विपत्ति को सम्पत्ति समझ कर गले लगाते हैं। कष्टों के साथ जूझकर आत्मिक बल की वृद्धि करते हैं और उस बल से अपने आन्तरिक शत्रुओं को राग, द्वेष, मोह, अज्ञान आदि विकारों को निश्शेष करते हैं। आत्मविजेता महावीर विश्वविजेता—जगत्पूज्य बन जाते हैं। खंधक मुनि का उदाहरण हमारे सामने ज्वलंत प्रमाण है।

[२]

खंधक मुनि के पांच सौ शरीरक्षक सुभट निश्चिन्त होकर कुन्ती नगर की सैर कर रहे थे। लम्बे अर्से तक मुनि के साथ-साथ गाँव-गांव में पैदल भ्रमण करने के पश्चात् वे नगर में आए थे। फिर कुन्ती नगर मुनि के बहिनोई का नगर था, यहां मुनि के लिए किसी प्रकार के खतरे की संभावना ही नहीं थी। अतएव वे मुनि की ओर से सर्वथा चिन्ताहीन थे।

गए थे। इतनी बड़ी दुर्घटना हो तो रही पर उन्हें पता ही न चला।

पाप छिपाये ना छिपे, छिपे तो म्होटो भाग।
दाबी-दूबो ना रहे, रुई लपेटी आग ॥

मुनिहत्या से बढ़ कर पाप और क्या हो सकता है। जिस महात्मा ने जगत् से नाता तोड़ लिया, कंचन-कामिनी का परित्याग कर दिया, राजकुमार होकर अकिंचिनता का महाव्रत धारण किया, तीस दिन तपस्या करके एक दिन रूखी-सूखी भिक्षा लेकर निर्वाह किया, जिसने विश्व के प्राणी मात्र को मित्र माना, अपने दिव्य आचार-विचार से पथभ्रष्ट लोगों को सत्यपथ दिखलाया, वह अर्हंत भगवान् का अनुयायी परम अहिंसा एवं करुणा का सागर इस प्रकार निर्दयता पूर्वक मारा जाय, यह चरम सीमा का पाप था। भला यह जघन्यतम कैसे छिपा रह सकता था।

मुनि की चमड़ी उधेड़ी ही गई थी कि उसी समय यह दुस्संवाद सारे नगर में फैल गया। तहलका मच गया। अनार्य देश में भी जो कुकृत्य नहीं होता, वह कुन्ती नगर में हो गया। वह भी राजा की आज्ञा से। हाय, न जाने राजा को क्या सूझी।

जहां जाओ वहीं यही एक चर्चा। सर्वत्र हाहाकार मच गया। नागरिक जन कांप उठे और घोर अनिष्ट की आशंका करने लगे। मगर यह किसी को पता नहीं था कि मुनिराज वास्तव में कौन थे ?

मुनिराज खंदक परमवैरागी मस्त साधु थे। कब पहुंचते और कब कहां से प्रस्थान कर जाते, बहुतों को

न चलता था। मासखमरण की तपस्या के कारण उनका वस्ती में प्रायः जाना नहीं होता था। यही कारण था कि उनकी बहिन और बहिनोई को भी उनके आने का पता नहीं चला था।

नगर में विद्युद्वेग से जब यह समाचार फैल गया तो उन सुभटों को भी पता चला। पता चलते ही वे पुरुषसिंह के दरबार में पहुँचे। उन्होंने मुनि का परिचय देते हुए सारा वृत्तान्त बतलाया। पुरुषसिंह को सुभटों के मुख से यह जानकर अत्यन्त ही दुःख हुआ। उसके मर्म को तीव्र आघात पहुँचा। वह अपनी करतूत के लिए पश्चाताप करने लगा और अपने आपको बार-बार धिक्कारने लगा। परन्तु 'यदतीतमतीतमेव तत्' अर्थात् जो हो चुका सो हो चुका। मनुष्य को चाहिए कि वह किसी कार्य को आरम्भ करने से पहले भली भांति विचार करे—उसके फल-अफल की मीमांसा कर ले और तत्पश्चात् ही कार्य को आरम्भ करे।

रानी सुनन्दा के कानों तक भी यह वज्र-संवाद पहुंचा। वह अपने भाई को बहुत चाहती थी। जब उसे ज्ञात हुआ कि मेरे निरपराध, मुनि बने भाई की मेरे पति द्वारा हत्या करवा दी गई है, तो उसके शोक और संताप की सीमा न रही। उसे इतना तीव्र आघात लगा कि वह सहन न कर सकी। मूर्छित सी हो गई। वह विसूर-विसूर कर रोने लगी। उस समय की सुनन्दा की मानसिक स्थिति का चित्रण करना असंभव है। बन्धु निधन का अपार शोक उसके कलेजे को काट रहा था। साथ ही उसे यह लज्जा भी व्याकुल कर रही थी कि उसका पति इस जघन्य पाप के लिए उत्तरदायी है। वह माता-पिता के सामने कैसे मुंह दिखलाएगी ! क्या कह कर उन्हें सान्त्वना

देगी ! वह अपने पति के इस घोर अपवाद को किस प्रकार सहन कर सकेगी !

वास्तव में इस घटना के कारण पुरुषसिंह अपनी प्रजा की दृष्टि में एकदम गिर गया था। दूसरों की बात जाने दीजिए, वह स्वयं अपनी ही दृष्टि में पतित हो चुका था। उसे महल से बाहर निकलने का साहस नहीं होता था। चाहता था, कोई मेरी सूरत न देखे ! किसी के साथ मेरी आँखें चार न हों ! उसे अपना पाप असह्य हो गया ! प्रजा में राजा के कुकृत्य की चर्चा थी। लोग उसे घोर पापी, अनार्य, अधर्मी और विचारहीन राक्षस के समान समझने लगे।

इसी अवसर पर धर्मघोष मुनि का शुभागमन हुआ। राजा-रानी को उनके दर्शनार्थ जाने में अत्यन्त संकोच और लज्जा का अनुभव हो रहा था। फिर भी साहस करके वह दर्शनार्थ गए। मुनिवर धर्मघोष से राजा ने अपने चित्त की सम्पूर्ण व्यथा निवेदन की। साथ ही प्रश्न किया-भगवन्, कृपा करके बतलाइए कि यह अविचारमय दुर्घटना किस प्रकार घटित हो सकी ? मेरे अन्तःकरण में यह पापमय प्रेरणा किस कारण उत्पन्न हुई ? मुनिराज स्कंधक मेरे स्नेह, सन्मान और भक्ति के पात्र थे। फिर उनके प्रति क्यों मेरे हृदय में घोर आवेश आया ? नाथ आप दिव्य ज्ञान के धारक है। अतीत-अनागत के ज्ञाता है। अतएव इस दुर्घटना का रहस्य समझाने की कृपा कीजिए।

मुनीन्द्र धर्मघोष ने अपने ज्ञान से जान कर कहा-राजन् कर्म का विपाक अमोघ है। उसको फलदायिनी शक्ति अप्रतिहत है। कर्म किसो का लिहाज़ नहीं रखता। जिसने तीर्थंकर जैसे महापुरुषों को-प्रकृष्ट पुण्यशाली असाधारण महानुभावों को-भी

नहीं छोड़ा, वह दूसरों को कैसे छोड़ सकता है ? मूल तथ्य यह है कि :—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।

अर्थात्—जिस प्राणी ने पहले शुभ या अशुभ जैसे कर्म उपार्जन किये हैं, उन्हीं का फल उसे भोगना पड़ता है।

एक प्राणी दूसरे प्राणी को सुखी-दुखी नहीं बना सकता। अगर आप दूसरे को सुख-दुख देते हैं तो उसके कर्म निरर्थक हो जाएँगे ! किन्तु ऐसा होना संभव नहीं। सारा जीव जगत् कर्मों के कांटे पर तुल रहा है। सभी अपने पूर्वकृत कर्मों के फल वशीभूत हैं। दूसरे लोग निमित्त मात्र है-बाह्य कारण हैं। सुख और दुःख का असली एवं आन्तरिक कारण तो वह स्वयं ही है। भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि :—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

अर्थात्—आत्मा अपने दुःखों एवं सुखों का आप ही सृष्टा है और आप विनाशकर्त्ता हैं।

खंधक मुनि के प्रति तुम्हारा जो व्यवहार हुआ है उसका आन्तरिक कारण भी कर्म हो है। किसी पूर्व भव में तुम काचरे के जीव थे-एकेन्द्रिय वनस्पतिकाय ! खंधक मुनि का जीव राजकुमार था। उन्होंने अत्यन्त आसक्ति और प्रसन्नता के साथ काचरे का छिलका उतारा था। उस समय राजकुमार ने अपनी तीव्र आसक्ति एवं विशिष्ट भावना के द्वारा घोर निकाचित कर्म का वन्ध किया। राजन् ! इस भव में उनकी चमड़ी उधड़वा कर तुमने उस समय का वदला लिया है ! अथवा यों कहना चाहिए कि उस जन्म में बाँधे हुए कर्म का

फल उन्हें इस भव में भोगना पड़ा है ! यहाँ भी "इस हाथ दे उस हाथ ले" की कहावत चरितार्थ हुई है !

गृहस्थावस्था में मनुष्य को नाना प्रकार के आरंभ-समारंभ करने पड़ते हैं, षट् काय के जीवों का घात करना पड़ता है, किन्तु उसका फल सबको समान नहीं होता। इसका प्रधान कारण भावना की भिन्नता है। जो पाप अत्यन्त अनुराग, हर्ष और प्रसन्नता के साथ किया जाता है, उसका फल तीव्र रूप में प्राप्त होता है। मन्द भाव से, विवशता की प्रेरणा से किये गये पाप का परिणाम तीव्र नहीं होता। अतएव विवेकशील जनों का कर्त्तव्य है कि वे उग्र अध्यवसायों से बचें। जहां तक संभव हो, निष्पाय जीवन व्यतीत करें।

गाढा य विवाग कम्मुणो।

कर्म का फल गाढ़ा होता है। अतएव कर्म का उपार्जन करते समय यह न भूल जाएँ कि इसका फल अवश्य होगा और वह मुझे ही भुगतना पड़ेगा। इस प्रकार का विचार रखकर जो गृहस्थ अपना जीवन-व्यवहार चलाता है, वह अनेक उग्र पापों से अपनी आत्मा की रक्षा कर सकता है।

एक ही कार्य करने वाले दो पुरूष भावना की भिन्नता के कारण परस्पर विरोधी फलों के भोक्ता बन जाते हैं। अतएव मनुष्य को सदैव अपनी भावना को सँभाले रहना चाहिए।

मुनिराज धर्मघोष के मुखारविन्द से यह स्पष्टीकरण सुनकर राजा पुरूषसिंह को सान्त्वना मिली पर उन्होंने सोचा— काचरे की छाल उतारने वाले के शरीर की चमड़ी उतारी गई तो मुनि के शरीर की चमड़ी उतरवाने वाले की क्या दशा होगी ? यह प्रश्न मन में उठते ही उनका हृदय काँप उठा !

मगर दूसरे ही क्षण उन्होंने निश्चय कर लिया कि जो कर्म आत्मा को इस प्रकार परेशान करते हैं, उन्हें ही जीतने का प्रयास क्यों न किया जाय ?

बस, यह विचार आते ही राजा को विरक्ति हो गई। उसने कर्मों का ध्वंस करने के लिए मुनिराज की शरण ली। संसार-त्याग कर वह मुनि बन गये। महारानी सुनन्दा ने भी उसी समय साध्वी-दीक्षा अंगीकार कर ली। मुनिराज खंधक के शरीररक्षक सुभटों ने भी वापिस लौटना योग्य न समझा। वे भी परमभगवत धर्म को अंगीकार करके आत्मकल्याण में लीन हो गए।

इस प्रकार मुनि खंधक के निमित्त से अनेक भव्यजीव सन्मार्ग पर आरूढ़ हुए।

卐

गजसुकुमार

बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि जिस कुल में उत्पन्न हुए थे, उसी कुल में श्रीकृष्णजी का जन्म हुआ था। गजसुकुमार भी इसी वंश की एक महान् विभूति थे। तीनों परस्पर भाई थे, परन्तु गजसुकुमार श्रीकृष्णजी के सगे भाई थे। महाराज वसुदेव उनके पिता और महारानी देवकी उनकी माता थी।

राजकुमार गजसुकुमार के जन्म की भी एक विशेष घटना है। महारानी देवकी सात पुत्रों को जन्म दे चुकी थीं, परन्तु इनमें से किसी भी बालक के लालन-पालन करने का सौभाग्य उन्हें नहीं मिला था। उन्होंने अपने कलेजे के टुकड़े

की तोतली बोली के अमृत का पान नहीं किया था और न किसी को अपनी ममतामयी गोदी में लेकर अपने हृदय का प्रेम-रस पिलाया था। उनके गुलाबी गालों को चूमने का अवसर, जिससे माता के हृदय को अत्यन्त तृप्ति मिलती है और जिसे पाकर नारी अपने मातृत्व की सार्थकता समझती है, देवकी रानी को यह नहीं मिल सका था। अतएव उनका हृदय ज्यों का त्यों प्यासा था।

पाठकों को पता ही है कि कृष्णजी जन्म लेते ही गोकुल में नन्द के घर पहुँचा दिये गये थे। उनकी बाल-लीलाओं का आनन्द नन्द और यशोदा ने लूटा था। शेष छह पुत्र जन्म होते ही हरिणगमेषी देव के द्वारा सुलसा के घर पहुँचा दिये गये थे और सुलसा के मृत उत्पन्न होने वाले बालक देवकी के पास रख दिये गये थे। इस प्रकार महारानी देवकी अपने शिशुओं की आनन्ददायिनी बाल चेष्टाओं के सुख से वंचित ही रह गई थीं।

देवकी को पहले पता नहीं था कि मेरे छह बालक, सुलसा के मृत बालकों से बदल दिये गये हैं। परन्तु एक दिन अचानक ही भगवान् अरिष्टनेमि के मुख से उन्हें यह घटना मालूम हो गई। वे छहों बालक एक ही साँचे में ढले बड़े ही सुन्दर थे और भगवान् के अन्तेवासी साधु बन चुके थे। साधु अवस्था में ही पहले-पहल देवकी ने उनके दर्शन किए।

जब महारानी को अपने पुत्रों की अदला बदली का हाल मालूम हुआ तो उससे उसका कोमल हृदय सन्तप्त हो उठा। उनका मातृत्व पुनः जाग उठा। अन्तःकरण ने विद्रोह कर दिया। शिशु का पालन-पोषण न कर सकने की उनकी नारी-सुलभ लालसा मचल उठी। वह अत्यन्त शोक से आकुल हो

उठीं। उन्हें अपना गृहस्थजीवन और मातृत्व निष्फल दिखाई देने लगा।

श्रीकृष्णजी अपने समय के अद्वितीय राजा, असाधारण राजनीतिज्ञ, अत्यन्त प्रतिष्ठित और सन्मानीय पुरुष थे। राजनीति के क्षेत्र में उनसे टक्कर लेने वाला कोई दूसरा व्यक्ति नहीं था। वे तीन खंड के नाथ थे। असीम वैभव से सम्पन्न थे। बड़े-बड़े शूरवीर राजा-महाराजा उनके सामने थर-थर कांपते थे और उनकी प्रसन्नता में ही अपनी कुशलता समझते थे। रण-सूरमा उनके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते थे। वास्तव में उनका प्रताप अद्वितीय था। उनकी धाक असाधारण थी।

कृष्णजी अपने युग के एक महापुरुष थे। महापुरुषों में अनेक विशेषताएं होती हैं और वे इन महापुरुष में भी मौजूद थी। उनमें से एक विशेषता यह भी थी कि वे अपने माता-पिता के अत्यन्त भक्त और सेवक थे। लोक में मिलने वाले मान-सन्मान ने उन्हें अभिमानी नहीं बनाया था। वे प्रतिदिन, प्रातःकाल माता-पिता के चरणों में नम्रतापूर्वक प्रणाम करने के लिए उनके पास जाया करते थे।

नित्य के नियम के अनुसार कृष्णजी उस दिन भी अपनी माता देवकी के चरण छूने गए। पर यह क्या ? माता का उदास चेहरा देखकर उनके अचरज का ठिकाना न रहा। तीन खण्ड के नाथ की माता और यह उदासी। कृष्णजी हक्के-बक्के रह गए।

उधर कृष्णजी को अपने सामने देखकर देवकी की हृदय-वेदना उमड़ पड़ी। आंखें गीली हो गईं। कृष्णजी के लिए माता की यह वेदना असह्य हुई। उन्होंने चरण छूकर प्रणाम किया और कहा—माताजी, प्रतिदिन आपके चेहरे पर जो

सन्तुष्टि और प्रसन्नता दिखाई देती थी, आज वह कहां है? मेरे रहते आपको क्या कष्ट है? कहिए, मैं प्राणों की बाजी लगाकर भी आपको प्रसन्न करूंगा।

देवकी महारानी असमंजस में पड़ गई। क्या कहें और क्या न कहें, वही उनकी दुविधा थी। पर कृष्णजी कब मानने वाले थे? उनके आग्रह करने पर देवकीजी को अपना अन्तस खोलना पड़ा। उन्होंने कहा—बेटा, मैंने सात पुत्र-रत्नों की माता होने का गौरव पाया पर मेरा मातृत्व निष्फल ही रहा। इस जीवन में मैंने मातृधर्म पालन करने का अनूठा आनन्द न उठा पाया। मेरी यह लालसा ज्यों की त्यों रह गई। मातृत्व की प्यास न बुझ पाई। यही प्यास आज मेरे हृदय को व्याकुल कर रही है। मैं भाग्यशालिनी होकर भी कितनी अभागिनी हूँ कि अपने किसी शिशु की शिशुक्रीड़ा का आनन्द भी न ले सकी यही सोच कर आज दिल उमड़ आया। जब से अपूर्व सुन्दर तेरे छह भाइयों को मुनि के वेष में देखा है, तभी से हृदय बेचैन हो रहा है।

कृष्णजी अपनी माता की वेदना को समझ गए। उनके जैसे सामर्थ्यशाली पुरुष के लिए कोई कार्य कठिन नहीं था। देवता जिनके वशीभूत हों, सेवक हों, उनके लिए कौन-सा कार्य असंभव हो सकता है?

कृष्णजी माता देवकी से विदा लेकर अपनी पोषधशाला में आए और तेला की तपस्या करके बैठ गए। उन्होंने देवता का स्मरण किया। तपस्या में अपूर्व शक्ति है। तपस्या की शक्ति कल्पना और बुद्धि से भी परे है। तपस्या से इन्द्र का भी सिंहासन डोल उठता है। 'तपसा किं लभ्यते?' अर्थात् इस संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो तप के द्वारा प्राप्त न की

जा सके ? जिस तप के प्रभाव से अनादिकाल से चले आने वाले आत्मा के विकार पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं; और जो तप आत्मा को परमात्मा के परमोध पद तक पहुँचाने की क्षमता वाला है, इससे लौकिक कामनाओं की पूर्ति हो जाने में क्या आश्चर्य है ? किसी ने यथार्थ ही कहा है:—

यत् किञ्चित् त्रिषु लोकेषु, प्रार्थयन्ति नराः सुखम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम्॥

अर्थात्—मनुष्य तीन लोक के जिस किसी भी सुख की कामना करते हैं, वह सब तपस्या के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। संसार में कोई ऐसा सुख नहीं जो तप से प्राप्त न हो सके। तप की शक्ति अमोघ है—वह कदापि निष्फल नहीं होती।

तप के प्रभाव से देवता का आगमन हुआ और वासुदेव कृष्ण ने उससे अपने लिए एक भाई की माँग की। देव 'तथास्तु' कह कर अन्तर्ध्यान हो गया।

राजकुमार गजसुकुमार के जन्म का यही इतिहास है। माता देवकी के मातृत्व की मांग से तथा श्रीकृष्णजी की तपस्या के प्रभाव से राजकुमार का जन्म हुआ। पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं कि जिन परिस्थितियों में गजसुकुमार का जन्म हुआ, उनमें किस धूमधाम से उनका जन्मोत्सव मनाया गया होगा और किस अपूर्व लाड़-प्यार से उनका लालन-पालन हुआ होगा ! वास्तव में माता देवकी ने अपने सारे अरमान पूरे कर लिए। बड़े ही चाव से और बड़े ही भाव से कुमार का पालन-पोषण किया गया।

कुमार अत्यन्त सुन्दर थे और साथ ही सुकुमार भी।

कहते हैं, उनकी कोमलता गज (हाथी) के तालु के समान थी। इसी कारण उनका सार्थक नाम 'गजसुकुमार' रक्खा गया।

महाराज वसुदेव, माता देवकी और ज्येष्ठ भ्राता श्री कृष्ण के अपूर्व वात्सल्य-रस का पान करते हुए गजसुकुमार दूज के चांद की तरह बढ़ने लगे। नित्य नई कलाएँ बिखेरते हुए वे अपने परिवार को परम आह्लाद पहुँचाने लगे। उनकी सुन्दर और बालसुलभ सूरत देख कर अन्य दर्शक मुग्ध हो जाते थे तो माता-पिता आदि का तो कहना ही क्या है ?

धीरे-धीरे बाल्यावस्था पार करके वे युवावस्था में प्रविष्ट हुए। महाराज श्री कृष्ण की देखरेख में वे शास्त्रविद्या और शास्त्रविद्या में निपुण हो चुके थे। पुरूषों के लिए निर्धारित ७२ कलाओं में उन्होंने निपुणता प्राप्त कर ली थी।

इसी समय भगवान् अरिष्टनेमि देश देशान्तर में परि-भ्रमण करते हुए और भव्यजीवों का आत्मकल्याण का प्रशस्त एवं पावन पथ प्रदर्शित करते हुए द्वारिका नगरी में पधारे। द्वारिका नगरी उन समय बहुत विशाल थी। बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी बसी हुई थी। अतएव विराट जनसमूह भगवान् के दर्शन करने तथा उनके मुखारविन्द से उपदेश सुनने के लिए उमड़ पड़ा। कृष्णजी भी कब पीछे रहते थे। वे भी भगवान् के दर्शन के लिए अपने लघु बन्धु गजसुकुमार के साथ रवाना हुए।

मार्ग में उन्हें एक कन्या दिखलाई पड़ी। कन्या अत्यन्त सुन्दरी और शुभलक्षणों से सम्पन्न थी। वह गेंद खेल रही थी। नज़र पड़ते ही कृष्णजी का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। पूछताछ करने पर पता चला कि वह सोमल एक गरीब ब्राह्मण

की कन्या है। कुमार गजसुकुमार अब विवाह के योग्य हो चुके थे। कृष्णजी सुयोग्य कन्या की खोज में ही थे। उन्हें यह कन्या गजसुकुमार के योग्य प्रतीत हुई। उस ब्राह्मण से उस कन्या की मंगनी की। ब्राह्मण ने हर्ष के साथ द्वारिकाधीश की मांग स्वीकार कर ली। उसी समय कन्या कुंआरी-अन्तःपुर में भेज दी गई।

यह घटना उस समय की सामाजिक-प्रथाओं को समझने के लिए बहुत उपयोगी है। कृष्णजी यदुवंशी क्षत्रिय थे और कन्या ब्राह्मण वर्ण की थी फिर भी उसके साथ गजसुकुमार का संबंध होने में न कृष्णजी को एतराज़ हुआ, न कन्या के पिता को ही। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उस ज़माने में विवाह-संबंधी के लिए आजकल की तरह संकीर्ण दायरा नहीं था। विभिन्न वर्ग वाले आपस में विवाह-संबंध करते थे। आज जो जातियाँ और उपजातियाँ बन गई हैं, वे उस समय नहीं थीं। प्रत्येक को विशाल क्षेत्र में से अपने योग्य वर या कन्या का चुनाव करने का अधिकार प्राप्त था।

इस कथा से एक महत्त्वपूर्ण बात और हमारे सामने आती है। कृष्णजी तीन खण्ड के नाथ थे, अर्धचक्रवर्त्ती थे। हजारों राजा उनके दास थे। विराट वैभव उनके चरणों में लोटता था। वे चाहते तो उस समय के बड़े से बड़े राजा की कन्या को गजसुकुमार के लिए मांग सकते थे। अपनी कन्या देने में वह राजा भी अपना अहोभाग्य समझता। परन्तु श्रीकृष्ण महाराज ने राजकन्या के बदले एक मामूली ब्राह्मण की कन्या पसन्द की। यह घटना बतलाती है कि उस समय विवाह-संबंध गुणों के आधार पर होते थे, धन के आधार पर नहीं। अर्थात् वरपक्ष कन्या के गुणों को देखता था और कन्या-

पक्ष वर के गुणों को देखता था। दोनों गुणवान् होते तो उनका विवाह-संबंध हो जाता था। सधनता और निर्धनता उस समय योग्यता और अयोग्यता का चिह्न नहीं था। आज यह परिस्थिति एक दम ही बदल गई है!

आज भारतीय जनसमाज का इतना अधः पतन हो गया है कि वह धन के सिवाय खास तौर से विवाह-शादी के मामले में अन्य सब चीजों को अर्थात् कुलीनता, संस्कारिता, शिक्षा आदि को नगण्य समझता है। लड़के का अभिभावक धनवान् की लड़की के साथ ही अपने लड़के का संबंध करना चाहता है और उससे बदले में सोने की मांग करता है। वह एक प्रकार से अपने लड़के को बेचता है। ऐसा करते समय वह कन्या के गुण-अवगुण का या शिक्षा-अशिक्षा का विचार नहीं करता। लड़का चाहे सुशिक्षित हो किन्तु धनवान् की लड़की से ही उसका विवाह होगा, चाहे वह एकदम अशिक्षित ही क्यों न हो? लड़की के पिता से धन की मँगनी करके सम्बन्ध करना लड़की का घोर अपमान है। इस प्रकार धन पर नजर रख कर जो विवाह संबंध किये जाते हैं, अकसर वे अनमेल विवाह होते हैं। दम्पती की रुचि और प्रकृति बेमेल होती है तो दोनों का जीवन अशान्त, नीरस एवं भाररूप हो जाता है। परन्तु धन की प्रधानता होने से आज जीवन की सुख शान्ति की घोर उपेक्षा हो रही है। धन को उचित से अधिक महत्व देने के कारण आज समाज में भयानक पाप बढ़ते जा रहे हैं। पर इस ओर कौन ध्यान देता है?

धन्य है अर्धचक्रवर्त्ती महाराज श्रीकृष्ण। जिन्होंने धन का तनिक भी विचार न करके, केवल सद्गुण को ही देख कर एक गरीब ब्राह्मण की कन्या को अपने प्रिय लघुभ्राता गजसु-

कुमार के लिए पसंद किया ! वे गुण के ग्राहक थे, मनुष्यता के पुजारी थे ! उन्होंने ऐसा करके भावी सन्तान के सामने एक बहुमूल्य आदर्श उपस्थित किया। इस कथा से यह जान पड़ता है कि धन की अपेक्षा जन का बहुत मूल्य है। जो लोग धन के लोलुप हैं और जिन्हें धन ही परमात्मा प्रतीत होता है, जो धन के लिए मनुष्यता का भी परित्याग कर सकते हैं, वे पुद्गलानन्दी हैं, मूढ़ हैं, बहिरात्मा हैं, दया के पात्र हैं।

हाँ, तो ब्राह्मण की उस कन्या को कुमारी अन्तःपुर में भेज देने की आज्ञा देकर कृष्ण जी गजसुकुमार के साथ अरिष्टनेमि भगवान् की उपासना के लिए आगे चले गए।

पहले ही बतलाया जा चुका है कि भगवान् जन-कोलाहल से शून्य, एकान्त शान्त एवं रमणीय उद्यान में, जो नगरी के बाह्य भाग में अवस्थित था, विराजमान थे। सहस्रों नरनारियाँ त्रिलोकपूजित महाप्रभु अरिष्टनेमि की सेवा में उपस्थित थे। कृष्ण जी भी उसी परिषद् में जाकर सम्मिलित हो गए। उपदेशका समय हो चुका था। प्रभु ने फर्माया:—

संसार के समस्त प्राणी सुख के अभिलाषी हैं। कीड़ों से लेकर कुंजर तक, मनुष्यों से लगा कर देवों तक क्या बड़े और क्या छोटे—सब सुख प्राप्त करना चाहते हैं। छोटे से छोटे कीट की चेष्टाओं को देखो अथवा बड़े से बड़े ज्ञानी महात्मा की साधना को देखो, प्रत्येक की प्रवृत्ति के मूल में एक मात्र सुख की अभिलाषाही दृष्टिगोचर होती है। इस तरह सुख की अभिलाषा करने पर भी और सुख के लिए निरन्तर चेष्टा करने करते पर भी सब जीव सुखी नहीं हो पाते। इसके कारण पर विचार करना आवश्यक है।

कारण यह है कि अधिकांश जीव सुख के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। वास्तविक सुख क्या है? उसे प्राप्त करने का उपाय क्या है? और सुख का आधार क्या है? इन बातों का सम्यग्ज्ञान न होने से ही जीव सुख से वंचित रह जाते हैं। अज्ञान मनुष्य पौद्गलिक पदार्थों में सुख मानता है और सुखी बनने के लिए उनका संसर्ग जुटाता है। यही उसकी असफलता का कारण है। वास्तविक सुख आत्मा में ही है; क्योंकि वह आत्मा का गुण है। पर लोग पर-पदार्थों में उसकी खोज करते हैं। किन्तु पर- पदार्थों का संयोग उलटा दुःख का कारण है। वह आकुलता को उत्पन्न करता है पर-पदार्थों का संयोग और ममत्व ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा, आकुलता बढ़ती जायगी और ज्यों-ज्यों आकुलता वढ़ती जायगी. त्यों-त्यों सुख का विनाश होकर दुःख बढ़ता जायगा। सच्चे सुख की प्राप्ति का साधन पर-पदार्थों से ममत्व को हटाना है। जितने-जितने अंशो में ममत्व घटता जायगा- उतने ही उतने अंशो में सुख बढ़ता जायगा।

सुख की प्राप्ति का यही एक मात्र मार्ग है। अतएव जो भव्य जीव वास्तविक मुख को प्राप्त करने के लिए उत्सुक हैं। उन्हें विरक्ति एवं निवृत्ति-पथ का पथिक बनना चाहिये।

भगवान् अरिष्टनेमि की यह देशना श्रवण कर गजसुकुमार ने विचार किया-भगवान् वीतराग और सर्वज्ञ हैं। उनकी वाणी अन्यथा नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त उनके इस कथन की सत्यता स्वानुभव से भी सिद्ध है। वास्तव में सच्चा सुख विरक्ति में है-आत्मा से भिन्न पर-पदार्थों का परित्याग करने में है। पर हम भोगोपभोग की सामग्री में ही सुख समझ रहे हैं! अभी मैं अविवाहित होने के कारण उतना बन्धन-बद्ध

नहीं हूँ, परन्तु मेरे विवाह की तैयारी हो रही है और मैं कठोर बन्धनों में फँसने को तैयार हो रहा हूँ। मेरे लिये यही श्रेयस्कर होगा कि मैं अभी त्याग-मार्ग को ग्रहण कर लूं और प्रवृत्ति-मार्ग से विमुख हो जाऊँ।

इस प्रकार विचार कर गजसुकुमार ने खड़े होकर भगवान् के समक्ष निवेदन किया—'परमपावन प्रभो ! आपकी देशना सर्वथा सत्य है, पथ्य है और तथ्य है। मेरे रोम-रोम में वह रम गई है। वह मुझे अत्यन्त रूचिकर लगी है। मैं वास्तविक सुख को प्राप्त करने के लिए आपकी चरण-शरण ग्रहण करना चाहता हूँ। भंते ! आप ही भव-भय के भंजनहार हैं। इस तुच्छ दास को अपनाइए और इसका उद्धार कीजिए। मैं निर्ग्रन्थ-धर्म को अंगीकार करना चाहता हूं।'

भगवान्—'जहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।' अर्थात्—हे देवों के प्यारे ! जिस प्रकार सुख हो वही करो; उसमें ढील न करो। परन्तु माता-पिता आदि गुरूजनों की अनुमति प्राप्त किये बिना आये बैरागी को दीक्षित करना तीर्थंकर का धर्म नहीं है। तुम अनुमति लेकर निर्ग्रन्थ दीक्षा अंगीकार कर सकते हो।

इन शब्दों से भगवान् की अनुमति पाकर कुमार घर लौटे। माता-पिता से दीक्षा की अनुमति मांगी। किन्तु गजसुकुमार सब को अत्यन्त प्रिय थे। अतएव उनके माता-पिता कुमार की बात सुनकर अत्यन्त खिन्न और दुखी हुए। उन्होंने कुमार को समझाने के लिए भरसक प्रयत्न किया, परन्तु कुमार पर तनिक भी असर न पड़ा। महान् आत्माओं का संकल्प बड़ा सुदृढ़ होता है। जब वे संकल्प कर लेते हैं तो संसार की कोई भी

शक्ति उन्हें विचलित नहीं कर सकती। गजसुकुमार का संकल्प ऐसा ही था।

माता-पिता जब कुमार को समझाने-बुझाने में समर्थ न हो सके तब ममता से प्रेरित होकर उन्होंने कहा-वत्स, यदि मुनि-दीक्षा अंगीकार करनी ही है तो हमारी एक छोटी-सी बात मान लो। एक दिन के लिए राज सिंहासन पर आसीन हो जाओ। राज्य का सुख भोग लो। फिर जैसी इच्छा हो सो करना।

गजसुकुमार माता-पिता के इस आग्रह को न टाल सके। उनके कोमल हृदय में करुणा का संचार हुआ और उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। धूमधाम के साथ उनका राज्याभिषेक हुआ। फिर भी गजसुकुमार तो अन्तस से अलिप्त हो रहे। उनके हृदय में वह विशाल राज्य किंचित् भी आकर्षक उत्पन्न न कर सका।

दूसरे दिन माता-पिता आदि ने खूब समारोह के साथ उनकी दीक्षा करवाई, दीक्षीत होते ही, उसी दीन विशिष्ट तपः-साधन करने के हेतु गजसुकुमार मुनि अकेले ही महकाल नामक अत्यन्त भयानक श्मशान में चले गए। वहाँ उन्होंने भिक्षु की बारहवीं पडिमा अंगोकार की ध्यानारूढ़ होकर खड़े रहे। संध्या हुई और श्मशान की भयंकरता बढ़ने लगी। दिन में ही उधर कोई बिरला ही मनुष्य जाता था। ऐसी दशा में संध्या को कौन जाता? अतएव वह प्रदेश सर्वथा जनहीन हो गयाथा। आसपास की गंभीर और नीरव शान्ति ने मुनि की शान्ति को और भी बढ़ा दिया।

श्मशान के प्रति लोगों में भय की भावना होती है। फिर

महाकाल श्मशान तो बड़ा ही भयंकर था किन्तु भय एक प्रकार की चित्त की दुर्बलता मात्र है जिसके चित्त में दुर्बलता नहीं है, उसके लिए भवन और श्मशान समान ही हैं। जो मनुष्य मूढ़ता वश शरीर को ही आत्मा समझता है, शरीर की क्षति को आत्मा की क्षति मानता है, जो शरीर में अहं और मम का भाव रखता है, जिसने तलवार और म्यान के समान आत्मा एवं शरीर का अन्तर नहीं समझ पाया है, उसी के चित्त में दुर्बलता होती है। इसके विपरीत जिसका देहाध्यास छूट गया है, जिसने अजर-अमर अविनाशी आत्मा के स्वरूप को समझ लिया है, उसके हृदय में भयका संचार नहीं होता। वह भलीभाँति जानता है की मेरी आत्मा चिदानन्दमय है, ज्योतिस्वरूप है, अमूर्त और अविनाशी है, उसका कोई कुछ भी नही विगाड़ सकता। शस्त्र से उसका छेदन-भेदन संभव नहीं है। संसार का कोई भी पदार्थ उसे लेश मात्र भी विकृत नहीं कर सकता। गजसुकुमार मुनि अन्तरात्मा थे। वे शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव कर रहे थे। अतएव उन्हें किसी भी प्रकार का भय नहीं था। भय होता तो स्वेच्छा से वे वहाँ क्यों जाते ?

गजसुकुमार मुनि श्मशान में ध्यान कर थे, यह कहना व्यवहार मात्र है। वस्तुतः वे अपनी ही आत्मा में लीन थे। आत्मा रूपी निर्मल सरोवर में लीन थे।

जिस ब्राह्मण की कन्या के साथ गजसुकुमार का सम्बन्ध होने वाला था, उसका नाम सोमिल था। होनहार की बात है कि सोमिल यज्ञ के लिए समिधा की खोज करता हुआ उधर ही जा पहुँचा। गजसुकुमार मुनि पर उसकी दृष्टि पड़ गई। उसने मुनि को पहचान लिया। पहचानने के साथ ही उसका हृदय क्रोध की आग से सन्तप्त हो उठा। क्रोध मनुष्य को

पागल-बेभान बना देता है। क्रोध की अवस्था में हित-अहित का, उचित-अनुचित का, तनिक भी भान नहीं रहता। ब्राह्मण सोमिल आपे से बाहर हो गया। वह अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को भूल गया।

सोमिल ने पहले तो मुनि से अनेक अपशब्द कहे। वह बोला—'अरे ढोंगी, पाखण्डी, तेरा यह आडम्बर ! साधु ही बनना था तो मेरी कन्या के साथ विवाह करने को क्यों तैयार हुआ था ? जब विवाह करने को तैयार हुआ था तो बिना कारण उसका परित्याग करके क्यों चला आया ? क्यों मेरी कन्या की विडम्बना की ? तू राजमद में अन्धा होकर समझता है कि मेरे जैसे गरीब तेरा क्या बिगाड़ सकते हैं ? परन्तु तू ब्राह्मण के कोप को नहीं समझता। जब ब्राह्मण कुपित होता है तो वह चाण्डाल से भी बढ़कर, साँप से भी अधिक भयंकर हो जाता है ! वह मानवतन में पिशाच बन जाता है। अपने इस कथन की सच्चाई, मैं स्वयं सिद्ध करके बतलाता हूँ। तू ने मेरा और मेरी कन्या का अपमान किया है। मैं उसका भरपूर बदला लूंगा ! तेरी मूर्खता का फल तुझे अभी चखाता हूँ।'

ब्राह्मण सोमिल क्रोध से काँप रहा। उसकी आँखों में खून चढ़ आया। होठ फड़कने लगे। उसका चेहरा विकृत हो उठा। क्रोध की भयंकर आग ने उसके विवेक को भस्म कर दिया। वह पास के एक जलाशय के पास गया। वहाँ से कुछ गीली और चिकनी मिट्टी ले आया। उस पिशाच ने मुनि के सिर पर मिट्टी की पाल बनाई। मुनि का मस्तक सिगड़ी के समान दिखाई देने लगा।

तत्पश्चात् वह पास में जलती चिता से धधकते हुए अंगारे उठा लाया और मुनिराज के मस्तक पर उँडेल दिये।

यह सब करके ब्राह्मण ने अट्टहास किया, मानों कोई अपूर्व सफलता प्राप्त कर ली हो !

कोमलगात गजसुकुमार मुनि की खोपड़ी धीरे-धीरे जलने लगी। आह, उस दृश्य की कल्पना मात्र आज भी हमारे हृदय को कम्पित कर देती है। शरीर में रोमांच हो जाता है! परन्तु मुनिराज पूर्ण प्रशमभाव में निमग्न थे। उनके अन्तःकरण में अपूर्व क्षमा थी। सोमिल के प्रति उनके हृदय में क्रोध नहीं, करुणा थी। वे सोचने लगे—बेचारा अज्ञान प्राणी! अपना ही अकल्याण कर रहा है! मुझे मारने के विचार से आप ही मर रहा है! मैं अमर हो रहा हूँ और यह मरने की तैयारी कर रहा है! इसे सुबुद्धि प्राप्त हो!

मुनिराज आगे सोचते हैं—सोमिल मेरा अपकार नहीं, उपकार कर रहा है। मेरी साधना का फल, जो देर से प्राप्त होने वाला था, उसे सन्निकट ला रहा है। मुझे इसका कृतज्ञ होना चाहिए।

उधर खोपड़ी जल रही थी। उसमें से गरम-गरम रक्त की धारा प्रवाहित होने लगी, पर मुनिराज अपने ध्यान से विचलित न हुए। उन्होंने इस दुस्सह परीषह को पूर्ण शान्त भाव से सहन कर लिया। वे पूरी तरह शरीराध्यास से मुक्त होकर शुद्धात्मस्वरूप में निमग्न हो गए। धीरे-धीरे क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर, परम शुक्लध्यान करते हुए, घनघातिया कर्मों का क्षय करके, थोड़ी-सी देर में ही समस्त शेष कर्मों का अन्त करके सिद्ध-बुद्ध अवस्था को प्राप्त हुए।

मुनिराज गजसुकुमार की यह कथा अद्भुत क्षमा, अपूर्व सहिष्णुता और असाधारण वीरता का सजीव बोध-पाठ है। युग-युग में इससे मानव जाति को स्पृहणीय शिक्षा मिलती

रहेगी। यह कथा भारतीय साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। अपकार करने वाले के प्रति कैसी भावना रखनी चाहिए और प्राणान्तक कष्ट आ पड़ने पर भी किस प्रकार शान्ति, उदारता एवं सहिष्णुता की रक्षा करनी चाहिए, यही इस कथा का रहस्य है। जो मनुष्य अपने जीवन को इस पावन कथा के सांचे में ढालने का प्रयत्न करेगा, निस्सन्देह वह सब प्रकार के दुःखों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सकेगा।

卐

घड़ी

आजकल घड़ियों का इतना अधिक प्रचलन हो गया है कि उसका परिचय देने की आवश्यकता प्रतीत होती । आज हमारा जीवन ही इस ढंग का बन गया है कि घड़ी के बिना प्रायः काम ही नहीं चलता। सफर करना हो तो रेलगाड़ी के आने और छूटने का समय मालूम होना चाहिए। न मालूम हो तो या तो घंटों पहले पहुँच कर समय नष्ट करो या देर से पहुंच कर गाड़ी चूको! आजकल किराये की मोटरें भी प्रायः नियत समय पर रवाना होती है। उनकी रवानगी का समय भी मालूम होना चाहिए। समय मालूम हो जाने पर अगर हमारे पास घड़ी नहीं है तो कैसे पता चलेगा कि कब वह नियत समय आ रहा है? उसे जानने का उपाय तो घड़ी ही है। घड़ी पास में हो तो ठीक समय पर सब काम किये जा सकते हैं और समय की काफी बचत की जा सकती है। घड़ी होने से अनेक परेशानियां कम हो जाती हैं।

आजकल आभूषण के रूप में भी घड़ी का उपयोग होने

लगा है। अनेक पुरुषों और स्त्रियों की कलाई पर बँधी हुई घड़ियां शोभा के लिये होती हैं। भले हो वे शोभा के लिए हों और लगाने वालों की शोभा बढ़ावें, फिर भी घड़ी की जो उपयोगिता है, वह कम नहीं होती। बल्कि इससे वह बढ़ ही जाती है।

प्राचीन काल में जब आजकल जैसी घड़ियों का आविष्कार नहीं हुआ था, तब भी लोग समय के ज्ञान की उपयोगिता समझते थे। उन्होंने समय को जानने के लिए दूसरे तरीके निकाल रक्खे थे। बहुत से लोग अपनी छाया की लम्बाई का नाप करके समय का ज्ञान कर लेते थे। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक स्थानों पर धूप घड़ियां भी लगी होती थीं। उनसे भी समय का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती थी। जैन समाज में सामयिक का काल जानने के लिए रेत की घड़ियां बहुत प्रचलित थीं, जिनका आजकल भी बूढ़ी औरतें उपयोग करती हैं। परन्तु अब उनका चलन कम हो गया है, क्योंकि लगभग सभी धर्म स्थानों में दीवाल-घड़ियाँ लगी रहती हैं और उनसे काम चल जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक घड़ियों का आविष्कार मनुष्य जाति के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। घड़ी से समय सम्बन्धी इतनी सुविधाएँ हो गई हैं, जितनी पहले नहीं थीं। आज घड़ी के द्वारा मिनिट-मिनिट और सैकिंड-सैकिंड का अन्तर समझा जा सकता है!

घड़ी की सब से बड़ी उपयोगिता जीवन में अनियमितता आ जाना है। जो मनुष्य घड़ी अपने पास रखकर अपने जीवन को नियमित बना लेता है, समझना चाहिए कि उसने घड़ी

रखने का वास्तविक लाभ उठा लिया है। नियमितता का अर्थ है-प्रत्येक कार्य नियत और उचित समय पर करना। जो इस प्रकार नियमित हो जाता है, वह अपने छोटे-मोटे सभी कार्य यथासमय सम्पन्न कर लेता है। उसके किसी भी कार्य की हानि नहीं होती और किसी कार्य में व्यर्थ समय नष्ट नहीं होता। उसे फुर्सत न मिलने की कभी शिकायत नहीं रहती। नियमितता के अभाव में पैसे भर काम न होने पर भी पल भर का अवकाश नहीं मिलता!

बुद्धिमान् पुरुष अविश्रान्त गति से चलती रहने वाली घड़ी से और भी बहुत-सी बातें सीख सकते हैं। वे यह सोचते हैं कि सतत गति से चलने वाली घड़ी हमें सावधान कर रही है कि-ऐ मनुष्य तेरा जीवन भी इसी प्रकार निरन्तर चलता जा रहा है। जीवन की घड़ी भी कभी स्थिर नहीं रहती और जो घड़ी व्यतीत हो जाती है, वह कदापि वापिस नहीं आती। अतएव अपने जीवन की सफलता के लिए जो कुछ भी करना है, शीघ्र ही कर लें। जो अवसर आज मिला है, वह फिर कभी नहीं मिलेगा।

घड़ी को दो भागों में बांटा जा सकता है-बारह के निशान से छह तक के निशान का एक भाग और छह के निशान से लेकर बारह के निशान तक दूसरा भाग। जब घड़ी के कांटे पहले भाग पर होते हैं तो उनका अवसर्पण होता है, अर्थात् वे नीचे की ओर जाते हैं और जब दूसरे भाग पर होते हैं तो उनका उत्सर्पण अर्थात् वे ऊपर की ओर जाते हैं। घड़ी के ये दोनों विभाग कालचक्र के अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल को बड़ी सुन्दरता के साथ व्यक्त करते हैं, साथ ही—

"नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा, चक्रनेमिक्रमेण"

के कथन को भी प्रकट करते हैं। हमारे जीवन की दशाएँ भी

कभी अधोगामिनी और कभी उपरिगामिनी होती है। जब जीवन में हीनदशा आ जाय तो उससे व्याकुल न होते हुये यही सोचना चाहिए कि इसके वाद ऊँची दशा आ जायगी। जब उच्चदशा न हो तो अभियान न करते हुए सोचना चाहिए कि यह दशा सदैव टिकने वाली नहीं। किसी समय नीच दशा आ सकती है, फिर क्यों अभियान किया जाय !

इस प्रकार घड़ी के संवंध में गहराई से विचार किया जाय तो उससे अनेक लाभ हो सकते हैं। अगर आपके पास घड़ी है तो उसे अपना गुरू समझ कर उल्लिखित शिक्षाएँ उससे ग्रहण कीजिए। तभी आपका घड़ी रखना सार्थक होगा।

卐

चन्दनबाला

चन्दनबाला भारतवर्ष की एक महान् आदर्श महिलारत्न हैं। उनका चरित अत्यन्त तेजस्वी, प्रेरणाप्रद और बोधदायक है। जिस महनीय महिला ने भगवान महावीर की अनुयायिनी छत्तीस हजार साध्वियों का सभल नेतृत्व किया और अन्त में परम पद प्राप्त किया, उसका चरित कितना पावन न होगा ? जिसके शील के प्रभाव से दानव-हृदय भी देव के रूप में परिणत हो गया, उस तेज की मूर्त्ति को महिमा क्या साधारण हो सकती है ? जिसने घोर से घोर अपमान को और बड़े बड़े संकट को अपूर्व शान्ति एवं समभाव से सहन किया, उस सहनशीलता की देवी का नाम भी परम पवित्र है। प्रातःकाल शील की उस प्रतिमा का पुण्य-स्मरण किया जाता है। सचमुच उसका नाम पाप का प्रणाश करने वाला महामंत्र है !

चन्दनबाला का दूसरा नाम वसुमती है। वह अंग देश की चंपा नगरी के राजा दधिवाहन की लाड़ली बेटी थी। उसकी माता का नाम धारिणी था। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' इस लोकोक्ति के अनुसार चन्दनबाला के बाल्य-काल में ही शुभ लक्षण दिखाई देने लगे थे। छोटी उम्र में ही वह अपने अनुपम रूप-सौन्दर्य से अप्सराओं को लज्जित करती थी। मगर उसकी महत्ता तो यह थी कि उस समय भी वह तीक्ष्ण बुद्धि से सम्पन्न और विलक्ष्ण विचार शक्ति से युक्त थी। उसने अल्प श्रम से ही नीति और धर्म का विपुल ज्ञान प्राप्त कर लिया था। षट् द्रव्यों और नव तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन कर सकती थी।

राजकुमारी चन्दनबाला आजकल की उन महिलाओं के समान न थी, जिन्हें पंच-नमस्कारमंत्र का उच्चारण करना भी शुद्ध नहीं आता। कईयों की तो यह दशा है कि उन्हें काला अक्षर भैंस बराबर है! ऐसी महिलाएँ अपनी सन्तति को किस प्रकार धर्मनिष्ट बना सकती हैं? किस प्रकार आदर्श नर-नारियों के हितकर चरित्र पढ़कर अपनी सन्तान के हृदय में उच्च भावों को जागृत कर सकती हैं? जो स्वयं अज्ञान के बीहड़ अन्धकार में भटक रही हैं, वे अपने परिवार में कैसे ज्ञान की दिव्य ज्योति का प्रसार कर सकती हैं? सच पूछा जाय तो जिस माता में अपनी सन्तान को सुसंस्कार देने की योग्यता नहीं है, वह माता के गौरवशाली पद के लिए पात्र ही नहीं हैं! उसे माता बनकर बच्चों का जीवन बर्बाद करने का कोई अधिकार नहीं है।

राजदुलारी चन्दनबाला की प्रज्ञा इतनी पैनी थी कि वह बड़ी से बड़ी समस्याओं को आनन-फानन चमत्कारपूर्ण ढंग से

सुलझा देती थी। जो मामले बड़े-बड़े नीतिवेत्ताओं की भी समझ में नहीं आते थे, चन्दवाला उन्हें कुशलता के साथ समझ लेती थी। उसकी यह विशिष्ट प्रतिभा देखकर कभी-कभी महाराज दधिवाहन भी उससे परामर्श किया करते थे और उसका परामर्श उनके लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होता था।

एक बार कौशाम्बी-नरेश शतानीक ने अचानक ही चम्पा पर चढ़ाई कर दी। दधिवाहन को इस चढ़ाई का पहले से पता नहीं था। अतएव वे कौशाम्बी-नरेश से मुकाबला करने की तैयारी न कर सके। यद्यपि दधिवाहन स्वयं शूरवीर थे, मगर अकेला चना क्या भाड़ फोड़ सकता है? फिर भी तत्काल वह जो भी सैन्यशक्ति संचित कर सके, उसके बल पर ही उन्होंने मुकाबिला किया। मगर वे कौशाम्बी की सबल सेना के सामने टिक न सके। दधिवाहन को युद्ध का मैदान छोड़ना पड़ा। शतानीक की विजय-वैजयन्ती फहराने और लहराने लगी।

किन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हुई। शतानीक की उच्छृंखल सेना ववण्डर की तरह चम्पा नगरी के भीतर प्रविष्ट हुई और यथेष्ट लूटपाट करने लगी। उस समय पूर्ण अराजकता थी। सैनिक अपनी मनमानी करने लगे। उस अवसर का लाभ उठाकर एक रथी महाराज दधिवाहन के राजमहल में घुस गया। दूसरे सैनिक धन-दौलत और रत्न लूट रहे थे, किन्तु उस रथी ने महारानी धारिणी और राजकुमारी चन्दनबाला को अपने अधिकार में कर लिया। तत्पश्चात् दोनों को बलात् रथ में पटक लिया और तीव्र गति से रथ चलाकर चम्पा से बाहर निकल भागा।

कुछ दूर जाने पर उसके मनोभाव प्रकट हुए। उसकी

नीयत खराब थी। वह अपनी मलीन एवं कुत्सित भावनाओं को नेत्रों द्वारा, रानी की ओर ताक-ताक कर प्रकट करने लगा।

रानी धारिणी उसके अभिप्राय को भलीभाँति समझ चुकी थी। अतएव उन्होंने परिस्थिति की गंभीरता के अनुरूप अपना विचार स्थिर कर लिया। उन्हें किस परिस्थिति में किस प्रकार रथी का मुकाविला करना होगा, यह निश्चय करते विलम्ब न लगा। रथी की दृष्टि से उत्तर में उन्होंने अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेर ली। मगर कुत्सित वासना का वह जीता जागता पुतला इतने से ही कब मानने वाला था? उसने वचनों द्वारा अपनी मलीन कामना प्रकट की। वोला—सुन्दरी जानती हो कि 'निराश्रया न तिष्ठन्ति पण्डिता वनिता लताः' अर्थात् पण्डित, स्त्री और लता बिना दूसरे का सहारा पाये नहीं रह सकते। तुम स्त्री-जन हो और उनमें भी अतिशय सुकोमला। अभी तक तुम्हारा जो आधार था, वह अब नहीं रहा। अब तुम्हें दूसरा आधार पकड़ लेना चाहिए।

रानी—रथी, तुम विवेक-भ्रष्ट हो। क्षत्रियाणी के स्वभाव को नहीं जानते। मैं पूछना चाहती हूं—क्या तुम भी क्षत्रिय हो?

रथी—हाँ, मैं कुलीन क्षत्रिय हूं।

रानी—ऐसा! तो क्या तुम अपनी माता-बहिन या पत्नि को यही परामर्श दे सकते हो?

रथी निरुत्तर हो गया। उसके विवेक का थोड़ा-बहुत अंश भी शेष रहा तो वह अपनी मलीन भावना का परित्याग कर देता। पर वासना का भूत उसके सिर पर सवार था। वह लज्जित होने के वदले उत्तेजित हो उठा। उसने तीखी आवाज

में कहा—तुम्हें समझ लेना चाहिए कि तुम्हारा भविष्य पूरी तरह मेरी मुट्ठी में है ! जबान संभालो !

रानी ने निर्भय भाव से कहा—जबान उसे संभालनी चाहिए जो अपनी पापमय वाणी से उसे कलंकित कर रहा हो! जो महिला अपने शील की रक्षा के हेतु प्राणों को मुट्ठी में बंध लिये हो, उसका भविष्य किसी की मुट्ठी में नहीं हो सकता।

रथी ने कुछ नरम होकर कहा—सुन्दरी फूल-सा कोमल और सोने-सा चमकता यह सलोना गात यों नष्ट करने के लिए नहीं है। दैवी वरदान समझ कर इसका सदुपयोग करो।

रानी—दैवी वरदान दैत्य को बलि नहीं चढ़ाया जा सकता ! पापात्मा उसे वरदान को स्पर्श नहीं कर सकता। पवित्र अर्घ्य का अधिकारी दानव नहीं हो सकता।

रथी—इन कटु वचनों के प्रयोग से कोई लाभ नहीं होगा। गहरा विचार कर देखो। हित-अहित को सोच लो।

रानी—सब सोच-समझ लिया है !

रथी ने अब वचन का प्रयोग त्याग कर शरीर का प्रयोग किया। वह रानी के शील-पूत गात का स्पर्श करने के लिए उद्यत हुआ, मगर रानी की आंखों से आग बरसते देखकर सहम उठा। उधर रानी शील धर्म की रक्षा के लिए अपने शरीर का उत्सर्ग कर देने को तैयार हो गई। उसने अपनी जीभ पकड़ कर बाहर खींच ली और थोड़ी ही देर में शरीर निर्जीव हो गया। महारानी धारिणी की जीवन-लीला समाप्त हो गई।

रथी हक्का-बक्का हो गया। जो उसकी कल्पना से भी बाहर था, वही घटित हो गया। वह अपनी करतूत के लिए

श्चाताप करने लगा। अपने जीवन को मन ही मन धिक्कारने लगा। सोचने लगा-मैं कामी कुत्ता सिंहनी को वश में करने चला था ! असंभव को संभव करना चाहता था !

उधर चन्दन बाला भयानक संकट में पड़ गई । अभी तक उसकी माता साथ थी, पर वह अब अकेली रह गई। भविष्य की भीति और माता के वियोग की तीव्र वेदना को सहन करना उसके लिए कठिन हो गया। वह अत्यन्त करुण स्वर में विलाप करने लगी–विसूर-विसूर कर रोने लगी। उसका रूदन इतना करुण था कि पत्थर भी पिघल जाय !

रथी का हृदय बदल चुका था। शीलवती सती धारिणी के प्राणोसवर्ग ने उस की पाप-भावना का अन्त कर दिया था। चन्दनबाला के प्रति उसके मन में मलीन भावना नहीं थी पर चन्दन बाला उस हृदय-परिवर्तन को कैसे समझ सकती थी ? अतएव उसे अपने शील की रक्षा करने की चिन्ता हो रही थी। अन्ततः चन्दन बाल ने भी अपनी माता का ही अनुसरण करना योग्य समझा।

चन्दनबाला को पास में पड़ी एक कटार दिखाई दी। उसने झपट कर कटार उठा ली और ज्यों ही वह उसे अपनो छाती में घुसेड़ने के लिए तैयार हुई कि रथी ने झट उसका हाथ पकड़ लिया। चन्दन बाला के भय को दूर करने के लिए उसने कहा-राजकुमारी, मेरी बात सुनो। घबराओ मत। मेरी बहिन-बेटी हो ! अपने जीवन को नष्ट न करो। मैं तुम्हारी माता की बली ले चुका हूँ। मेरे हृदय का पिशाच उसी से तृप्त हो गया है। उस की भूख मिट गई है। मेरे सिर पर जो घोर मातक चड़ गया है, वही काफी है। अब तुम बस करो। निर्भय रहो। मैं तुम्हारे धर्म का घातक नहीं–सहायक बनूँगा।

चन्दन बाला को रथी के कथन से कुछ सान्त्वना मिली इसके पश्चात रथी ने आस पास से सूखे काण्टों का संग्रह किया और रानी धारिणी के निर्जीव शरीर का - दाह-संस्कार किया

रथी ने अब जंगल में ठहरना अनुचित समझ कर र जोता और कौशाम्बी की तरफ प्रस्थान किया। यथा समय व अपने घर जा पहुँचा। रथी की स्त्री ने चन्दन बाला को दे उसका हृदय इर्षा,द्वेष और आशंका से व्याप्त हो गया। उस सोचा-यह सुनकर छोकरी एक दिन मेरे सुख पर पानी फेर देग उसने रथी से प्रश्न किया—यह कौन है ?

रथी—चम्पा की राजकुमारी।

स्त्री—इसे साथ लाने का प्रयोजन ?

रथी चुप ! उत्तर क्या देता ? अतएव उसने प्रश्न उपेक्षा करते हुए अपनी सफाई में कहा—चिन्ता न करो राजकुमारी के प्रति मेरे मन में कोई मलीन भाव नहीं है। मेरे लिए लड़की के समान है !

रथी की पत्नी सोच-विचार में पड़ गई। उसे अपने के आश्वासन पर विश्वास न हो सका। उसकी समझ में आता था कि पति बहिन-बेटी बनाने के लिए चन्दनबाला लाया है ? उसे दाल में काला दिखाई देता था ! ज्यों-ज्यो सोचती गई, उसकी अशंका भी बढ़ती गई। उसे विश्वास गया—किसी न किसी दिन यह लड़की मेरे लिए सिरदर्द जाएगी। इसके अंग-अंग में जो अपूर्व लावण्य है, वह शीघ्र विकसित हो जाएगा और मेरे पति उस पर रीझ जाएंगे। मेरी सौत बन जाएगी और मेरा जीवन मिट्टी में मिल जायगा समय रहते ही उपाय कर लेना उचित है। अपने आंगन विष की बेल उगाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।

इस प्रकार सशंक होकर रथी की पत्नी ने उससे कहा— मैं पराई लड़की को अपने घर में नहीं रहने दूँगी। रहेगी तो अशान्ति होगी। पर-नारी पैनी छुरी कहलाती है। उससे दूर रहना ही योग्य है। आप इसे घर से फोरन निकाल दें। जब तक घर में रहेगी, मैं आपको घर में पैर न रखने दूँगी। खूबसूरत छोकरी है। बाजार में ले जाकर बेच दोगे तो अच्छी सम्पत्ति हाथ लगेगी और घर भी बना रहेगा।

रथी ऐसा करने को तैयार नहीं था। किन्तु जब उसने देखा कि उसकी पत्नि हठ पर चढ़ गई है और दूसरा कोई मार्ग नहीं है तो निरुपाय होकर उसे बात माननी पड़ी।

उधर मनस्विनी चन्दनबाला भी रथी-पत्नी को दुर्भावना तथा दुर्व्यवहार से अतिशय खिन्न थी। घोर अपमान के साथ रहना उसे भी पसंद न आया। वह भी यही चाहती थी कि किसी प्रकार मैं इस घर से बाहर हो जाऊँ।

चन्दनबाला के कष्टों का अन्त नहीं आया था। अथवा यों कहना चाहिए कि एक के बाद दूसरा कष्ट आकर उसके जीवन का निर्माण कर रहा था जीवन को ऊँचा उठाने में सहायक हो रहा था, क्योंकि कष्ट सहन किये बिना जीवन की ऊँचाई प्राप्त नहीं हो सकती।

[२]

चन्दन बाला! चम्पा की राज कुमारी! सुख में जन्मी, सुख में पली और सुख में बड़ी हुई! जिसने कुछ दिनों पहले तक जाना ही नहीं था कि दुःख क्या वस्तु है, आज घोर दुःख का शिकार हो रही थी। दैव की गति बड़ी विचित्र है।

पशुओं के बाजार में पशु खड़े रहते हैं। ग्राहक आता है, मोलतोल करता है। सौदा पटने पर रुपया गिन कर पशु को अपने साथ ले जाता है। आज चन्दनबाला की भी यही स्थिति थी। वह पशु की भांति बिकने को खड़ी की गई थी। ग्राहक आते

थे और कीमत सुनकर चले जाते थे ! पहले ही कहा जा चुका है कि चन्दन बाला अप्सराओं को भी लज्जित कर देने वाले रूप-वैभव से सम्पन्न थी। अतएव उसे देख कर लोग चकित रह जाते थे। सभी उसे खरीद लेने की इच्छा करते, परन्तु मूल्य की अधिकता अनुभव कर चले जाते थे।

तब एक वेश्या वहां आई। उसने राजकुमारी के अर्द्ध-विचलित सौन्दर्य को देखकर सोचा–इस बाला का कुछ ही मूल्य क्यों न हो, अधिक नहीं हो सकता। भाग्य अनुकूल हुआ तो इसके द्वारा अल्प समय में ही अपरिमित धन उपार्जन किया जा सकेगा। यह सौदा किसी भी भाव में मंहगा नहीं पड़ेगा।

वैश्या ने मुंह मांगा मोल देकर चन्दनबाला को खरीद लिया। रथी यथेष्ट धन पाकर प्रसन्न था और वैश्या अनुपम सुन्दरीबाला को पाकर हर्ष का अनुभव कर रही थी। परन्तु चन्दनबाला को पता नहीं था कि मुझे कौन और किसलिए खरीद रहा है ? जब वैश्या उसे अपने साथ ले जाने लगी तो भोली कुमारी ने पूछा-मां, तुम किस अभिप्राय से मुझे ले चल रही हो ?

वैश्या–बेटी, घर पहुंचकर सब बतला दूंगी।

चन्दन बाला-नहीं, अभी बतला दीजिए। छिपाने योग्य बात नहीं है तो यहीं कहने में क्या हानि है ?

वैश्या-मगर इतनी उतावली क्यों हो रही है ? तुझे कुछ भी कष्ट न होगा। संसार के श्रेष्ठ मजे लूटना।

यह शब्द सुनकर चन्दना चौंक उठी उसका मन शंकित हो गया। उसने कहा-देखिए माताजी, आप अपने उद्देश्य को साफ-साफ शब्दों में बतला दीजिए। आप क्या चाहती हैं ?

वेश्या–अरी पगली, समझ ले कि तेरा भाग्य चमक उठा है। नित्य नया शृंगार सजना और लोगों को उल्लू बनाना तेरा काम होगा। बड़े-बड़े राजा-रईस तेरी सेवा करेंगे। तू बिना राज्य की महारानी होगी। समझ गई न?

चन्दनबाला ने कहा–समझी; पर तुमने मुझे खरीद कर भूल की है। तुम्हारा उद्देश्य मैं पूरा नहीं कर सकूंगी। मुझे छोड़ दो।

वेश्या–छोड़ कैसे दूंगी! मुंह मांगा मोल दिया है।

चन्दनबाला का रोम-रोम कांपने लगा। उसने सोचा मैं भयानक संकट में फँस गई हूं। रथी के चंगुल से छूटी तो वेश्या के जाल में पड़ गई। भगवान् न जाने किस पाप-कर्म का फल भोगना पड़ रहा है। कुछ भी हो, माता का उदाहरण मेरे सामने है। प्रत्येक परिस्थिति में मैं अपने धर्म की रक्षा करूँगी।

चन्दनबाला ने सुना था कि शीलरक्षक देव भी होते हैं। उसने उनका स्मरण किया–"हे शीलरक्षक देव! असहाय और अनाथ कन्या के शील की रक्षा करना तुम्हारे हाथ में हैं। इस विकट अवसर पर अगर सहायक न हुए तो तुम्हारा उपयोग क्या होगा? तुम्हें शील प्यारा हो तो मेरा उद्धार करो।"

इस प्रकार मन ही मन कह कर चन्दना सती णमोकार मंत्र का जाप करने लगी। उसके हृदय में प्रगाढ़ धर्मश्रद्धा थी। मन कहता था कि देवता अधिक देर सोये नहीं रहेंगे और मेरा उद्धार अवश्य होगा।

सचमुच ऐसा ही हुआ। अचानक एक वानर सेना वेश्या पर टूट पड़ी। उसने वेश्या को घेर लिया। किसी ने उसकी नाक नोंच ली, किसी ने कान काट लिया! किसी ने चोटी पकड़ कर

खींचना आरंभ किया और किसी ने गालों पर चांटे जड़ दिये। इस दैवी घटना से वेश्या बुरी तरह घबरा उठी। बोली—बाप रे बाप ! मुझे इस छोकरी से कोई मतलब नहीं। मेरी जान बचे और मैं घर का रास्ता नापूं।

वानर-सेना जिस प्रकार अचानक प्रकट हुई थी, उसी प्रकार अचानक गायब भी हो गई। वारांगना जान बचा कर भाग गई। चन्दनबाला फिर रथी के अधिकार में आ गई। रथी किसी अन्य ग्राहक की टोह में बाजार में खड़ा रहा। चन्दनबाला के धैर्य का संचार हो गया था। वह निर्भय भाव से खड़ी अपने भाग्य की प्रतीक्षा कर रही थी। मन ही मन भगवान् का जाप करती जाती थी।

इसी समय एक जिनेन्द्रभक्त सेठ उधर से निकले। चन्दनबाला पर उनकी नज़र पड़ी। चन्दनबाला के सौम्य एवं शान्त मुखमण्डल पर अपूर्व सात्विकता थी। पवित्र गंभीरता स्पष्ट लक्षित होती थी। सहज ही समझा जा सकता था कि यह कन्या उच्च कुल की है और सद्गुणवती है। सेठ की अनुभवी आँखों से उसकी उच्चता छिपी न रही। पास आकर उसने रथी से वार्त्तालाप किया और चन्दनबाला को खरीद लिया। चन्दनबाला ने भी सेठ को विश्वासपात्र व्यक्ति समझ कर पूछा—महानुभाव, आपके घर मुझे क्या काम करना पड़ेगा ?

सेठ—बेटी, मेरे यहाँ सम्पत्ति है, सन्तति नहीं। भरा घर भी सन्तान के अभाव में सूना है। उसे भरने के लिए तुझे ले जाना चाहता हूँ। वहां तुझे कुछ नहीं करना है। इच्छानुसार भोजन करना, वस्त्र पहनना, भगवान् महावीर द्वारा कथित धर्म का आचरण करना और इस प्रकार निर्जीव गृह को सजीव बनाना तेरा काम होगा। तू मेरी बेटी मैं तेरा पिता।

सेठ का उत्तर सुनकर चन्दनबाला सन्तुष्ट हो गई। वह प्रसन्नतापूर्वक सेठ के साथ चल दी।

[३]

घर पहुँच कर सेठ ने अपनी पत्नी मूला को चन्दनबाला को खरीद लाने का वृत्तान्त बतलाते हुए कहा—लड़की अत्यन्त सुशील, गुणवती, कुलीन और धर्मनिष्ठ है। इसके साथ बेटी सरीखा व्यवहार करना।

मूला सेठानी में भी महिला-सुलभ दुर्बलता और संकीर्णता मौजूद थी। उसने पति के कार्य एवं आदेश का विरोध तो नहीं किया, परन्तु चन्दनबाला के अनुपम लावण्य को देखकर वह सशंक हो उठी। सोचने लगी–आज सेठजी इसे अपनी पुत्री समझते हैं, पर मनुष्य के मन का क्या भरोसा? वह सदा एक सरीखा नहीं रहता। क्षण-क्षण में पलटता रहता है। इस लड़की का सौन्दर्य जब खिल उठेगा तो क्या जाने सेठजी का मन ऐसा ही रहेगा या नहीं? कदाचित् बदल गया तो मेरी क्या दशा होगी? मैं कहीं की भी नहीं रहूँगी!

इस विचार के कारण मूला सेठानी सतर्क और शंकित रहने लगी। उसने कोई अनुकूल अवसर पाकर चन्दनबाला का पतंग काट देने का निश्चय कर लिया। यद्यपि ऊपर से वह अच्छा व्यवहार करती थी, किन्तु उसके पेट में पाप बना हुआ था वह सेठ और चन्दना की प्रत्येक चेष्टा को बारीक नज़र से देखा करती थी!

एक बार सेठ धनावह घर से बाहर निकले। वह अपना काम समाप्त करके जब घर की ओर लौट रहे थे, तब उनका पैर गोबर पर पड़ गया। घर आकर उन्होंने सेठानी को इधर-उधर

देखा, पर वह दिखाई न दी। चन्दनबाला स्नान करके अपने बाल सुखा रही थी। अतएव धनावह ने उसी को पुकार कर कहा–बेटी, जरा पानी तो ला दे; पैर धो लूँ।

चन्दनबाला–पिताजी आप इधर ही आ जाइए। मैं पैर धो दूँगी।

सेठ सहज भाव से वहीं चले गये। दोनों में से किसी के हृदय में कोई कपट भाव न था। अतएव चन्दनबाला बिना हिचकिचाहट धनावह के पैर धोने लगी। पैर धोते समय उसके खुले हुए केश आँखों के आगे आ जाते और परेशान करते थे। पैरों में लगे गोबर से चन्दनबाला के हाथ भर गये थे, अतएव वह उन्हें हटाती तो बालों में गोबर लगने का भय था। अतएव वह बालों को इधर-उधर करने के लिए मस्तक को इधर-उधर हिलाती थी। धनावह सेठ ने अपनी धर्म बेटी की यह परेशानी दूर करने के लिए अपने हाथों से उसके केश को एक किनारे क दिये। मूला सेठानी कहीं छिपी इस घटना को सशंक भाव देख रही थी। उसे विश्वास हो गया कि अब मेरा स्थान शी ही यह छोकरी ले लेगी।

अकारण सन्देह अनर्थों का कारण होता है। उस कभी-कभी परिवार में तीव्र विसवाद उत्पन्न हो जाता है। क बार घर मिट जाते हैं। भाई-भाई में भयानक शत्रुता उत हो जाती है। एक दूसरे के प्राण ले लेता है।

यहां भी यही हुआ। मूला सेठानी को सेठ की बदनीय का प्रबल प्रमाण मिल गया! चन्दनबाला उसे सर्पिणी समान विषैली दिखाई देने लगी। वह इसी फिराक में र

कि कोई अच्छा अवसर मिले और चन्दन बाला को अपने रास्ते से हटा दूं ! मगर सरल हृदया चन्दना को इस बात का पता नहीं था।

सेठानी को मनचाही करने का मौका मिल गया। सेठ धनावह दूसरे गाँव गये। सेठानी ने इस अवसर का लाभ उठाने का निश्चय कर लिया। सेठ के जाते ही मूला ने अपनी विश्वस्त दासियों को बुलाया और उन्होंसे अपना अभिप्राय बतला दिया। दासियों ने चन्दन बाला को पकड़ा और सबसे पहले उसके मस्तक के केश कतर डाले ! उसके बाद हथकड़ियों-बेड़ियों से उसके हाथ-पैर जकड़ दिए। चन्दनबाला विस्मय में थी। बहुत सोच-विचार करने पर भी उसे अपना कोई अपराध स्मरण नहीं आया। तब उसने मूला सेठानी की ओर करुणापूर्ण नेत्रों से देखकर कहा—माताजी, बतलाइए तो, मेरा क्या अपराध है ? मैं आपकी बेटी हूं। आप मातृधर्म का क्यों उल्लंघन कर रही हैं ? निष्कारण मुझे सताने से आपको क्या मिल जाएगा ?

मगर चन्दनबाला की पुकार अरण्यरोदन सिद्ध हुई। धनावह की अनुपस्थिति में कोई उसकी सुनने वाला नहीं था। किसी को उस पर दया भी न आई। मूला के हृदय में ईर्षा की जो प्रबल आग धधक रही थी, चन्दनबाला को वह उसी में भस्म कर देना चाहती थी।

चन्दनबाला ने देखा कि अब मेरी रक्षा का कोई साधन नहीं है। वह भगवान् का स्मरण करती हुई धैर्य धारण करके शान्त हो गई। सोचने लगी—मेरे अशुभ कर्मों का अभी तक अन्त नहीं आया। अच्छा है, माथे पर जो ऋण चढ़ा है, उसकी एक किश्त अब चुक रही है। चुकना ही अच्छा है।

हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ पहना कर मूला की दासियों ने उसे मकान के सबसे नीचे के कमरे में पटक दिया। चन्दनबाला ने सेठानी पर तनिक भी रोष न करके अपने कर्मों को ही इस घटना के लिए उत्तरदायी समझा। अन्धरकारपूर्ण तल-घर में पड़ी चन्दनबाला ने आत्मशुद्धि के लिए तेले का तपश्चरण धारण कर लिया। वह परमात्मा के भजन एवं स्मरण में ही अपना समय व्यतीत करने लगी।

इस घटना के उत्तरदायित्व से बचने के लिए मूल सेठानी अपने पीहर चली गई।

तीन दिन व्यतीत होने के बाद धनावह सेठ लौट क आये। आते ही उन्होंने चन्दनबाला का स्मरण किया। म वह कहीं दिखाई न दी। दास-दासियों से पूछा तो उन्होंने ठीक उत्तर न दिया। सब अनजान बन गये। विवश हो अपनी हवेली के कमरे-कमरे में उसकी तलाश करने ल तलाश करते-करते वे उसी भूभाग में पहुँचे, जहाँ चन्दना थी। उन्हें एक हल्की सी कराहने की ध्वनि सुनाई दी। चौंक कर सेठ ने कहा—कौन? बेटी चन्दना है क्या?

चन्दना तीन दिन की भूखी-प्यासी थी। मुँह सूख था। अतएव वह स्पष्ट रूप से उत्तर न दे सकी। क्षीण स में बोली—जी हाँ, पिताजी, मैं ही हूँ आपकी अभागिनी पुत्री!

सेठ के हृदय को गहरा आघात लगा। उन्होंने दुः स्वर में कहा—तू यहाँ कैसे चन्दना?

चन्दना—पिताजी, कुछ न पूछिए। कर्मगति बड़ी ही ग है। न जाने किस जन्म में क्या पाप-कर्म मैंने किये थे, जिसके फलस्वरूप इस जीवन में यह दशा हो रही है। मेरे दुःखों

कारण दूसरा कोई नहीं, मैं स्वयं हूँ, मगर पिताजी, दूसरी बातें फिर करेंगे। इस समय भूख के मारे प्राण तिल-मिला रहे हैं। प्यास से तालु सूख रहा है। तत्काल कुछ खाने-पीने को मिल जाय तो प्राण बच जाएं।

धनावह—अच्छा, अभी प्रबंध करता हूँ। मैं सोचता था कि पहले लुहार के घर जाकर यह हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ कटवा दूँ। इस बन्धनबद्ध स्थिति में तुझे देखना मेरे लिए असह्य है।

चन्दना—आपके अनुग्रह को ऋणी हूँ। परन्तु पहले पेट में कुछ जाय तो अच्छा है।

सेठ धनावह खाद्य पदार्थ की खोज में घर छानने लगे, पर उन्हें उड़द के बाकलों के सिवाय और कुछ भी न मिला। वह बाकले घोड़ों के लिए पकाये गये थे। वही बाकले एक सूप में चन्दनबाला के सामने रखकर धनावह सेठ लुहार को बुलाने चले चलते-चलते कह गए—बेटी, चिन्ता न करना मैं अभी आता हूँ।

पहले ही कहा जा चुका है कि चन्दनबाला की आत्मा में धार्मिकता के गहरे संस्कार थे। इसी कारण असह्य भूख-प्यास से पीड़ित होने पर भी उसने एक भी दाना मुँह में न डाला, न एक घूंट पानी पीया। आहारदान देने की भावना से प्रेरित होकर वह किसी साधु के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। वास्तव में ऐसे अवसरों पर ही मनुष्य की प्रतीक्षा धर्म-निष्ठा की परीक्षा होती है। चन्दनबाला इस परीक्षा में सफल सिद्ध हुई। उसने असीम धैर्य रखकर मुनिराज की प्रतीक्षा की।

पता नहीं, चन्दनबाला का आत्मबल कितना प्रबल था! उसकी भावना में क्या आकर्षण और चमत्कार था! तीर्थंकर

देव भगवान् महावीर स्वामी अकस्मात् उधर आ निकले। भगवान् उस समय पांच महीना और पच्चीस दिन से निराहार थे। उन्होंने बड़ा ही कठिन अभिग्रह धारण कर रक्खा था। उनके अभिग्रह की और सब बातें यहां मिल रही थीं, केवल एक बात की कमी थी–दाता की आंखों में आँसू नहीं थे। इस कमी को देख भगवान् आहार लिए बिना ही वापिस लौटने लगे। चन्दनबाला को ऐसा प्रतीत हुआ, मानों चिन्तामणि हाथ में आकर चला जा रहा है। उसकी मानोव्यथा गहरी हो गई नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। वह अपने भाग्य को धिक्कार लगी। प्रभु ने चार पैर चलकर पीछे मुड़कर जो देखा तो अभि ग्रह पूर्ण हो चुका था। तीन लोक के नाथ प्रभु चन्दनबाला सामने, उड़द के बाकले ग्रहण करने के लिए उपस्थित हो गए चन्दनबाला अपने भाग्य की सराहना करने लगी। शोक आँसूओं के बाद अब उसके नेत्रों में हर्ष के आँसू छलक आए अत्यन्त भक्ति के साथ उसने बाकले बहराये।

इस महान् दान का अभिनन्दन करने के लिए आका में देवों ने दुंदुभियाँ बजाई। 'अहो दानम्, अहो दानम्' कह दान की प्रशंसा को। स्वर्ण मुद्राओं की वर्षा की !

चन्दनबाला की हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ तड़ाक से टूट गई उनकी जगह रत्न-जटित आभूषणों ने ले ली। मस्तक पर प से भी अधिक लम्बे, सुकोमल काले और चमकीले केश आ गये ठीक ही कहा है:—

जितने तोर गगन में, उतने वैरी होंय।
एक कृपा जिनराज की, बाल न बांको होय॥

उस समय का दृश्य निराला था। जनसमूह एकत्र हो गया। भगवान् महावीर और चन्दनबाला की जय-जयकार की

ध्वनि से दिशाएँ गूंज उठीं। चन्दनबाला के सौभाग्य की चारों ओर सराहना होने लगी। लगभग छह मास से निराहार प्रभु ने आज आहार ग्रहण किया, यह प्रसन्नता का प्रसंग था और जिस अद्भुत वायुमंडल में आहार लिया, वह बड़ा ही कुतूहलजनक था।

सेठ धनावह लुहार को लेकर पहुँच भी नहीं पाये थे कि चन्दनबाला का उद्धार हो गया। जब उन्हें यह समाचार मिले तो वे दौड़े आये। आज उनके हर्ष का पार न था।

मूला सेठानी के कानों में भी सोना बरसने की खबर पड़ी। वह उस सोने को समेट लेने के लिए दौड़ी आई। आते ही उसने कहा—'देखो एक भी स्वर्णमुद्रा किसी ने उठा ली तो ठीक नहीं होगा!' चन्दनबाला के सामने वह लज्जित भी हो रही थी। सोचती थी—कहीं ऐसा न हो कि यह मेरी करतूत का भंडाफोड़ कर दे। अन्यथा मैं जनता और सेठ की दृष्टि में गिर जाऊंगी! फिर भी वह बड़ी शीघ्रता से स्वर्ण-मुद्राएं समेट रही थी।

स्वर्णमुद्राएँ समेट लेने के बाद सेठानी ने चन्दनबाला से कहा—बेटी, तू बड़ी समझदार और शान्त है। मेरे किये का बुरा न मानना। मुझसे बड़ी भूल हुई, परन्तु उसका परिणाम अच्छा ही निकला।

चन्दनबाला ने सदैव की भाँति विनयपूर्वक कहा—माताजी, यह सब आपका ही पुण्यप्रताप है। आपने यह व्यवहार न किया होता तो तीन भुवन के नाथ भगवान् को आहार देने का महान् पुण्य-प्रसंग मुझे कैसे मिलता? भगवान् के निराहार रहने से सभी लोग चिन्तित थे। संकट-सा छाया था। आपकी कृपा से भगवान् को आहार मिला और सहस्रों धर्मा-

त्माओं की चिन्ता दूर हुई। अतएव आप चित्त में संताप न करें। हाँ इतना अवश्य कहना चाहती हूँ कि अपने मन में, मेरे प्रति किसी प्रकार की कुशंका न रक्खें। मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं है।

भगवान् के आहार-ग्रहण की घटना महत्त्वपूर्ण थी। सर्वत्र उसकी चर्चा होने लगी। कौशाम्बी-नरेश शतानीक और रानी मृगावती को भी यह समाचार विदित हुए। चन्दनबाला के विषय में भी उन्हें जानकारी हुई। वह समझ गये कि य चन्दनबाला दूसरी कोई नहीं, मेरे साढ़ू राजा दधिवाहन की सुपुत्री ही है। यह जानकर दोनों उसके पास आये। राजा कहा—'बेटी, मेरा अपराध क्षमा कर। अब तक मु पता ही न था कि तू यहाँ है।'

रानी मृगावती ने उसे अपनी गोद में बिठा लिया उ नेत्रों से आँसू बरसने लगे। मृगावती बोली—बिटिया चन्द मैं तेरी मौसी हूँ! तू मेरी बहिन की बेटी है। मेरे रहते इतने संकट सहने पड़े!

आखिर चन्दनबाला राजा-रानी के साथ महल में च गई। शतानीक ने महाराज दधिवाहन की खोज करवा उन्हें अत्यन्त आदर-सन्मान के साथ कौशाम्बी में बुलाया गय चन्दनबाला जब अपने पिता से मिली, उस समय का दृश्य भुत था! उसने जब अपनी माता के प्राणत्याग की क कहानी सुनाई तो सब के नेत्रों से आँसू बरसने लगे। दधिव ने अत्यन्त कठिनाई के साथ अपने हृदय को संभाला।

कुछ दिन बाद शतानीक के प्रबल आग्रह के का दधिवाहन को पुनः चम्पा का राज्य स्वीकार करना पड़ा।

न्दनबाला के साथ चम्पा गये । दधिवाहन ने जब वेवाह का प्रस्ताव उपस्थित किया तो चन्दनबाला ने कहा—पिताजी, मैं संसार से ऊब गई हूँ। विवाह करने-कराने की मेरी रुचि नहीं। अनन्त जन्मों में अनन्त विवाह किये, किन्तु किसी से स्थायी शान्ति का लाभ नहीं हुआ। संसार का प्रत्येक सुख, परिणाम में घोर दुःख का ही कारण सिद्ध हुआ है। इस बार महान् सौभाग्य से भगवान् महावीर जैसे महान् उद्धारक इसी भूतल पर विचरण कर रहे हैं। आत्म-कल्याण का यह सुअवसर अत्यन्त दुर्लभ है। मैं इस अवसर से लाभ उठाना चाहती हूँ। अतएव आप मेरे विवाह के संबंध में कुछ भी विचार न करें। मैं अपना जीवन प्रभु की सेवा में समर्पित करूँगी।

चन्दनबाला धर्मध्यान करती हुई विरक्त भाव से समय व्यतीत करने लगी। वह अब जल-कमल के समान राजमहल में रहती हुई भी अलिप्त एवं अनासक्त ही रहती थी।

यथासमय भगवान् महावीर ने केवल ज्ञान प्राप्त करके तीर्थ की स्थापना की। चन्दनबाला प्रथम महिला थी जो भगवान् के निकट दीक्षित हुई। उन्हीं से भगवान् महावीर का भिक्षुणी-संघ आरंभ हुआ। दीक्षित होकर चन्दनबाला महासती ने यथाशक्ति तपश्चरण किया और ज्ञान का अभ्यास किया। वही भिक्षुणी संघ की नायिका बनीं। उसके बाद जो भी महिलाएँ दीक्षित हुईं, सभी उनकी नेश्राय में रहीं। धीरे-धीरे वह छत्तीस हजार साध्वियों की नेत्री बन गईं।

अपने जीवन के अन्तिम समय में उन्होंने विशिष्ट

आराधना की संघ द्वारा ग्रहण करके समस्त कर्मों का अन्त किया और परमोत्तम गति को प्राप्त किया।

राजकुमारी चन्दनबाला का यह पावन चरित महिला जाति के लिए ही नहीं, मनुष्य मात्र के लिए एक पवित्र निधि है, मूल्यवान् धरोहर है। युग-युग तक वह संसार को धर्मनिष्ठा का बोध प्रदान करता रहेगा।

卐

छत्र

छत्र शब्द का अपभ्रंश रूप 'छाता' है। व्याकरणसंगत शब्दों में और बोलचाल के शब्दों में भिन्नता हो जाती है। छत्र और छाता शब्द इसके अच्छे उदाहरण हैं।

किन्तु गहराई से दोनों शब्दों के अर्थ पर ध्यान दिया जाय तो उनके अर्थ में भी भिन्नता मालूम होती है। छाता या छतरी मुख्य रूप से धूप और वर्षा से बचाने वाली वस्तु है, इसी उद्देश्य से उसका उपयोग किया जाता है। किन्तु छ वैभव एवं ऐश्वर्य का सूचक है। राजाओं-महाराजाओं के सि पर जो छत्र लगा रहता है, वह धूप या वर्षा से बचने के लि नहीं, उनके ऐश्वर्य को प्रकट करने के लिए लगाया जाता है

तीर्थंकर भगवान् के आठ प्रातिहार्यों में छत्र भी प्रतिहार्य है। भगवान् जहाँ कहीं जाते हैं, छत्र उनके साथ साथ चलता है। आठों प्रतिहार्य देवकृत होते हैं, अतः उ साथ-साथ चलने में आश्चर्य की कोई बात नहीं है। तीर्थं

भगवान् तीन लोक के नाथ होते हैं, अतएव उनकी त्रिजगदीश्वरता को प्रकट करने के लिए देव उनके मस्तक पर तीन छत्रों का निर्माण करते हैं। वे तीनों छत्र एक दूसरे के ऊपर होते हैं। उनका वर्णन करते हुए आचार्य श्रीमानतुंग कहते हैं:-

छत्रत्रयं तव विभाति शशांक कामन्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥

भगवान् के ऊपर सुशोभित होने वाले तीन छत्र चन्द्रमा के समान स्वच्छ कान्ति वाले होते हैं। एक के ऊपर दूसरा और दूसरे के ऊपर तीसरा होता है। इन छत्रों के कारण सूर्य की किरणों का संताप रुक जाता है। उन छत्रों में मनोहर मोतियों की झालरें लटकती रहती हैं, जिनके कारण उनकी शोभा बहुत बढ़ जाती है। तीन छत्र इस बात को प्रकट करते हैं कि भगवान् तीनों लोकों के नाथ हैं।

भगवान् पूर्ण वीतराग होते हैं। उन्हें न छत्र की कामना होती है, न अपना ऐश्वर्य प्रकट करने की इच्छा। देवगण अपनी इच्छा से भगवान् के प्रति भक्ति प्रकट करते हैं।

कहा जा सकता है कि जब तीर्थंकर भगवान् के ऊपर देव भक्ति से प्रेरित होकर तीन छत्रों का निर्माण करते हैं, तो उनके अनुयायी मुनियों पर यदि छत्र सुशोभित किया जाय तो क्या हानि है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है सराग और वीतराग में बहुत अन्तर होता है। जिसकी साधना पूर्ण हो चुकी है और जिसकी

साधना अभी चालू है, उन दोनों के लिए सरीखा विधान नहीं हो सकता। दोनो के एक से नियम नहीं हो सकते। वीतराग भगवान् समस्त कषायों से अतीत होते हैं। अतएव देवकृत अतिशयों को जानते-देखते भी उनके कारण गौरव या अहंकार नहीं करते। सराग के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। अपने मस्तक पर छत्र देखकर उसे अहंकार होगा उसके लिए वह एक विकट प्रलोभन बन जायगा। धीरे-धीरे परम्परा ऐसी बिगड़ जायगी कि छत्र न लगने पर साधु अपना अपमान समझने लगेंगे। आडम्बर की सीमा नहीं रहेगी। साधु के समभाव में बाधा पड़ेगी। इससे साधु को कुछ लाभ तो होगा नहीं, हानि ही होगी। इसी कारण भगवान् ने साधु को छत्र धारण करने का निषेध किया है :—

छत्तस्स य धारणट्ठाए।

अर्थात् छत्र को धारण करना साधुओं के लिए अनर्थकर है।

इस कथन के अनुसार जो साधु कहलाता हुआ भी छत्र धारण करता है, वह अनर्थकारी है। अनाचीर्ण का आचरण करने वाला और वीतराग की आज्ञा का विरोधक है। सच्चे साधु तेज से तेज धूप में उघाड़े सिर चलते हुए भी कभी छत्र या छाता धारण नहीं करते। यह उनके महान् त्याग का नमूना है। उनके तपस्वीपन का चिह्न है।

卐

जयणा

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥

—दशवैकालिक अ. ४, ८

संस्कृत भाषा में जिसे यतना कहते है, अर्धमागधी में उसे जयणा कहते हैं। ऊपर की गाथा में बतलाया गया है कि यतना के साथ चलना चाहिए, यतना के साथ ठहरना चाहिए, यतना के साथ बैठना चाहिए और यतना के साथ हो शयन करना चाहिए यतनापूर्वक भोजन करने वाला और यतनापूर्वक भाषण करने वाला पुरुष पाप-कर्म का बंध नहीं करता है।

शास्त्र को इस गाथा में, संक्षेप में समग्र जोवन नोति का समावेश कर दिया गया है। इस दृष्टि से यह गाथा हमारे लिए बड़ी ही महत्वपूर्ण है। यह वह प्रकाशस्तम्भ है, जिसके सहारे हम बिना भूले-भटके, बिना ठोकर खाये, सकुशल अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होकर अभोष्ट साधन कर सकते हैं।

गीता में जिसे "योगः कर्मसु कौशलम्" कहा है, लगभग वही वात इस आगम वाक्य में कही है। मगर गीता के कथन में स्पष्टता नहीं है। कर्म में कौशल होना वास्तव में योग है, किन्तु वह कौशल क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इस वाक्य से नहीं मिलता। दशवैकालिक सूत्र इस प्रश्न का भी समाधान देता है। वह बतलाया है कि कर्म-कौशल का अर्थ है-यतना। मनुष्य को जीवन संबंधी कोई भी प्रवृत्ति हो, उसमें यदि यतना विद्यमान है तो पाप का कारण न होगी।

जो साधक अपनी आत्मा को परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित करने के हेतु साधना के पथ पर प्रमाण करता है, उसके सामने अनेक विकट प्रश्न खड़े हो जाते हैं। उसके साथ शरीर लगा हुआ होता है। कुटुम्ब-परिवार, धन-दौलत आदि सभी पदार्थों से अपना नाता तोड़ लेने पर भी आखिर शरीर का त्याग नहीं किया जा सकता। शरीर साधना में अत्यन्त सहायक है। उसका त्याग कर देने का अर्थ है साधना के आधार को नष्ट कर देना। आत्मघात करके कोई साधक अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता। अतएव साधक को अपने शरीर का संरक्षण करना ही होगा। शरीर के संरक्षण के लिए उसे बाह्य क्रियाएँ भी करनी होगी। खाना-पीना होगा, चलना-फिरना उठना-बैठना होगा। इन सब क्रियाओं को करते समय संसार में व्याप्त सूक्ष्म या स्थूल जीवों का घात हो जाना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में जीव घात से बचने के लिए साधक को कौन सा मार्ग अपनाना चाहिए? उसे या तो जीवों का घात करना चाहिए या अपने शरीर का घात कर लेना चाहिए। मगर ये दोनों ही कार्य पाप-रूप हैं, अकर्तव्य हैं। तब साधक किस राह को पकड़े? कौन-सा मार्ग है जिस पर चलने से वह दोनों प्रकार के पापों से बच जाय? किस प्रकार वह शरीर संरक्षण करता हुआ भी जीवहिंसा के पाप से बच सकता है? साधक के सामने यह एक विकट प्रश्न उपस्थित होता है।

इस प्रश्न का समाधान दशवैकालिकसूत्र करता है। उसने साधक को वह रास्ता दिखला दिया है, जिस पर चलने से साधक शारीरिक कार्य करता हुआ—बाह्य प्रवृत्तियाँ करता हुआ—भी पाप से लिप्त नहीं होता। वह रास्ता और कोई नहीं यतना है। यतना के साथ प्रवृत्ति करने वाला साधक सभी

पापों से बचा रहता है।

इस प्रकाश में विचार करने से हमें यतना की विराट महिमा का आभास मिल सकता है। यतना में ऐसी अनूठी क्षमता है कि वह किसी भी प्रवृत्ति के विष को दूर करके उसमें अमृत भर देती है। आप खाते हैं तो खा सकते हैं, किन्तु यदि यतनापूर्वक खाते हैं तो कोई पाप नहीं। हाँ, खाने में अगर अयतना है तो वह पाप है। यही नहीं, अगर आप अयतना के साथ तपस्या करते हैं तो आपकी अयतना उस तपस्या को भी जहरीली बना देगी, पापमय कर देगी। इसी प्रकार यतना के साथ चलना पाप नहीं है, किन्तु अयतना से खड़ा रहना भी पाप है।

अभिप्राय यह है कि धर्म और अधर्म की कसौटी यतना-अयतना ही है। यतना में धर्म है, अयतना में अधर्म है।

प्रश्न है कि जिस यतना (जयणा) में इतनी बड़ी करामात है कि ऊपर-ऊपर से पाप मालूम होने वाली प्रवृत्ति भी जिसकी बदौलत निष्पाप हो जाती है, आखिर वह यतना क्या चीज़ है? उसका स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर है—विवेक। विवेक का नाम जयणा है। किसी भी कार्य के पीछे आशय की पवित्रता, दृष्टि की निर्मलता और उद्देश्य की शुचिता होना और उसके कारण प्रवृत्ति में सावधानी रहना ही यतना है। अगर आप अज्ञान या कषाय से लोभ से या द्वेष से या क्रोध से या अहंकार से कोई कार्य नहीं कर रहे हैं, निष्काम भाव से अपना कर्त्तव्य अदा कर रहे हैं तो आप यतनापूर्वक चल रहे हैं। जहाँ भीतर विवेक होगा, वहाँ बाहर की सावधानी भी होगी ही। बस, यही यतना है। मुनि चलते हैं। पर जीव-जन्तुओं की हिंसा से बचने के लिए

प्रभार्जन करते हुए चलते हैं । यह चलने की यतना है। और समस्याएँ भी सावधानी और विवेक से हल करनी चाहिए।

卐

झंडा

झंडा, ध्वजा या पताका का विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। कौन ऐसा आदमी है जिसने तरह-तरह के झंडे न देखे हों ? प्रत्येक देश का अपना-अपना झंडा होता है। देश में भी अलग-अलग दलों के अलग-अलग झंडे होते हैं। दल भी अनेक प्रकार के होते हैं। राजनीतिक दल जैसे—कांग्रेस, प्रजासमाजवादी दल, साम्यवादी दल आदि । धर्म और सम्प्रदायों को लेकर भी दल बनते हैं। इन सब के झंडे भी अलग-अलग ही होते हैं।

प्रत्येक राष्ट्र और दल अपनी नीति, अपने ध्येय और अपने मार्ग के अनुसार अपने झंडे का स्वरूप निर्धारित करता है। अतएव किसी दल के झंडे को देख कर उसकी नीति का अनुमान लगाया जा सकता है।

वास्तव में झंडा दल- विशेष की भावनाओं का प्रतीक होताहै। उस झंडे के रूप में दल की शक्ति केन्द्रित होती है। इसकारण प्रत्येक दल अपने झंडे को पवित्र मानता है और उसकी प्रतिष्ठा के हेतु अपने प्राण देने तक को तैयार हो जाता है। झंडे का अपमान, उस देश या दल का ही अपमान समझा जाता है, जिसका वह झंडा होता है।

जब किसी दल या देश का झंडा फहराया जाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि उस दल या देश की नीति के प्रति आस्था प्रकट की जा रही है। अतएव जो व्यक्ति किसी झंडे के नीचे आगया है, अर्थात् जिसने जिस झंडे को अपनी भावनाओं का प्रतीक मान लिया है, उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहे और उस झंडे को अपने प्राणों से भी अधिक मूल्यवान् समझे।

जैन समाज एक महान् धर्म का प्रतिनिधि है। उसके अपने सिद्धान्त हैं और वे सिद्धान्त पवित्र और उन्नत हैं। उनमें मानवजाति का त्राण करने की शक्ति है। वे मनुष्य को शाश्वत कल्याण का मार्ग प्रदर्शित करने वाले हैं। ऐसी स्थिति में समग्र जैनसमाज का एक सर्वसम्मत झंडा होना ही चाहिए। समय-समय पर इस सम्बन्ध में बात उठती है। क्या हम आशा करें कि सामर्थ्यशाली जैनसमाज शीघ्र ही एक निर्णय पर आकर अपने पवित्र झंडे का स्वरूप निश्चित कर लेगा और उसकी पवित्र छाया में एकत्र होकर वीतराग के शासन के प्रचार और प्रसार में जुट जायगा ?

卐

टहल

कहावत है—'करे सेवा सो पावे मेवा।' इस छोटी-सी कहावत में बहुत बड़ी बात कह दी गई है। वास्तव में सेवा या टहल करने वाले को महान् फल की प्राप्ति होती है।

परलोक संबंधी फल की बात को छोड़ भी दें और सिर्फ इसी जीवन की दृष्टि से विचार करें तो भी टहल अर्थात्

सेवा का भारी महत्त्व प्रतीत होगा। सत्य तो यह है कि यह संसार टहल के बल पर ही टिका है। संसार में कोई किसी की टहल न करे तो एक दिन भी दुनिया शान्ति से न रह सके। बालक जन्म लेता है तो अपना कोई भी काम स्वयं नहीं कर सकता। उस समय माता ही उसकी टहल करके उसकी जिंदगी की रक्षा करती है। पैदा होते ही माता शिशु को उसके भाग्य के भरोसे छोड़ दे तो उस नवजात शिशु पर कैसी बीतेगी, यह कल्पना करना कठिन नहीं है! मगर नहीं, माता स्वयं कष्ट उठाकर बच्चे की टहल करती है, अतएव बालक जीवित रहता है और बड़ा होकर समर्थ हो जाता है।

उधर जब माता-पिता बहुत वृद्ध हो जाते हैं, उनका शरीर दुर्बल हो जाता है, अंग-अंग शिथिल पड़ जाता है, अपने आपको संभाल नहीं सकते, तब सन्तान उनकी टहल करके उन्हें सन्तुष्ट और सुखी बनाने का प्रयत्न करती है। ऐसा न किया जाय तो उनका जीवन खतरे में पड़ जाय! उनके दुःखों और कष्टों का पार न रहे!

अभिप्राय यह है कि संसार टहल के प्रभाव से ही ठीक तरह से चल रहा है। कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितना शक्तिशाली और साधनस्वरूप क्यों न हो, दूसरे की सहायता बिना अपना काम नहीं चला सकता। प्रत्येक मनुष्य को दूसरे मनुष्यों की सेवा की आवश्यकता होती है। अतएव मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि वह जितनी भी सेवा दूसरों की कर सके, करे।

टहल करना सिर्फ गृहस्थों का धर्म नहीं, साधुओं का धर्म है। साधुओं की टहल वैयावृत्य कहलाती है। उच्च आ

पवित्र भाव से संतों की वैयावृत्य करने वाला उत्कृष्ट रसायन आने पर तीर्थंकर गोत्र का भी बंध कर सकता है। इससे बढ़कर और कोई भी उत्तम फल इस संसार में नहीं हो सकता।

साधु को साधु की टहल किस प्रकार करनी चाहिये, यह बात मुनिवर नंदिषेण की कथा से स्पष्ट हो जाती है। कथा संक्षेप में इस प्रकार है:—

एक बार इन्द्र ने नन्दिषेण मुनि की सेवावृत्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसे सुनकर एक देव को मुनि की परीक्षा करने का कुतूहल हुआ। वह स्वर्गलोक से चल कर इस लोक में आया।

जिस गाँव में नन्दिषेण मुनि ठहरे थे, उसके पास के जंगल में जाकर वह देव मुनि का वेष बनाकर पड़ रहा। उसने अपने शरीर को अत्यन्त रुग्ण बना लिया। असह्य दुर्गन्ध शरीर से निकलने लगी। यह सब करके उसने मुनि नन्दिषेण के पास समाचार भेजा—पास के जंगल में एक साधु बीमार पड़े हैं। उनकी टहल करने वाला कोई नहीं है। उन्हें बहुत पीड़ा हो रही है।

समाचार मिलते ही मुनि जंगल को ओर चले। रास्ते में सोचते गये आज मुझे बीमार साधु की सेवा करने का अवसर मिल रहा है, यह मेरे लिए बड़े ही सौभाग्य की बात है! इस प्रकार सोचते-सोचते जब उस नकली बीमार साधु के पास पहुंचे तो घोर दुर्गन्ध आने लगी. मगर सेवाप्रेमी नन्दिषेण उस दुर्गन्ध से तनिक भी न घबरा कर रोगी साधु के पास पहुँचे।

नन्दिषेण मुनि को आया देख वह क्रुद्ध होकर बोला—इतना विलम्ब करके आये हो! मालूम नहीं, मुझे कितनी

हो रही हैं ! सेवाभावी कहलाते हो और सेवा करने के समय टालमटूल करते हो ?

नन्दिषेण मुनि शान्त रहे। उन्होंने विलम्ब के लिए क्षमायाचना की और फिर कहा—कहिए किस प्रकार आपकी सेवा की जाय ? क्या आज्ञा है ?

बीमार मुनि बोला—देख तो रहे हो इस शरीर की हालत ! जिस प्रकार हो इसकी सेवा करो।

मुनि ने विचार किया—इन्हें नगर में ले चलना ही उचित होगा। यहां चिकित्सक नहीं, औषध नहीं, कोई साधन भी नहीं है। यह सोचकर उन्होंने कहा—अगर आप नगर में चलें तो सुविधा होगी।

बीमार-पैरों में चलने की शक्ति होती तो तुम्हारी सहायता की आवश्यकता ही क्या थी ?

मुनि मेरे पैर भी आपके ही समझिए। मेरे कंधे पर बैठ जाइए। मैं उठाकर नगर तक ले चलूँगा।

बीमार-हाथों में भी तो शक्ति नहीं है ! तुम्हारे कंधे पर कैसे चढ़ूँ ?

मुनि—कोई हानि नहीं, मैं स्वयं कंधे पर बिठला लेता हूं।

मुनि वेषधारी देव को मुनि ने कंधे पर चढ़ा लिया। उसने अपने शरीर से रक्त और पीप की ऐसी धारा बहाई कि बड़े से बड़ा सहनशील भी घबरा जाता, परन्तु मुनि उससे न घबराते हुए नगर में ले गये।

देव के शरीर से निकलने वाली घोर एवं दुस्सह बदबू के कारण तथा देव की दिव्य एवं गुप्त प्रेरणा के कारण नगरजन मुनि से कहने लगे—आप इनको नगर के भीतर मत ले जाइए

एक के पीछे अनेकों को रोगी मत बनाइए ।

नंदिषेण मुनि दुविधा में पड़ गये । उन्होंने सोचा-नगर-वासियों को संकट में डालना भी योग्य नहीं है और रोगी साधु की सेवा-टहल का त्याग करना भी योग्य नहीं है । भगवन्, इस अवस्था में मुझे क्या करना चाहिए ?

उधर साधु वेषधारी देव ने भी विचार किया-वास्तव में इन मुनि की सेवा भावना उच्च कोटि की है । इन्द्र महाराज ने इनकी जो प्रशंसा की थी, उसमें जरा भी अतिशियोक्ति नहीं । मुनि की परीक्षा हो चुकी है । अब इन्हें इस दुविधा में से उबार लेना ही योग्य है ।

यह विचार कर देव ने अपना असली रूप प्रकट कर दिया और मुनि के चरणों में गिर कर कहा—मुनिवर ! कष्ट के लिए क्षमा कीजिए । इन्द्र महाराज ने आपकी जैसी प्रशंसा की थी, वास्तव में आप उसके योग्य है ।

इतना कह कर देव स्वर्ग की ओर चला गया ।

इस कथा से स्पष्ट है कि एक मुनि को दूसरे मुनि की किस प्रकार सेवा करनी चाहिए । शिष्य का कर्तव्य है कि वह अपने ज्ञानदाता गुरू की यथोचित सेवा-टहल करे । जो गुरू शिष्य को ज्ञान का अमृत पिलाते हैं, ज्ञान के दिव्य नेत्र देकर अन्धकार में से प्रकाश में ले जाते हैं, जो चरित्र का उत्तम रत्न प्रदान करते हैं, उनकी यथाशक्ति टहल करना शिष्य का परम कर्तव्य है ।

卐

ठठरी

दिपै चाम-चादर मढ़ी, हाड़-पींजरा देह।
भीतर या सग जगत में, और नहीं घिन-गेह॥

जिस शरीर—सौन्दर्य पर मूढ़ जीव मुग्ध होते हैं, जिस पर मुग्ध होकर अनाचार और अत्याचार करते हैं, पापों का भारी बोझा अपने सिर पर लाद लेते हैं, जिसके सौन्दर्य पर रीझ कर लोग लोकलज्जा को भी धता बताकर निर्लज्ज बन जाते हैं, उस शरीर की असलियत का भी कभी आपने विचार किया है?

उसका शब्दचित्र संक्षेप में ऊपर दिया गया है। वास्तव में यह शरीर चमड़े के चादर से ढँका हुआ हाड़ों का पींजरा ही है! गनीमत यही है कि हाड़ों के इस पींजरे को चमड़े ने ढँक रक्खा है। कदाचित् शरीर चमड़ी से ढँका न होता तो कितना भयानक दिखाई देता! उसमें कितना सौन्दर्य होता? यही नहीं, गिद्धों, कुत्तों और कौवों से रक्षा करना कठिन हो जाता। वे उसे नोंच-नोंच कर खा जाते। (चित्र में बनी हुई ठठरी की ओर थोड़ी देर तक टकटकी लगा कर देखिए।) यही मानव-शरीर का असली और भीतरी रूप है। इसी ठठरी पर आप मुग्ध होते हैं? इसी की रक्षा करने में अपनी सारी जिन्दगी बर्बाद करते हैं? धन्य है आपका विवेक!

जो लोग शरीर की वास्तविकता को जानते हुए भी विरक्त नहीं होते, और शरीर के पोषण में ही लगे रहते हैं, उन्हें विचार करना चाहिए!

प्रभव-स्वामी

जैसे आजकल राजस्थान और मध्य प्रदेश में कहीं-कहीं डाकुओं ने उपद्रव मचा रक्खा है, उसी प्रकार आज से करीब अढ़ाई हजार वर्ष पहले, भगवान् महावीर के समय में भी एक डाकू ने तहलका मचा रक्खा था। परन्तु आजकल के डाकुओं की अपेक्षा प्रभव कई बातों में बढ़कर था। उसके नाम से ही लोग दहल उठते थे। दिन-दहाड़े भी डाके डालना और लूटना उसका काम था। प्रभव की विशेषता यह थी कि उसे दो विद्याएँ सिद्ध थीं। एक विद्या थी अवस्वापिनी। इस विद्या से वह जहाँ कहीं लूटने जाता, मनुष्यों को गहरी निद्रा के वशीभूत कर देता था और फिर निश्चित होकर लूट मचाता था। दूसरी विद्या से वह बड़े से बड़े मज़बूत से मज़बूत ताले तोड़ लेता था। इन विद्याओं में निपुण होने के कारण लूट मचाना उसके लिए साधारण सा काम हो गया था।

प्रभव अकेला डाकू नहीं था। उसके पाँच सौ सहायक थे। वह सबका सरदार था। प्रभव के सहायक डाकू सबके सब बड़े साहसी, निर्दय और जान पर खेलने वाले थे। वास्तव में प्रभव का गिरोह बड़ा ही जबर्दस्त था। उसकी साहसिकता का अनुमान इसी से लगा लीजिए कि वह मगध जैसे सुशासित देश के प्रतापशाली राजा श्रेणिक की राजधानी में भी डाका डालने से नहीं चूकता था।

उस समय राजगृह नगर धन-वैभव से सम्पन्न था। बड़े-बड़े सेठ और साहूकार निवास करते थे। सब तरह से अमन-चैन था, पर कभी-कभी राहु की तरह प्रभव का उदय होता और वह शान्ति को भंग कर देता था।

ठठरी

दिपै चाम-चादर मढ़ी, हाड़-पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन-गेह॥

जिस शरीर-सौन्दर्य पर मूढ़ जीव मुग्ध होते हैं, जिस पर मुग्ध होकर अनाचार और अत्याचार करते हैं, पापों का भारी बोझा अपने सिर पर लाद लेते हैं, जिसके सौन्दर्य पर रीझ कर लोग लोकलज्जा को भी धता बताकर निर्लज्ज बन जाते हैं, उस शरीर की असलियत का भी कभी आपने विचार किया है ?

उसका शब्दचित्र संक्षेप में ऊपर दिया गया है। वास्तव में यह शरीर चमड़े के चादर से ढँका हुआ हाड़ों का पींजरा ही है ! गनीमत यही है कि हाड़ों के इस पींजरे को चमड़े ने ढँक रक्खा है। कदाचित् शरीर चमड़ी से ढँका न होता तो कितना भयानक दिखाई देता ! उसमें कितना सौन्दर्य होता ! यही नहीं, गिद्धों, कुत्तों और कौवों से रक्षा करना कठिन हो जाता। वे उसे नौंच-नौंच कर खा जाते। (चित्र में बनी हुई ठठरी की ओर थोड़ी देर तक टकटकी लगा कर देखिए।) यही मानव-शरीर का असली और भीतरी रूप है। इसी ठठरी पर आप मुग्ध होते हैं ? इसी की रक्षा करने में अपनी सारी जिन्दगी बर्बाद करते हैं ? धन्य है आपका विवेक !

जो लोग शरीर की वास्तविकता को जानते हुए भी विरक्त नहीं होते, और शरीर के पोषण में ही लगे रहते हैं, उन्हें विचार करना चाहिए !

प्रभव-स्वामी

जैसे आजकल राजस्थान और मध्य प्रदेश में कहीं-कहीं डाकुओं ने उपद्रव मचा रक्खा है, उसी प्रकार आज से करीब ढ़ाई हजार वर्ष पहले, भगवान् महावीर के समय में भी एक डाकू ने तहलका मचा रक्खा था। परन्तु आजकल के डाकुओं की अपेक्षा प्रभव कई बातों में बढ़कर था। उसके नाम से ही लोग दहल उठते थे। दिन-दहाड़े भी डाके डालना और लूटना उसका काम था। प्रभव की विशेषता यह थी कि उसे दो विद्याएँ सिद्ध थीं। एक विद्या थी अवस्वापिनी। इस विद्या से वह जहाँ कहीं लूटने जाता, मनुष्यों को गहरी निद्रा के वशीभूत कर देता था और फिर निश्चित होकर लूट मचाता था। दूसरी विद्या से वह बड़े से बड़े मज़बूत से मज़बूत ताले तोड़ लेता था। इन विद्याओं में निपुण होने के कारण लूट मचाना उसके लिए साधारण सा काम हो गया था।

प्रभव अकेला डाकू नहीं था। उसके पाँच सौ सहायक थे। वह सबका सरदार था। प्रभव के सहायक डाकू सबके सब बड़े साहसी, निर्दय और जान पर खेलने वाले थे। वास्तव में प्रभव का गिरोह बड़ा ही जबर्दस्त था। उसकी साहसिकता का अनुमान इसी से लगा लीजिए कि वह मगध जैसे सुशासित देश के प्रतापशाली राजा श्रेणिक की राजधानी में भी डाका डालने से नहीं चूकता था।

उस समय राजगृह नगर धन-वैभव से सम्पन्न था। बड़े-बड़े सेठ और साहूकार निवास करते थे। सब तरह से अमन-चैन था, पर कभी-कभी राहु की तरह प्रभव का उदय होता और वह शान्ति को भंग कर देता था।

राजगृह नगर में एक धनाढ्य सेठ थे ऋषभदत्त। उनके पुत्र का नाम जम्बू कुमार था। सुधर्मा स्वामी का उपदेश सुनकर जम्बूकुमार संसार से विरक्त हो गए। उस समय उनका विवाह नहीं हुआ था, होने वाला था। विरक्ति आ जाने से वे दीक्षा लेने को तैयार हो गए। पर माता-पिता की ममता उन्हें त्याग की अनुमति नहीं देती थी। आखिर यह निश्चित हुआ कि कुमार एक बार विवाह कर लें और फिर भले ही दूसरे दिन दीक्षा धारण कर लें। जम्बूकुमार ने यह बात स्वीकार कर ली, पर इस शर्त के साथ कि जिन कन्याओं से विवाह होने वाला है, उन्हें स्पष्ट रूप से यह बतला दी जाय कि विवाह के दूसरे दिन ही मैं दीक्षा ले लूँगा।

यही हुआ आठ कन्याओं के साथ जम्बूकुमार का विवाह हो गया। विवाह की पहली रात सुहाग-रात कहलाती है। मगर जम्बूकुमार के लिए वह वैराग-रात थी। आठों नवविवाहित वधुएँ कुमार को समझा कर गृहस्थी में रखने के लिए सारी शक्ति लगा रही थीं। उधर कुमार जम्बू उन्हें संसार की असारता समझा कर मोक्ष-मार्ग पर लाना चाहते थे। दोनों ओर से युक्तियाँ दी जा रही थीं। बहुत रात बीत चुकी थी, फिर भी उस चर्चा का अन्त नहीं आया।

उधर प्रभव को पता चला कि आज सेठ ऋषभदत्त के घर दहेज के रूप में विपुल धन आया है। उसने अच्छा अवसर समझ कर रात्रि में उन्हीं के घर धावा बोल दिया। दहैज की सब सम्पत्ति सेठजी के आंगन में ही पड़ी थी। सब का ध्यान कुमार के वैराग्य की तरफ खिचा था। किसी को धन का विचार ही न आया। जैसे आया वैसे हो पड़ा रहा!

प्रभव अपने साथियों के साथ आया। घर में प्रविष्ट हुआ। देखा आंगन में ही करोड़ों की सम्पत्ति बिखरी पड़ी है! डाकुओं के हर्ष की सीमा न रही। सबके सब बड़ी-बड़ी पोटलियां बांधकर उस सम्पत्ति को ले जाने के लिए तैयार हो गए। मगर उसी समय एक अद्‌भुत एवं आश्चर्यजनक घटना घट गई।

'जम्बूकुमार अपना धन लुट जाने के कारण साधु हो गए हैं' इस अपवाद से बचाने के लिए शासन-प्रेमी देव ने डाकू-गिरोह के नेता प्रभव को छोड़कर शेष सब डाकुओं के पैर ज़मीन से चिपटा दिये। डाकू पेड़ों की तरह स्थिर हो गए। कोई एक क़दम भी इधर से उधर होने में समर्थ न था।

प्रभव ने कहा—जल्दी करो। विलम्ब क्यों कर रहे हो? किसकी राह देखते हो?

तब उसके साथियों ने बतलाया कि चलना हमारे लिए असंभव है। एक पैर भी इधर से उधर नहीं हो रहा है। पता नहीं किसने क्या करामात की है कि पांव पृथ्वी से चिपक गए हैं!

अपने साथियों की बात सुनते ही प्रभव का हृदय दहल उठा। उसके विस्मय और उद्वेग का पार न रहा। उसने सोचा—आज हम सब का जीवन एक ही साथ समाप्त होने की तैयारी में है! महासाहसी प्रभव भी एक बार सिर से पैर तक कांप उठा।

प्रभव ने सब को चुप रहने का संकेत किया और ऊपर के मंजिल से आने वाली अस्पष्ट मानव-ध्वनि की ओर कान लगाए। उसे जान पड़ा कि ऊपर कोई जाग रहा है! प्रभव

इस समय बड़े संकट में पड़ गया था। मानवीय संकट को पार कर जाना तो उसके बायें हाथ का खेल था, पर यह तो दैवी संकट था ! अच्छी सूझबूझ वाले प्रभव की बुद्धि भी काम नहीं कर रही। वह परेशान था ! आज तक उसे ऐसी परिस्थिति का सामना नहीं करना पड़ा था !

प्रभव को जब कुछ न सूझा तो वह ऊपर से आने वाली आवाज के सहारे-सहारे ऊपर चढ़ा। वह बड़ी ही सावधानी से, पैरों की आहट किये बिना ही उस कमरे के बाहर जा पहुंचा, जहाँ जम्बूकुमार अपनी पत्नियों से वार्तालाप कर रहे थे और दीक्षा न लेने के उनके आग्रह के बदले में उन्हें वैराग्य की उपादेयता समझा रहे थे। जम्बू कुमार कह रहे थे—भद्र नारियों ! जरा विचार तो करो कि अनादि काल से अब तक भोग भोगने पर भी यह आत्मा तृप्त नहीं हुई तो इस जन्म के भोगों से कैसे तृप्त हो जाएगी ? भोग, वासना के ईंधन हैं। भोग भोगने से वासना मिटती नहीं, अधिक उग्र होती है। वासना को जीतने का एक मात्र मार्ग संयम है—इन्द्रियनिग्रह है आत्मविजय है। यह अनन्त सुख का सन्मार्ग है। इन कुत्सित और वीभत्स कामभोगों के कीचड़ में पड़कर जीवन को नष्ट करना बुद्धिमत्ता नहीं है। तुम कहतो हो कि कुछ दिनों तक भोग भोगने के पश्चात् संयम धारण करना योग्य है; परन्तु यह तो सोचो कि इस जीवन का क्या विश्वास है ? कौन जानता है कि कौन मनुष्य कितनी आयु बाँधकर आया है ? काल समदर्शी है। उसके लिए बालक वृद्ध सब एक ही समान हैं। ऐसी स्थिति में भविष्य का भरोसा करके बैठना कहाँ तक उचित है ?

थोड़ी देर के मान लें कि हमारा जीवन शीघ्र समाप्त नहीं होगा, तो भी भोग भोग कर पाप-कर्मों की वृद्धि करने से क्या लाभ है? आखिर उनका फल तो हमको ही भोगना पड़ेगा? पहले जान-बूझ कर पाप का उपार्जन करना और फिर उसका फल भोगना या उसकी निर्जरा के लिए तपस्या करना तो ऐसा ही है जैसे कीचड़ लगाकर साफ करना! अतएव जो अवसर मिला है, उसका एक भी क्षण वृथा नहीं गँवाना चाहिए। जब तक इन्द्रियाँ सशक्त हैं, शरीर नीरोग और सबल है, तब तक धर्म का आचरण करके जीवन का वास्तविक लाभ उठा लेना चाहिए।

कुमार की बातें प्रभव कान लगा कर सुन रहा था। किस संबंध में वाद-विवाद चल रहा है, यह बात प्रभव को समझने में देरी न लगी। जम्बूकुमार ने अपनी पत्नियों को समझाने के लिए जो मार्मिक और प्रभावशाली शब्द कहे थे, प्रभव पर भी उनका प्रभाव हुए बिना न रहा। उसके दिल का दानव गायब हो गया और देव जागृत हो गया। वह सोचने लगा—कुमार ने नवयौवन में पांव रक्खा है। आज ही इनका अप्सराओं के समान सुन्दरी नवयुवतियों के साथ पाणिग्रहण हुआ है! करोड़ों की सम्पत्ति दहेज के रूप में मिली है! पर इनका यह हाल है कि इनमें से किसी के प्रति तनिक भी आकर्षण नहीं! पत्नियों को त्यागने के लिए तैयार हो रहे हैं। धन को धूल समझ रहे हैं! आह, इनमें और मुझ में कितना अन्तर है?

इस प्रकार विचार आते ही प्रभव के हृदय में एक नवीन प्रकार का साहस उत्पन्न हुआ, जो पहले कभी नहीं हुआ था। उसने सोचा—मुझे कुमार के सामने जाकर अपने आपको

प्रकट कर देना चाहिए। फल कुछ भी हो, परवाह नहीं! मनुष्य को पाद से डरना चाहिए, पाप के फल से डरना कायरता है। जब मैंने पाप कर डाले हैं तो उनके फल को सहर्ष भोग लेना ही वीरता है।

यह सोचकर प्रभव अचानक ही जम्बूकुमार के सामने आ पहुँचा। यकायक भयावने भेष में उपस्थित हुए दानव जैसे पुरूष को देखकर जम्बूकुमार की पत्नियाँ हड़बड़ा गईं। परन्तु कुमार के चित्त पर उसका कोई विशेष प्रभाव न पड़ा। उन्होंने सिर्फ यही पूछा—'भद्रतुम कौन हो? इस समय अकस्मात् आने का क्या प्रयोजन है?'

प्रभव ने कहा—कुमार, मैं अपना पूरा और सच्चा परिचय अवश्य दूँगा। यही निश्चय करके आया हूँ। आप अधिक उत्सुक हों तो सुनिए। मैं प्रभव हूँ—प्रख्यात डाकू! पर डाकू था, अब बदल गया हूँ। आपके जादू ने एकदम मेरे जीवन को बदल दिया है। आप अन्यथा विचार न करें और यह बहिनें भयभीत न हों। मैं अब भद्र पुरूष बन गया हूँ।

कुमार और उनकी पत्नियां प्रभव का परिचय पाकर चकित थे!

कुमार ने पुनः प्रश्न किया—मगर यहाँ इस समय आने का प्रयोजन?

प्रभव ने कहा—यह भी बतला दूँगा। पर यह तो कहिए कि आपको असमय में वैराग्य कैसे आ गया? एक ओर हमारे जैसे अनगिनत मनुष्य हैं जो परधन और परदारा की फिराक में, इधर-उधर भटकते फिरते हैं। उन्हें पाने के लिए प्राणों को जोखिम में डाल देते हैं। दूसरी ओर आप हैं जो इस विराट वैभव को ठुकरा रहे हैं और अप्सराओं को भी मात दे

वाली सुन्दरियों की ओर से मुँह मोड़ रहे हैं। क्या आपके लिए यही उचित है ? ऐसा करना कोई व्यावहारिक चातुर्यता नहीं।

प्रभव को अपने पक्ष का समर्थन करते देख आठों सुन्दरियां प्रसन्न हो उठीं। उनका भय दूर हो गया। वह मन में सोचने लगीं—भाग्य से हमें सहायक मिल गया है ! कुमार समझ जाएँ तो कितना अच्छा हो !

इसी समय प्रभव ने फिर कहा—कुमार ! दीक्षा लेने के अपने विचार को बदल डालो। अपने विशाल धन के भंडार को संभालो। सहधर्मिणियों का उत्तरदायित्व अपने सिर पर लिया है, उसका विचार करो। इन्हें निराश मत करो। इनके सुख-स्वप्न को भंग मत करो।

कुमार ने कहा—प्रभव ! मैंने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। विवाह से पहले भी यह छिपा नहीं था। मेरा संकल्प अटल है। उसमें रंच मात्र भी परिवर्तन नहीं हो सकता। मैं तो तुम्हें भी यह पथ ग्रहण करने की प्रेरणा करता हूं। धन एकत्र करके करोगे क्या ? साथ में कुछ लाये होते तो लेजा सकते हो। सब यहीं धरा रह जाएगा। अतएव यह धंधा छोड़ो। जगद्‌बंधु और पतितपावन भगवान् की शरण ग्रहण करो। ऐसा करने से ही निस्तार होगा। इस अल्पकालीन मनुष्य जीवन के शेष क्षणों को निर्मल साधना में लगा दो। प्रभव 'जब से जागे तभी सवेरा' इस नीति को स्वीकार करो। एक क्षण भी विलम्ब न करो।

असल में प्रभव का मन पहले से ही पलट गया था। अब कुमार की बात सुनी तो उसका विचार और दृढ़ हो गया। उसने कहा—कुमार, आपका कथन सत्य है। आपकी ओजस्वी

वाणी प्रभावशालिनी है। वास्तव में मैंने अपने जीवन में पाप ही पाप किया है। चाहता हूं, अब उन्हें धो डालने का प्रयत्न कर लूं। मैं आपके साथ ही भगवान् की शरण में चलूंगा। सत्पथ दिखलाने के लिए मैं अतीव आभारी हूं।

थोड़ी देर रुक कर प्रभव बोला—परन्तु मेरे साथियों का क्या होगा ? वे मेरे आश्रित हैं। उन्हें विपत्ति में छोड़ कर मैं किनारा नहीं काट सकता।

कुमार—क्यों, उन पर क्या विपत्ति है ?

प्रभव—आप जान-बूझ कर भोले बन रहे हैं क्या ! आपने अपनी स्तंभिनी विद्या से स्तंभित नहीं किया तो उनके पैर पृथ्वी पर कैसे चिपक गये हैं ? उनका उद्धार कीजिए।

कुमार यह सुनकर विस्मय में आ गया। उसे अब तक यही पता नहीं था कि प्रभव के साथी भी मेरे मकान में मौजूद हैं। अतएव विस्मित भाव से कहा— हो सकता है कि यह दैवी घटना हो। न मेरे पास स्तंभिनी विद्या है, न मैंने उसका प्रयोग किया है।

प्रभव को कुमार की बात पर विश्वास तो हो गया, पर इस विश्वास से उसे परेशानी हुई। किन्तु जिस प्रकार अचानक उनके पैर चिपके थे, उसी प्रकार खुल भी गए।

प्रातः काल होते ही जम्बू कुमार प्रभव के साथ और प्रभव अपने पाँच सौ साथियों के साथ सुधर्मा स्वामी के पुनित चरणों में पहुँचे। सब ने दीक्षा धारण कर ली।

अपनी साहस पूर्ण डकैतियों से बड़ों-बड़ों का दिल दहलाने वाला प्रभव आज कंचन कामिनी का त्यागी मुनि बन गया था। उसने जैसे संसार में प्रचण्ड पराक्रम दिखलाया था

सी प्रकार मुक्ति मार्ग की साधना में भी पराक्रम प्रदर्शित किया। दीक्षित होते ही ज्ञानाभ्यास और तपश्चरण करके भव मुनि ने अपनी आत्मा को निर्मल बनाने की साधना आरंभ र दी। यहाँ तक कि भगवान् के निर्वाण के पश्चात् प्रभव वामी ही उनके चौथे पाट पर उत्तराधिकारी हुए।

वास्तव में आत्मा अनन्त शक्ति की धनी है। वह शक्ति र मुड़ जाती है, उसी ओर काम करने लगती है। शास्त्र में हा हैं-

जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा।

अर्थात्- जो कर्म में शूरवीर होते हैं, वे धर्म में शूरवीर ते हैं। अभिप्राय यही है कि शक्ति का झुकाव जब कुमार्ग की र होता है तो वह अहितकर हो जाती है और वही शक्ति मार्गगामिनी होती है तो हितकारी बन जाती है।

अहिंसा और प्रेम से किस प्रकार मानव-स्वभाव में परिन हो जाता है और वह कितना गहरा एवं स्थायी होता है, यह नने के लिए प्रभव स्वामी का चरित्र ज्वलन्त उदाहरण है। तुतः निग्रह से ऊपरी सुधार होता है और अनुग्रह से आन्त-क एवं सच्चा।

卐

ढंढण मुनि

जो दर्शन आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और नर्जन्म मानते हैं, उन्हें किसी न किसी रूप में एवं किसी न म से कर्म सिद्धान्त को भी स्वीकार करना पड़ता है। कर्म

का सिद्धान्त स्वीकार किये विना आस्तिक दर्शनों का काम नहीं चल सकता। कर्म न माना जाय तो पुनर्जन्म का आधार ही नहीं रहता। कर्म के अभाव में आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

जगत् में जो महान् विषमता दिखाई पड़ती है, उसका मूल कहाँ है? मनुष्य-मनुष्य के बीच होने वाले अन्तर को कदाचित् सामाजिक व्यवस्था की त्रुटि कहकर टाल दें, लेकिन जगत् में इतना ही भेद तो नहीं है। कोई प्राणी स्थावर है तो कोई जंगम (त्रस) है। कोई पशु के रूप में, कोई पक्षी के रूप में और कोई मानव के रूप में जीवन व्यतीत कर रहा है। क्या यह सब निर्हेतुक है? इसका कोई कारण नहीं है? बिना ही किसी व्यवस्था के सृष्टि की यह विविधता चल रही है? दर्शनशास्त्र के अनुसार कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। अतएव इस विविधता एवं विरूपता का कुछ न कुछ कारण मानना ही पड़ेगा। इसी विचार से प्रेरित होकर सभी आस्तिक दर्शन कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। किसी ने अदृष्ट कहा, किसी ने माया कहा, किसी ने संस्कार कहा और किसी ने कुछ और कहा।

इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त सर्वसम्मत होने पर भी जैन दर्शन में कर्म की जैसी सांगोपांग, सूक्ष्म और तर्कसम्मत व्याख्या मिलती है, वैसी किसी भी दूसरे दर्शन में नहीं मिलती। वस्तुतः जैनदर्शन ने कर्म की बड़ी ही विशद व्याख्या की है। सिर्फ इस विषय को लेकर जैनाचार्यों ने बहुसंख्यक ग्रन्थों का निर्माण किया है, जिनमें से आज भी बहुत से उपलब्ध हैं।

जैनधर्म का यह अभिमत है कि कृत कर्मों का प्रत्येक प्राणी को अवश्य फल भोगना पड़ता है। 'कडाण कम्माण

मोक्ख अत्थि।' अर्थात् किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं। इस मान्यता को दृढ़ और स्पष्ट करने के लिए जैन साहित्य में सैंकड़ों कथाएँ लिखी गई हैं। ढंढरण मुनि की कथा भी इसी तथ्य को प्रकट करने के उद्देश्य से लिखी गई है। यह कथा हमें बतलाती है कि कर्मों का उपार्जन तो अनायास ही कर लिया जाता है, पर उनका फल भोगते समय कठिनाई उठानी पड़ती है। इस कथा से यह भी मालूम होगा कि कर्म का फल अमोघ होने पर भी कर्म की शक्ति अजेय नहीं है। आत्मा उस पर विजय प्राप्त करके अकर्मा, सिद्ध, बुद्ध और विशुद्ध पद पा सकता है।

ढंढरण मुनि की कहानी उनके पूर्व भव से आरंभ होती है। पूर्व में उनका जीव एक सम्पन्न किसान के रूप में था। वह खेती करता और सन्तोष की जिन्दगी व्यतीत करता था। उसके पास पांच सौ हलों की खेती थी। पांच सौ हल चलाने के लिए पांच सौ हलवाहे और एक हजार बैल थे। जिसके पास इतनी खेती हो उसके पास गाय-भैंस आदि अन्य दुधारू पशु भी होंगे ही। इस प्रकार यह किसान सब तरह आनन्द में था। उसे किसी चीज की कमी नहीं थी।

एक दिन की बात है। खेतों की जुताई का मौसम चल रहा था। सुबह से चलते-चलते बैल और हलवाहे थक कर चूर हो गये थे। मध्याह्न का समय हो चुका था। सूर्य आग उगलने लगा था। दूसरे किसानों के हल चलने बंद हो गए थे। उनकी देखादेखी इस किसान के हलवाहे भी हल खड़े करके बैलों को खोल देने की तैयारी कर रहे थे। उसी समय इस किसान ने एक चांस और खींचने का हुक्म दिया। न बैल चलना चाहते थे एवं न हलवाहक उन्हें चलाना चाहते थे। वास्तव में उनकी विश्रान्ति का समय हो चुका था और उस समय विश्राम करना

उनका न्यायसिद्ध अधिकार था। मगर जबरदस्त का ठेंगा सिर पर ! इस कहावत के अनुसार किसान के हुक्म के अनुसार बेचारे हलवाहों को एक चांस और खींचना पड़ा।

इस प्रकार पांच सौ हलवाहों और एक हजार बैलों के खाने-पीने एवं विश्राम बाधा डालने के कारण किसान ने अन्तराय कर्म का बन्धन कर लिया। उसने उनके अधिकार का अपहरण किया था और उनसे उचित से अधिक काम लिया था।

उस समय एक ही चांस खींचने से पांच सौ हलों से पांच सौ चांस खिंच गये और काफी जमीन जुत गई। यह देखकर किसान बहुत प्रसन्न हुआ। पर उसने जो अन्तराय कर्म बांधा था, उसका उसे पता ही नहीं चला !

जन्म के साथ मृत्यु अनिवार्य है। इस धरातल पर कौन ऐसा वीर आज तक जन्मा है जो मरा न हो? वह किसान भी अपने जीवन के दिन पूरे करके एक दिन चल बसा। कुटुम्बीजन चीखते-चिल्लाते रह गए। उनका कोई प्रयत्न कारगर न हुआ। अन्त में उन्हें हार माननी पड़ी, अतः सभी के भाग्य में यही बदा है !

किसान मर कर महाराज श्रीकृष्ण के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम ढंढन कुमार रक्खा गया। कुमार बाल्यावस्था पार करके सब विद्याओं और क्षत्रियोचित समस्त कलाओं में कुशल हो गया। धीरे-धीरे कुमार ने यौवन अवस्था में प्रवेश किया। उन दिनों भगवान् अरिष्ट नेमि इस धराधाम को पावन करते हुए, जगत् के जीवों को आत्मकल्याण का मार्ग प्रदर्शित करते हुए और भव्य पुरूषों का कल्याण करते हुए विचर रहे थे। देश-देश में पर्यटन करते हुए एक

वार वे द्वारिका नगरी में पधारे। भगवान् का धर्मोपदेश सुनने के लिये विराट जनसमूह एकत्र हुआ। ढंढण कुमार भी उस समूह में सम्मिलित थे।

क्या अनुपम छवि थी भगवान् अरिष्ट नेमि की! सांवले शरीर में अपूर्व आत्मतेज दमक रहा था। भगवान् ने जो अनन्त ज्योति प्राप्त की थी, वह उनके वीतराग मुख-मण्डल पर भी प्रकाशमान हो रही थी। अनूठी आभा! मुग्ध कर लेने वाली अद्भुत छटा!

और वाणी? उसका तो कहना ही क्या है! भगवान् के मुख से मधुर बोल ऐसे निकलते मानो चन्द्रमा से अमृत झर रहा है! कितना आकर्षण था उस वाणी में! चौतीस अतिशयों और पैंतीस वाणी के अतिशयों से विभूषित तीर्थंकर देव के जिसने दर्शन किये, उसके नयन धन्य हो गए। जिसे उनकी वाणी श्रवण करने का सौभाग्य मिल गया उसके कान पावन होगये हृदय में भगवान् के उपदेश के प्रति रूचि जागृत हुई उसका मानव-जीवन धन्य हो गया!

ढंढण कुमार धर्मनिष्ठ परिवार में उत्पन्न हुए थे। अरिष्ट नेमि प्रभु उसी यदुवंश की विमल विभूति थे, जिसमें ढंढण कुमार को जन्म लेने का सौभाग्य मिला था। भगवान् कुमार के पितृव्य थे। मगर अब भगवान् वीतराग थे और संसार का प्रत्येक प्राणी उनके लिए आत्मभूत था। न कोई प्रीतिपात्र एवं न कोई अप्रीतिपात्र। सब पर उनका समभाव था।

भगवान् का उपदेश सुनकर ढंढण कुमार को बोध प्राप्त हुआ। उसे सत्-असत् का भेद विज्ञान हो गया। आत्म-कल्याण करना ही मानवभव का सर्वोच्च ध्येय है, यह प्रतीति हो गई। जगत् के जंजाल से छुटकारा पाने की बलवती इच्छा

उत्पन्न हुई। जिस यौवन में मनुष्य मतवाला बन जाता है, संसार रंगीन दिखलाई देता है, भोगोपभोग की सामग्री से प्रेम करता है, विषयों में आसक्त बनकर परमार्थ को भूला रहता है, उसी यौवन में यह भाग्यवान् राजकुमार विरक्ति के पथ पर चलने को उद्यत हो गए। आखिर कुमार भगवान् के चरण-कमलों के भ्रमर बन गए। मुनिदीक्षा अंगीकार करके विचरने लगे।

मुनि ढंढरण ने अपनी दीक्षा के पहले दिन से ही एक कठिन अभिग्रह धारण किया। उन्होंने मन ही मन यह संकल्प कर लिया कि मैं अपनी ही लब्धि का आहार-पानी ग्रहण करूँगा, किसी अन्य की लब्धि का नहीं। यह अभिग्रह धारण करके वे प्रतिदिन गोचरी जाते, परन्तु पूर्व भव में बांधे हुए अन्तराय कर्म के विपाक से उन्हें खाली हाथ लौटना पड़ता। कहीं आहार-पानी का योग ही न मिलता। दिन पर दिन बीतने लगे। असीम ऐश्वर्य की गोद में पले सुकुमार मुनि निराहार और निर्जल तपस्या करने लगे। उन्होंने कभी क्षण भर के लिये भी अपने संकल्प को ढीला नहीं किया।

एक बार वे दूसरे मुनियों के साथ गोचरी करने गए। पर उनके अन्तराय की प्रबलता के कारण उन मुनियों को भी आहार-पानी से वंचित रहना पड़ा। उस दिन से अन्य मुनियों ने इनके साथ गोचरी जाना छोड़ दिया। ढंढरण मुनि ने भी यही उचित समझा। वे अपने निमित्त से अन्य मुनियों को भूखा-प्यासा नहीं रखना चाहते थे और अकेले में ही निश्चित रूप से अपनी लब्धि का आहार मिलने की संभावना करते थे।

उस दिन से मुनिराज अकेले ही गोचरी जाते। आहार का समय होते तक गृहस्थों के घर में घूमते, पर कहीं भी उन्हें

अपनी लब्धि का आहार-पानी न मिलना। उधर अन्तराय कर्म प्रबल था और इधर मुनिराज का संकल्प भी प्रबलतर था।

इस प्रकार एक-एक दिन करके छह महीने बीत गए। इन छह महीनों में मुनिराज का शरीर सूख कर कांटा हो गया। परन्तु उनका तपस्तेज निरन्तर निखरता चला जाता था। उस लोकोत्तर तेज से मुनि का मुखमण्डल अतिशय भव्य और देदीप्यमान प्रतीत हो रहा था।

छठे महीने का अन्तिम दिन था। उस दिन भी मुनिराज गोचरी के लिए द्वारिका के गृहस्थों के द्वार पर गए।

उसी दिन की बात है। त्रिखंडाधिपति वासुदेव श्रीकृष्ण भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ पधारे थे। कुतूहल के वश होकर उन्होंने प्रश्न किया प्रभो! अठारह हजार मुनि आपकी आज्ञा में विचरते हैं। उन सब में अधिक से अधिक तपस्वी मुनि कौन हैं?

भगवान् ने फर्माया-वर्तमान में ढंढण मुनि ही सबसे बड़े तपस्वी हैं। वह अपनी विशुद्ध तपस्या के प्रभाव से आज ही केवल ज्ञान प्राप्त करेंगे।

अपने गृहस्थावस्था के पुत्र का इस प्रकार माहात्म्य सुनकर श्रीकृष्णजी हर्ष के मारे उछल पड़े। उनकी प्रसन्नता का पार न रहा। वे उसी समय गजारूढ़ होकर ढंढण मुनि के दर्शनार्थ चल पड़े।

श्रीकृष्णजी जा ही रहे थे कि ढंढण मुनि उन्हें मार्ग में मिल गए। मुनिराज पर दृष्टि पड़ते ही वे हाथी से नीचे उतर पड़े। विधिपूर्वक वन्दन और नमस्कार किया। तत्पश्चात्

कृष्णजी अपने महल की ओर चल दिये और मुनि अपने मार्ग पर अग्रसर हुए।

इस घटना को एक सेठ ने देखा। श्रीकृष्ण जैसे महान प्रतापी, राजाओं और महाराजाओं द्वारा वन्दनीय महापुरुष भी जिस मुनि का इतना सन्मान करते हैं, हाथी से उतर कर जिसे वन्दना करते हैं, वह मुनि कोई सामान्य व्यक्ति नहीं। अवश्य ही वह कोई बड़े महात्मा होने चाहिए। यह सोचकर सेठ के हृदय में मुनि के प्रति श्रद्धा और भक्ति का भाव उमड़ आया। वह भी मुनि के निकट आया एवं वन्दना-नमस्कार करके उन्हें अपने घर ले गया। वहां उसने उन्हें मोदकों का दान दिया।

दीक्षालेने के पश्चात् यह पहला हो अवसर था जब किसी गृहस्थ ने उन्हें आहार-दान दिया हो। मुनि ने विचार किया इतने दिनों तक अन्तराय कर्म की प्रबलता थी ज्ञात होता है, अब वह शिथिल हो रहा है। तथापि यह मोदक मेरी ही लब्धि के हैं अथवा किसी और की लब्धि के? इस बात को जांच करनो चाहिए। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् ही इस बात को भली भांति जानते हैं। अतः उन्हीं से पूछ लेना उचित है। यह सोचकर मुनिराज मोदक लेकर भगवान् को सेवा में उपस्थित हुए। वहां पहुँच कर बोले—प्रभो! आज तक प्रति दिन गोचरी के लिए परिभ्रमण करने पर भी मुझे एक चना भो गोचरो में नहीं मिला था। यह पहला दिन है, जब मोदक प्राप्त हुए हैं। अनुग्रह करके फरमाइए कि ये मेरी लब्धि के हैं या नहीं?

जिस स्थिति में यह प्रश्न पूछा गया, उसमें बड़ा विकट हो सकता है। एक मुनि छह माह से निराहार-निर्जल

परिभ्रमण कर रहे हैं। आज उन्हें आहार मिला । अब वह जानना चाहते हैं कि इससे उनकी प्रतिज्ञा की पूर्ति होती है या नहीं? स्पष्ट है कि मुनि को खाने की चिन्ता नहीं, प्रतिज्ञा-पूर्ति की चिन्ता है। खाने की चिन्ता होती तो वह भगवान् के पास जाकर प्रश्न ही क्यों करते ? वह आप ही आप अपने मन का समाधान कर सकते थे कि मैं किसी दूसरे के मुनि के साथ गोचरी नहीं गया। मैंने किसी दूसरे के नाम पर आहार की याचना नहीं की। किसी को दुहाई नहीं दी । प्रत्यक्ष हो यह आहार मेरी लब्धि का ही है। इस प्रकार सोचकर वह लड्डू आरोग लेते । परन्तु नहीं, उन्होंने ऐसा नहीं किया। इससे यह स्पष्ट है कि उनकी प्रतिज्ञा लोक दिखावा नहीं थी। वह भाव-तपस्या आत्मशुद्धि के लिए थी। वे भोजन की परवाह न करके अपने प्रण का पालन करने को ही महत्व देते थे।

यह तो ठीक है, पर जिन गुरूजी के सामने यह प्रश्न उपस्थित किया गया, उनके लिए बड़ी ही दुविधा उत्पन्न करने वाला हो सकता है। इस प्रश्न का उत्तर अगर 'हाँ' में हो तब तो कोई भी विचारणीय बात नहीं, अगर 'ना' में हो तो दुविधा हो सकती है। कह दिया जाय कि यह आहार तुम्हारी लब्धि का नहीं है, तो मुनिराज छह महीने के पश्चात् भी भोजन ग्रहण नहीं कर सकते ! गुरूजी का यह उत्तर शिष्य को भूखा रखने का कारण बनता है।

परन्तु तपस्वी मुनि के गुरू सर्वज्ञ थे । अनन्त भविष्यत् भाव उनके ज्ञान में झलक रहे थे। मोह-ममता से अतीत थे। शुद्ध सत्य का वे परित्याग नहीं कर सकते थे। अतएव भविष्य जानते हुए भगवान् ने उत्तर दिया—आयुष्मान् ! यह मोदक तुम्हारी लब्धि के नहीं, कृष्ण वासुदेव की लब्धि के हैं। उन्हीं

के प्रभाव से तुम्हें मिले हैं।'

इस उत्तर को सुनकर भी आत्मार्थी मुनि के चित्त में निराशा या उद्वेग का भाव उत्पन्न नहीं हुआ। उनका मन मैला न हुआ। वे एक महान् संघर्ष में निरत थे। अन्तराय कर्म रूपी शत्रु का परास्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने सोचा—अभी तक शत्रु काबू में नहीं आया तो अब आएगा!

ढंढण मुनि उन मोदकों को लेकर चले। पास की जन्तु-विहीन भूमि पर उन्हें चूर-चूर कर पटकने लगे। उनका मोदकों को चूरना क्या था, घातिया कर्मों को चूरना था। वे मोदक चूरते जाते थे और भगवान् का गुणगान भी करते जाते थे। सोच रहे थे—धन्य हैं देवाधिदेव भगवान् अरिष्टनेमि, जिनकी महती कृपा से मैं अपनी प्रतिज्ञा से च्यूत होते-होते बच गया। भगवान् ने मुझे पतन से बचा लिया।

मुनिराज ढंढण कुमार की विचारधारा निर्मल से निर्मलतर होती चली भावना में उच्चता और समता आ गई। उत्कृष्ट रसायन आते ही उनके चारों घातिया कर्म क्षीण हो गए। उन्हें अनन्तज्ञान एवं अनन्तदर्शन प्राप्त हो गया। जिस अन्तराय कर्म को वह जीतना चाहते थे, वे समूल नष्ट हो गया। भगवान् अरिष्टनेमि के अनुग्रह से वे उन्हीं के समान बन गए।

मनुष्य या पशु से जब उचित से अधिक काम लिया जाता है, तब उसका फल कितनी कठिनाई से भुगतना पड़ता है, यह जानने के लिए यह कथा अत्यन्त सहायक है।

卐

णमोक्कार (नमस्कार)

मुनिराज खड़े हैं और उनके सामने एक उपासक साष्टांग नमस्कार करता हुआ दिखाई देता है। मुनिराज का एक हाथ ऊपर की ओर उठा हुआ है। जान पड़ता है—वे 'दया पालो' का आशीर्वाद दे रहे हैं!

जब कोई गृहस्थ, मुनि को नमस्कार करता है तो मुनि उसे दयाधर्म पालने का आशीर्वाद देते हैं। चिरंजीव रहो, दीर्घायु होओ, जीते रहो, धनवान् बनो, पुत्र-पौत्रवान् बनो, इस प्रकार के आशीर्वाद साधु नहीं देते। इसका कारण स्पष्ट है। वह यह कि जीवन की सफलता अधिक समय तक जिंदा रहने में नहीं है बल्कि धर्म का पालन करने में है-दया की भावना का विकास करने में है। इसी प्रकार धनवान् या पुत्रवान् बनने से आत्मा का कल्याण नहीं होता। यह सब तो मनुष्य को माया के जाल में फँसाने वाली वस्तुएँ हैं। जीवन की सार्थकता तो धर्मपालन में ही है।

नमस्कार करना एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। किसी के सामने नमस्कार करने का अर्थ है—उसकी महत्ता को स्वीकार करना और उसके समक्ष अपनी लघुता प्रकट करना। नमस्कार दो प्रकार का है—लौकिक और लोकोत्तर। माता, पिता, जेष्ठ, भ्राता आदि को तथा अपने विद्यागुरु को किया जाने वाला नमस्कार लौकिक नमस्कार कहलाता है। लौकिक नमस्कार करने से उन गुरुजनों की प्रीति प्राप्त होती है। उनके द्वारा किये हुए उपकारों के प्रति कृतज्ञता का प्रकाश होता है। नमस्कार करने वाले में नम्रता आती है।

लोकोत्तर नमस्कार धर्मदेव और धर्मगुरु को किया जाता है। जिसमें सर्वज्ञता और वीतरागता हो, वह धर्मदेव कहलाता है और जो पूर्ण रूप से कंचन-कामिनी के त्यागी होते हैं, वे धर्मगुरु कहलाते हैं। इनको नमस्कार करने से नीचगोत्र कर्म का विनाश होता है, आत्मा की शुद्धि होती है एवं अन्तःकरण में लघुता आती है।

नमस्कार का महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि नमस्कार करने के मंत्र को अर्थात् णमोकारमंत्र को सब पापों का विनाश करने वाला है एवं सब मंगलों में श्रेष्ठ मंगल माना गया है। वह मंत्र चौदह पूर्वों का सार माना जाता है।

प्रत्येक शिष्ट और सभ्य पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह भक्ति एवं आदर के साथ अपने माता-पिता तथा धर्मगुरु एवं धर्मदेव को नमस्कार करके अपनी आत्मा को उच्च और पवित्र बनावे।

卐

तपस्वी (शालिभद्र)

विशेष तपस्या करने वाला तपस्वी कहलाता है। जैन परम्परा एक प्रकार से तपःप्रधान परम्परा है। भगवान् महावीर का त्यागी जीवन घोर तपश्चर्या में व्यतीत हुआ था। भगवान् के तपोमय जीवन का आज तक जैन यथाशक्ति अनुकरण कर रहे हैं। यह बात अलग है कि देश, काल और समझ के अन्तर से आज वह बात नहीं रह गई, फिर भी यह तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि अन्य लोगों की अपेक्षा आज भी जैन समाज में तपस्या का विशेष आदर है। अब भी

महीनों तक निराहार रहने वाले तपस्वी जैन समाज में मौजूद हैं।

जैन धर्म के अनुसार आत्मशुद्धि के लिए तपस्या करना अनिवार्य है। तपस्या ही वह साधन है, जिसके द्वारा कोटि-कोटि भवों में संचित किये हुए कर्म नष्ट किये जा सकते हैं। तपस्या से अनेक लाभ होते है। यथा—

तनोति धर्मं विधुनोति कल्मषं,
हिनस्ति दुःखं विदधाति सम्मदम्।
चिनोति सत्त्वं विनिहन्ति तामसं,
तपोऽथवा किं न करोति देहिनाम्॥

अर्थात्—तपस्या के प्रभाव से संसारी जीवों को क्या-क्या लाभ नहीं होते हैं? तप के द्वारा धर्म का विस्तार होता है, पाप का नाश होता है, दुःख का अन्त आ जाता है, आत्मिक बल की वृद्धि होती है और तपोभाव या मिथ्यात्व का अन्त आ जाता है।

दूसरे आचार्य कहते हैं:—

यद् दूरं वद् दुराराध्यं, यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपस्या साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम्॥

जो दूर है, जिसकी आराधना करना कठिन है और जो बहुत दूरी पर स्थित है, वह सब तपस्या के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। तप की शक्ति कदापि व्यर्थ नहीं जा सकती।

भगवान् के समय में तपस्या का बाह्य रूप प्रचलित था लोग कायक्लेश को या शरीरदण्ड को ही तप समझते थे। किन्तु भगवान् ने तप के सम्यक् स्वरूप पर प्रकाश डाला। शरीरस्पर्शी तप को आत्मस्पर्शी बनाया। उन्होंने स्वाध्याय,

ध्यान, विनय और वैयावृत्य आदि आन्तरिक शुद्धि उत्पन्न करने वाली क्रियाओं को भी तप की ही कोटि में रख कर तपस्या के स्वरूप को एक नवीन सांचे में ढाल दिया।

जैनधर्म के अनुसार तपस्वी वही कहला सकता है जो बाह्य और आन्तरिक-दोनों प्रकार की तपस्या करता है। आन्तरिक तपस्या प्रधान है और उसकी सिद्धि के लिए बाह्य तपस्या उपादेय है। अतएव बाह्य तप, आन्तरिक तप की वृद्धि करने वाला होना चाहिए। जिस बाह्य तप से आन्तरिक शुद्धि न हो, वह यथेष्ट फलप्रद नहीं होता। बाह्य तप छह प्रकार का है और आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं। उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन इस प्रकार है:—

बाह्य तप—१–अनशन अर्थात् कषाय, विषय और आहार का त्याग करके अपनी आत्मा में रमण करना। २–ऊनोदर-भूख से कम भोजन करना, जिससे प्रमादरहित होकर स्वाध्याय ध्यान आदि किया जा सके। ३–भिक्षाचर्या भिन्न-भिन्न प्रकार के अभिग्रह लेकर भिक्षा करना। ४–रसपरित्याग-विकारजनक घी दूध दही आदि पदार्थों का सेवन न करना। तथा स्निग्ध और गरिष्ठ पदार्थों के खान-पान का त्याग करना। ५–कायक्लेश-शास्त्रोक्त विधि से काय को कष्ट पहुँचना, जिससे कि शारीरिक ममत्त्व का ह्रास हो। ६–प्रतिसंलीनता-इन्द्रिय आदि का गोपन करना, जिससे समभाव की वृद्धि हो।

अभ्यान्तर तप—१–प्रायश्चित्त-प्रमाद से हुए दोषों की शुद्धि करना २–विनय-गुरूजनों का यथोचित सन्मान करना आदि ३–वैयावृत्य-सेवा करना ४–स्वाध्याय-शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन आदि करना। ५–ध्यान-आर्त्तध्यान रौद्र-

ध्यान से बचकर आत्मचिन्तन करना ६—व्युत्सर्ग-ममता का त्याग करना

यह बारह प्रकार की तपस्या करने वाला ज्ञानी पुरूष अपनी आत्मा की उसी प्रकार शुद्धि करता है, जैसे अग्नि स्वर्ण की शुद्धि करती है। जैन परम्परा में अनेक बड़े-बड़े तपस्वी हुए हैं, जिन्होंने संसार के उत्कृष्ट भोगों को मैल के समान समझ कर त्याग दिया। पहली अवस्था में वे बड़े ही सुकुमार रहे, मगर जब उन्हें बोध प्राप्त हुआ तो कठोर तपस्या की आग में अपने शरीर को झौंक देने से पीछे नहीं हटे। उनमें से एक तपस्वी श्रीशालिभद्रजी म० का यहाँ परिचय दिया जाता है।

आज से करीब अढ़ाई हजार वर्ष पहले की बात है। आजकल जिसे बिहार प्रान्त कहते हैं, उस समय वह मगध जनपद कहलाता था। मगध की राजधानी राजगृह नगर थी। संसार परिवर्तनशील है। समुद्र की जगह रेगिस्तान और रेगिस्तान के स्थान पर समुद्र बन जाते हैं। नगर उजड़ जाते हैं—वीरान हो जाता है। वीरान आबाद हो जाता है। राजगृह नगर आज पहले के समान धन एवं जन से सम्पन्न नहीं रहा है। पहले वह स्वर्गपुरी के समान गुलजार था। धन-समृद्धि से भरपूर था। यही नहीं, वह धर्म तथा राजनीति—दोनों का एक बड़ा केन्द्र स्थल था।

चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर ने अपने पावन चरण-कमलों से अनेक बार राजगृह को पवित्र बनाया था। भगवान् के परम भक्त राजा श्रेणिक का यह नगर राजधानी उस समय मगध राज्य प्रभावशाली और बड़े राज्यों में गिना जाता था। इस प्रकार राजगृह नगर उस समय भारत के मुख्य नगरों में था।

राजगृह नगर में गोभद्र नामक एक सम्पत्तिशाली सेठ रहते थे। वे बड़े प्रतिष्ठित व्यापारी थे। अपनी जाति में मुखिया गिने जाते थे। धर्मनिष्ठ सज्जन पुरुष थे। उनकी पत्नी भद्रा भी 'यथानाम तथागुण' को चरितार्थ करती थी। अतिशय विनीत, गम्भीर, पतिव्रता और दयालु थी।

पति-पत्नी दोनों में अत्यन्त गाढ़ स्नेह था। उन्हें संसार सम्बन्धी सुखों की सभी सामग्री प्राप्त थी। कमी थी तो सिर्फ एक बात की। उनके घर का दीपक न था—अर्थात् एक भी पुत्र नहीं था। सिर्फ एक कन्या, जिसका नाम सुभद्रा था, उत्पन्न हुई थी। उसका विवाह हो चुका था। धन्ना सेठ की पत्नी होकर वह सुसराल चली गई थी। घर सूना था। गोभद्र सेठ को यह स्थिति सहन नहीं हो रही थी।

गोभद्र विचार करने लगे—यह तो सत्य है कि सन्तान किसी की आत्मा को तार नहीं सकती। अपने-अपने कार्यानुसार ही सब को सुख-दुःख भुगतने पड़ते हैं। फिर भी सन्तान के अभाव में घर ही नहीं, जिगर भी सूना रहता है। विशेषतया नारी जाति को सन्तान के बिना सुख-सन्तोष नहीं मिलता। गृहस्थधर्म की परम्परा को सतत जारी रखने के लिए भी पुत्र होना चाहिए। पुत्र के होने से मनुष्य सहज ही गृहस्थी के उत्तरदायित्व से मुक्त होकर त्यागी बन सकता है और आत्मकल्याण कर सकता है।

सन्तान की इच्छा किसे नहीं होती? अविवेकी जन तो सन्तान पाने के लिए न जाने क्या-क्या मूढ़ताएँ करते हैं! वे मिथ्यादृष्टि देवों की उपासना करते हैं। तरह-तरह की मनौती मनाते हैं। भैरों, भवानी और भोपों की शरण लेते हैं। पर गोभद्र सेठ विवेकवान् थे। वे अपना धर्म खोकर सन्तान नहीं

ाना चाहते थे। सन्तान के लिए भी उन्होंने धर्ममय विचार या। सोचा मेरे यहाँ पुत्र का जन्म होगा तो मैं तत्काल यम धारण कर लूँगा।

थोड़े ही दिनों में सेठजी का अभिग्रह सफल हुआ। भद्रा ठानी गर्भवती हुई। उन्होंने शालि से सुशोभित खेत स्वप्न में खा। गोभद्र सेठ स्वप्न की बात सुनकर समझ गये कि शीघ्र मेरी मनोकामना सफल होने वाली है।

यथासमय पुत्र का जन्म हुआ। सेठजी की दासी उन्हें धाई देने को पहुंची। सेठजी को बहुत प्रसन्नता हुई। वे अपने भिग्रह के अनुसार उसी समय घर से निकल पड़े। हार्दिक ल्लास के साथ भगवान् महावीर की सेवा में पहुंचे और क्षित हो गये।

साधु बनकर उन्होंने शास्त्रों का गंभीर ज्ञान प्राप्त या। यथोचित तपस्या की। फिर भी मोहनीय कर्म बड़ा लवान् है। उनके अन्तःकरण में मोह के कुछ संस्कार बने ही ह गए। वे उन संस्कारों के कारण सिद्धि प्राप्त न कर सके। ाँच वर्ष तक संयम का पालन करके प्रथम स्वर्ग में देव हुए।

देवों को अवधिज्ञान होता है। इस अवधिज्ञान से देव ने ान लिया कि पूर्वभव में मेरे दीक्षित हो जाने पर भद्रा ने पुत्र ा जन्मोत्सव किया और 'शालिभद्र' नाम रक्खा है। वह प्रेम े साथ पुत्र का पालन-पोषण कर रही है।

देव के मन में प्रेम उमड़ पड़ा। वह तत्काल वहाँ आया ौर अपनी दिव्य शक्ति से अद्भुत ठाठ रचकर चला गया। ालिभद्र की हवेली ने तनिक सी देर में नया रूप धारण कर लेया। उसका खजाना असीम सम्पत्ति से भर गया। सात खंड के महल के रूप में परिणत हुई हवेली राजगृह को स्वर्ग के

समान सुशोभित करने लगी। उसमें सभी प्रकार के सभी ऋतुओं के अनुकूल सुख-साधन तैयार हो गए।

शालिभद्र स्वभाव से अत्यन्त भद्र, सुशील, सुन्दर और तेजस्वी बालक था। आठ वर्ष का हुआ तो उसने बहत्तर कलाएँ सीखीं। यौवन में प्रवेश किया तो माता भद्रा ने बत्तीस कन्याओं के साथ विवाह कर दिया। इस प्रकार शालिभद्र सुख-चैन से जीवन बिताने लगा।

(२)

शालिभद्र के पिता का जीव देव, शालिभद्र पर गाढ़ी प्रिति रखता था। गोभद्र-पर्याय में उसने अपने पुत्र का मुख भी नहीं देखा था। उस कसर को वह देव-पर्याय में पूरी करना चाहता था। शालिभद्र को अधिक से अधिक सुखी बनाना उसका प्रियत्तर कार्य हो गया था। अतएव वह देव प्रतिदिन तेतीस पेटियाँ स्वर्ग से अपनी दिव्यशक्ति के द्वारा भेजा करता था। एक शालिभद्र के लिए और बत्तीस उनकी पत्नियों के लिए।

प्रत्येक पेटी में तीन खाने बने होते थे। एक खाने में चारों तरफ के आहार भरे होते, दूसरे खाने में उत्तम वस्त्र सजाये होते और तीसरे में दिव्य बहुमूल्य आभूषण रक्खे होते थे। नित्य नवीन वस्त्र, आभूषण और आहार पाकर शालिभद्र एवं उनकी पत्नियाँ खूब आनन्द में रहतीं। भला जिनके लिए पृथ्वी पर ही स्वर्ग उतर आया हो, उनके सुख का क्या कहना है? बड़े से बड़ा चक्रवर्त्ती सम्राट् भी शालिभद्र के सुख की बराबरी नहीं कर सकता था। वह इस भूतल पर देव के समान था और उसकी पत्नियाँ अप्सराओं के समान थीं।

स्वर्गलोक की वस्तुओं का उपभोग करने वाले को दीन-
निया से क्या प्रयोजन था ? शालिभद्र संसार के व्यवहार की
ओर तनिक भी ध्यान नहीं दे रहा था। कौन राजा, कौन प्रजा,
कैसा कार-बार-व्यापार ! उसे इन सब बातों से कोई प्रयोजन
नहीं था। उसे प्रतिदिन आवश्यकता से अधिक उपभोग की
सामग्री अनायास ही मिल रही थी। शालिभद्र के तथा उनकी
पत्नियों के नित्य उतारे हुए दिव्य आभूषणों से खजाने भरते
जा रहे थे। पहले की सम्पत्ति अलग ही थी और वह भी
असीम थी !

वास्तव में इस घर की स्थिति अनोखी थी। यहाँ बहु-
मूल्य से बहुमूल्य रत्नों की भी कोई पूछ नहीं थी। वे कंकरों
की तरह फेंक दिये जाते थे। कभी-कभी घर के दास-दासी उन्हें
उठा लेते और अपने अंग पर धारण करते तो लोग बड़ा
आश्चर्य करते थे ! बड़े-बड़े लखपति जिन रत्नों के लिए तर-
सते थे, वह शालिभद्र के दासों-दासियों के अंग पर सुशोभित
होते और घर के मालिक का उस ओर कोई ध्यान ही नहीं
था। न उन्हें ध्यान देने की आवश्यकता थी एवं न रोकटोक
थी। इस घर में लक्ष्मी पैरों तले रौंधी जाती थी। परन्तु
शालिभद्र कुमार का पुण्य इतना प्रबल था कि वह उन्हें छोड़-
कर यन्यत्र कहीं जा नहीं सकती थी।

वास्तव में पुण्य का फल बड़ा ही चमत्कार उत्पन्न करने
वाला होता है। पुण्य के द्वारा सभी अभीष्ट प्राप्त होते हैं।
संसार में कोई ऐसा सुख नहीं जो पुण्य के अभाव से प्राप्त न
हो सके।

(३)

एक वार नेपाल के चार व्यापारी घूमते-फिरते राजगृह में आये व्यापार के साथ ही साथ देशाटन करने के उद्देश्य से वे निकले थे और मगध सम्राट श्रेणिक की तथा राजगृह के बड़े-बड़े धनकुबेर सेठों की प्रशंसा सुनकर वे आज इस नगर में आये थे। इन व्यापारियों के पास अत्यन्त सुन्दर, अद्भुत एवं मूल्यवान् सोलह रत्न-कंबल थे।

रत्न कंबलों को लेकर व्यापारी बहुत घूमे थे। अनेक राजाओं और सेठ-साहूकारों के पास गये थे। कंबलों को देखकर सभी लोग मुक्तकंठ से सराहना करते। उनकी कोमलता और कारीगरी पर मुग्ध हो जाते। लेने को ललचाते। परन्तु जब कीमत सुनते तो सन्न रह जाते थे। किसी की हिम्मत न होती। उन्हें खरीदने की।

सचमुच रत्न कंबलों की कीमत बड़ी ऊँची थी। एक-एक की कीमत बीस-बीस लाख मोहरें!

भारत वस्त्र निर्माण कला में अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व कितना उन्नत था, इसका अनुमान इसी से लगा लीजिए। उस समय हस्तकला-कौशल अपनी उत्कृष्ट सीमा पर जा पहुंचा था। कितनी बढ़िया कारीगरी रही होगी उस समय!

हाँ, तो नेपाल के व्यापारी श्रेणिक महाराजा के पास पहुँचे! रत्न-कंबल देखकर श्रेणिक को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। वस्त्र निर्माताओं के असाधारण कौशल को देखकर वे मुग्ध हो गये। उन्होंने एक कंबल खरीद लेने की इच्छा प्रकट की।

महाराजा श्रेणिक ने एक कंबल अन्तःपुर में भेजा। वहां भी उसकी बड़ी सराहना की गई और कहला दिया गया कि महाराजा कम से कम एक कंबल अवश्य खरीद कर लें।

महाराजा ने तब व्यापारियों से उसकी कीमत पूछी। एक की कीमत बीस लाख मोहरें सुनकर उन्हें निराशा हुई। उन्होंने अपना विचार बदल डाला। व्यापारियों से कहा—इतना बहुमूल्य कंबल नहीं खरीदना चाहते।

व्यापारी खिन्न हुए। उनमें से एक ने कहा—सम्राट्प्रवर! कला का मूल्य आप न आंकेंगे तो वह किसके आधार पर टिकेगी?

सम्राट्—भाई कला का मूल्य धन में निहित नहीं है। कलाकार जिस अनूठे सौन्दर्य की सृष्टि करता है, वही सौन्दर्य उसे परितोष प्रदान करता है और वह परितोष ही उसकी कला का असली मूल्य है।

व्यापारी-परन्तु कलाकार का परितोष उसके हृदय की खुराक बन सकता है, उदर की नहीं। उदर के परितोष के लिए भी तो कुछ चाहिए।

सम्राट्—यथार्थ है; परन्तु मेरी परिस्थिति भिन्न है। आप जानते हैं, मैं द्रव्योपार्जन के लिए कोई श्रम नहीं करता। प्रजा की गाढ़ी कमाई से अपना निर्वाह करता हूँ। मेरे खजाने में प्रजा का ही धन है। अतः आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त, अनावश्यक एवं विलासवर्धक वस्तुओं के लिए उस धन का व्यय नहीं कर सकता। बीस लाख मोहरों से कितने ही निर्धनों की सेवा की जा सकती है, उन्हें आजीविका कमाने के योग्य बनाया जा सकता है। जो लोग व्यापार-धन्धा आदि करके धन कमाते हैं, उन्हें ऐसा खर्च करने का अधिकार है—मुझे नहीं।

व्यापारी सम्राट् श्रेणिक के ऊँचे विचारों को सुनकर दंग रह गए। उन्होंने मन ही मन सोचा—सम्राट् की बहुत बहुत प्रशंसा सुनी थी, वास्तव में ये उससे भी अधिक प्रशंसा

के पात्र हैं। इनके हृदय में अपनी प्रजा के लिए कितना प्रेम है! वास्तव में श्रेणिक आदर्श राजा हैं। प्रजा का धन इनके लिए धरोहर मात्र है। शासक हो तो ऐसा हो! क्यों नहीं, भगवान् महावीर के उपदेशों का इनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इनका जीवन कितना प्रामाणिक और ऊँचा बन गया है।

आखिर जब श्रेणिक रत्नकंबल खरीदने के लिए तैयार न हुए तो व्यापारी वहाँ से चले आए। वे नगर एक जलाशय के पास जाकर वृक्ष की छाया में बैठे थे। परस्पर रत्न-कंबलों की ही चर्चा कर रहे थे। इन कंबलों की खरीद में उन्होंने बहुत-सी पूंजी लगा दी थी। मगर वह बिक नहीं रहे थे। सोच रहे थे कि राजगृह सरीखे समृद्ध नगर में भी यदि कंबल न बिक सके तो फिर कहाँ बिकेंगे?

इसी समय एक नारी जल भरने को आई। उसके मस्तक पर घट था, इस कारण वह साधारण नारी जान पड़ती थी; परन्तु उसका वेषभूषा साधारण नहीं था। उसके शरीर पर बहुमूल्य वस्त्र और अत्यन्त बहुमूल्य आभूषण थे। घट के कारण दासी और वस्त्रों एव आभूषणों के कारण रानी सरीखी दिखाई देने वाली इस महिला की ओर व्यापारियों का ध्यान आकर्षित हो गया। वे चकित तथा विस्मित भाव से उसकी ओर देखने लगे।

उस नारी ने भी व्यापारियों की तरफ देखा। उनके चेहरे चिन्ता से व्याकुल थे। वे प्रसन्न नहीं दीख पड़ते थे। यह देख-कर वह नारी व्यापारियों के पास पहुँची। उसने पूछा—भाइयों! आप लोग चिन्तित क्यों दीख रहे हैं? कहाँ से आये हैं? आपकी चिन्ता का कारण क्या है? कोई हानि न होतो कहिए।

एक व्यापारी—बाई, हम लोग परदेशी हैं—नेपाल से आए हैं। रत्नकंबल बेचने के लिए यहाँ आए, परन्तु कोई ग्राहक नहीं मिल रहा हे। इसी चिन्ता से परेशान हैं। राजगृह का बड़ा नाम सुनकर चले आए थे, परन्तु आने पर बड़ी निराशा हुई।

उस महिला को व्यापारियों की बात सुनकर धक्का लगा। राजगृह नगर के प्रति बाहर वालों का ऐसा विचार हो, यह उसे अच्छा न लगा। अतएव उसने कहा—तो आप लोग कंबल बेचना चाहते हैं?

व्यापारी—जी हाँ।

नारी—तो चलिए मेरे साथ।

व्यापारी—क्या हम आपका परिचय पा सकते हैं?

नारी—मेरा कोई बड़ा परिचय नहीं। न रानी हूँ, न सेठानी हूँ। मैं भद्रा माता की दासी हूँ। परन्तु आप चिन्ता न करें। कंबल आपके बिक जाएँगे।

व्यापारी दासी के पीछे-पीछे चले। शालिभद्र की हवेली पर पहुँचे। वहाँ का रंग ढंग देखकर चकित रह गए। उन्हें आशा होने लगी कि शायद हमारा काम यहाँ बन जायगा।

दासी ने उनसे कहा—आपको दरवाजे पर ठहरना पड़ेगा। भीतर से भद्रा माता को आज्ञा भिजवाती हूँ। तब आप अन्दर आ सकेंगे।

थोड़ी-सी देर में व्यापारियों को भीतर बुलाया गया। व्यापारी भीतर घुसे तो हवेली का दिव्य वैभव देखकर दंग रह गए। उन्हें ऐसा जान पड़ने लगा कि स्वर्ग की समस्त विभूति इसी हवेली में आ करके जमा हो गई है। यह दृश्य देखकर व्यापारियों ने अपना देशाटन का श्रम सार्थक समझा। उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

आखिर वे भद्रा माता के सामने पहुंचे। उन्होंने कंबल दिखलाकर कहा–माताजी यह शाल अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। इनमें अनेक गुण हैं। सर्दी, गर्मी और वर्षा में समान रूप से सुखप्रद हैं। ऋतु परिवर्तन के अनुसार इनकी प्रकृति में भी यथोचित परिवर्तन हो जाता है। इन्हें ओढ़ने से ज्वर आदि रोगों का नाश हो जाता है। अग्नि इन्हें भस्म नहीं कर सकती। आग के संसर्ग से उलटे यह शुद्ध हो जाते हैं। नर और नारी दोनों ही समान रूप से इनका उपयोग कर सकते हैं।

व्यापारियों की बात समाप्त होते ही भद्रा सेठानी बोली–कितने कंबल हैं आपके पास ?

व्यापारी–सोलह !

भद्रा–तो यह तो थोड़े हैं। मुझे बत्तीस चाहिए। बत्तीस होते तो एक-एक बहू को एक-एक दे देती। सोलह से कैसे काम चलेगा ?

व्यापारी आश्चर्य के गहरे सागर में डूब गए। उन्होंने कहा—माताजी, कंबल दोहरे हैं; एक-एक के दो-दो हो सकते हैं।

भद्रा—ठीक है फिर दो-दो कर दो।

व्यापारी—एक-एक का मूल्य बीस-बीस लाख मोहर है।

भद्रा सेठानी ने उसी समय मुनीम को बुलवाकर कंबलों की कीमत चुका देने का आदेश दिया। मुनीम व्यापारियों को साथ लेकर लक्ष्मी के भंडार में गये। वहां की विपुल एवं कल्पनातीत धनराशि देकर व्यापारी हक्के-बक्के रह गए। मुनीम ने उनसे कहा—जितना चाहिए उतना ले लीजिए। यहां कोई कमी नहीं है !

व्यापारियों ने नियत मूल्य ले लिया। उनके हृदय हर्ष और विस्मय से नाच रहे थे। अपने जीवन में उन्होंने ऐसा पुण्य-प्रकर्ष कहीं नहीं देखा था।

(४)

शालिभद्र की सभी पत्नियाँ अत्यन्त विनीत, उदार और स्नेहशील थीं। उनका आपस का व्यवहार भी प्रेमपूर्ण था। प्रतिदिन प्रातःकालसब मिलकर सासू को चरण-वन्दना करने जातीं और उनका आशीर्वाद लेती थीं।

आज प्रातःकाल जब बहुएँ भद्रा के पास पहुंचीं तो उन्होंने आशीर्वाद के साथ शालें भी दीं। सब ने आदर के साथ वे शालें लीं और अपनी जगह चली गईं। वहाँ जाकर एक ने कहा—बहिन, इनका क्या करेंगे ? यह तो शरीर में चुभती हैं !

दूसरी ने कहा—स्नान करते समय इनसे पैर रगड़ डालें तो पैर एकदम साफ हो जाएंगे।

शालिभद्र के घर में वस्त्रों और आभूषणों का एक ही वार उपयोग किया जाता था। दूसरे दिन वह हटा दिये जाते थे। अतएव वे शालें भी पैर पौंछकर फेंक दी गईं।

थोड़ी देर में आंगन साफ करने के लिए महतरानी आई। उसने जगमग-जगमग करते वस्त्रों का ढेर देखा तो एक दासी को आवाज़ देकर कहा— बाई, वे वस्त्र सँभाल कर उठा लो। मुझे झाड़ना है।

दासी ने सब वृत्तान्त बतलाकर कहा—यह तुम्हारे लिए रक्खे हैं। खुशी से उठा ले जाओ।

महतरानी की प्रसन्नता का पार न रहा। वह गठरी बाँधकर घर ले गई। जी न माना तो उसी समय एक शाल

ओढ़ कर महाराज श्रेणिक के महल को झाड़ने चली। वह ऐसी चली जा रही थी मानों हवा पर सवार हो। उसके पैर जमीन पर नहीं टिक रहे थे।

राजभवन में पहुंच कर महतरानी झाड़ू लगाने लगी। अकस्मात् महारानी चेलना की दृष्टि उस पर पड़ गई। महारानी ने आश्चर्य के साथ सोचा-इसके पास यह शाल (कंबल) कहाँ से आ गया ? क्या महतरानी ने खरीद लिया होगा ?

रानी चेलना अपनी उत्कंठा को रोक न सकी। उन्हों पूछताछ कर सारी हकीकत जान ली। वह उसी समय सम्रा श्रेणिक के पास गई। बोली—आप मगध के सम्राट् होकर जिस एक शाल को न खरीद सके। वह सब की सब शालिभ की माता ने खरीद लीं ! उन्होंने अपनी बहुओं को दीं बहुओं ने पैर पोंछकर फेंक दीं। देखिए, वही शाल महतरा ओढ़ कर आई है ! आज महतरानी सचमुच महतरानी गई। उसने रानी से बाजी मार ली।

श्रेणिक भी अत्यन्त चकित हुए। हमारी राजधानी ऐसे-ऐसे सम्पन्न सेठ भी हैं, यह विचार कर उन्हें गौरव और प्रमोद भी हुआ। साथ ही उन्हें शालिभद्र से मिलने की अभिलाषा भी हुई। महाराज ने उसी समय अपने पुत्र अमात्य अभयकुमार को बुलवाया और कहा—मैं शालिभद्र से मिलना चाहता हूँ। उन्हें सन्मान के साथ ले आओ।

अभयकुमार उसी समय शालिभद्र की हवेली में पहुँचे। पहले ही कहा जा चुका है कि शालिभद्र किसी के भी सम्पर्क में नहीं आते थे। वह अपने आपमें मस्त थे। अतएव अभयकुमार भद्रा सेठानी से मिले। उन्होंने महाराज की अभिलाषा बतलादी।

अभयकुमार की बात सुनकर भद्रा असमंजस में पड़ गई। महाराज स्वयं भेट करना चाहते हैं, यह कोई सामान्य गौरव की बात नहीं थी। शालिभद्र वहाँ जाएगा कैसे? यही उनकी चिन्ता का कारण था। आखिर विनय के साथ उन्होंने उत्तर दिया—कुमार, शालिभद्र का परम सौभाग्य है कि महाराज उससे भेंट करना चाहते हैं। परन्तु वह बहुत ही भोला है। वह आज तक नीचे नहीं उतरा है। उसे राज्यमहल तक कैसे भेजूँ? अगर अन्नदाता स्वयं मेरी झौंपड़ीं में पधार जाते तो मैं भी उनके दर्शन कर लेती—मुझे सत्कार करने का अवसर मिलता। कुमार, आप चाहें तो क्या यह हो नहीं सकता?

अभय कुमार ने सोचा—महाराज का यहाँ पधारना ही ठीक है। यहाँ ऋद्धि दर्शनीय है। इसे देखकर महाराज प्रसन्न होंगे। इस वैभव की तुलना में राजकीय वैभव किसी गिनती में नहीं है।

यह सोचकर अभय कुमार बोले—ठीक है। मैं प्रयत्न करूँगा महाराज को लाने का। जो निश्चय होगा, आपको सूचित कर दूँगा।

अभय कुमार राजमहल में पहुंचे तो महाराज ने पूछा—क्यों, शालिभद्र को ले आये?

अभय—जी नहीं। वह इतना सुकुमार है कि यहाँ तक आ नहीं सकता। उसकी माता भद्रा सेठानी ने विनयपूर्वक आपको वहीं आमंत्रित किया है। मेरा ख्याल है, आप एक बार अवश्य पधारें। वहाँ का दृश्य अनूठा है। वहाँ स्वर्गीय वैभव बिखरा पड़ा है।

महाराज श्रेणिक शालिभद्र की हवेली में पहुंचे। तब भी शालिभद्र नीचे न आए। भद्रा माता ने ही उनका स्वागत किया। हीरे और जवाहर बरसाये गये। महाराज ने हवेली में प्रवेश किया। पहली मंजिल में पहुंचे तो देखा—फर्श में, दहलानों में और दीवारों में सर्वत्र मकराना जड़ा है। उस पर की हुई मीने की सूक्ष्म कारीगरी ने मन को मुग्ध कर लिया। भद्रा ने कहा—महाराज, यह दास-दासियों के रहने की जगह हैं।

इसके बाद दूसरी मंजिल में प्रवेश किया। देखा—यहां सब काम धातुओं का है। तांबा, पीतल जगमगा रहा है। महाराज श्रेणिक ने समझा यही शालिभद्र के रहने का स्थान होगा। पर भद्रा ने कहा—अन्नदाता, यहां रसोइया आदि नौकर रहते हैं।

तीसरी मंजिल का दृश्य और भी अद्भुत था। वहां मकराने की जगह सर्वत्र सोना-चांदी जड़ा था एवं हीरों तथा मोतियों के झूमके लटक रहे थे तोषक और तकिये अपनी शोभा अलग ही दिखला रहे थे। इस जगह अनेक बड़ी-बड़ी तोंद वाले व्यापारी बैठे लेन-देन कर रहे थे। महाराज उनमें से एक को शालिभद्र समझ कर ठहरने लगे तो भद्रा ने कहा—महाराज, यह दुकान है। यहां मुनीम-गुमाश्ता लोग बैठते हैं।

महाराज चौथी मंजिल पर पहुँचे पहुंचते ही वहां का फर्श देखकर भ्रम में पड़ गये कि आगे जल है या स्फटिक? उन्होंने अपने चातुर्य का उपयोग करते हुए तत्काल अपनी अंगूठी हाथ में से निकाल कर ज़मीन पर गिरा दी। ऐसा करने से यह तो विदित हो गया कि जल नहीं है, स्फटिक है, परन्तु अंगूठी उठाना कठिन हो गया। स्फटिक के जड़ाव के कारण अनेक अंगूठी दिखाई देने लगी। जानना कठिन हो गया कि

कौन वास्तविक अंगूठी है और कौन प्रतिविम्ब है ? इस कारण राजा के चेहरे पर कुछ उदासी आ गई। वे सोचने लगे—यहां आकर सवा करोड़ की हानि उठाई !

यह देख भद्रा अपने खजाने में गईं और अंजली भर कर अनमोल मुद्रिकाएँ ले आईं। राजा को भेंट की। राजा चकित हो रहे। आगे चले तो दिव्य रत्नों की झिलमिल करती आभा चारों ओर देख कर दंग रह गए। चांद-सूरज का सा प्रकाश फैल रहा था। तब सेठानी भद्रा ने कहा-अन्नदाता, यह मेरा निवास स्थान है। शालिभद्र यहाँ से तीसरे मंजिल पर है। कृपा कर थोड़ी कष्ट और कीजिए।

मगर महाराज श्रेणिक वहीं बैठ गए। उन्होंने कहा-अब थोड़ा कष्ट आप कीजिए। कुमार को यहीं बुला लीजिए। भद्रा सेठानी ने कहा - जो आज्ञा।

छटी मंजिल पर जाकर सेठानी ने पुकारा-शालि ! जरा नीचे आ मगधनरेश श्रेणिक महाराज पधारे हैं।

शालिभद्र ने पता नहीं पूरी बात सुनी या नहीं; परन्तु उसने कहा माँ कभी किसी बात के लिए मुझसे नहीं पूछती। आज क्या हो गया ? भंडार में डलवा दीजिए और मुँह-माँगा चुका दीजिए। पूछना क्या है।

शालिभद्र ने समझा—श्रेणिक कोई कीमती किराना है !

भद्रा यह उत्तर सुनकर उलझन में पड़ गईं। सोचने लगीं—कहीं महाराज ने यह उत्तर सुन न लिया हो ! वे क्या सोचेंगे !

आखिर वह शालिभद्र के पास पहुंची। उसे समझाया—महाराज श्रेणिक अपने नाथ हैं। औरों को उनके दर्शन भी

दुर्लभ हैं। धन्य भाग्य अपने कि वे यहाँ पधारे हैं। शीघ्र चलकर उनसे मुलाकात करो।

माता की बात सुनकर शालिभद्र का चित खिन्न होगया वह मन ही विचार करने लगे-आह, मैंने पूर्ण पुण्य का उपार्जन नहीं किया, इसी कारण मेरे सिर पर कोई दूसरा नाथ है! मैं पराधीन हूं! इस पराधीनता में ही सुख मान कर मस्त हो रहा हूँ! मुझे इस पराधीनता का अन्त करना चाहिये। ऐसा उपाय करना चाहिए कि मेरा कोई नाथ न हो। मैं स्वयं अपना नाथ बन सकूँ। अच्छा, देखूँ, कैसे होते हैं राजा! वह आये हैं राजा! वे आये हैं तो शिष्टता का पालन के हेतु मुझे उनके पास जाना ही चाहिए।

आखिर नवनीत के समान मृदुल-गात शालिभद्र श्रेणिक के पास आये। उन्हें देखते ही श्रेणिक महाराज के हृदय की कली-कली खिल उठी। क्या दिव्य स्वरूप है। चेहरे पर अपूर्व भद्रता, सुकुमारता, पावनता, और दीप्ति थी। एकदम गौर वर्ण, विशाल वक्षस्थल, चोड़ा ललाट! जान पड़ता था, पुण्य की साक्षात् प्रतिभा है।

श्रेणिक महाराज स्वयं बहुत सुन्दर थे, परन्तु शालिभद्र के सौन्दर्य को देखकर वह मुग्ध हो गये। उन्होंने कुमार को अपनी गोद में बिठलाया। मगर मनुष्य-शरीर के ताप से शालिभद्र का मक्खन-सा शरीर पिघलने लगा। महाराज और उनके साथी सामंत आदि यह देखकर दंग रह गए। आखिर महाराज ने कहा—मांजी, कुमार को अपने आवास पर भेज दीजिए। इन्हें यहां कष्ट हो रहा है। यह पुण्य-पुरुष हैं।

(५)

पुण्यानुबंधी पुण्य आत्मा को उच्च से उच्चतर स्थिति पर पहुँचाता है। कुमार शालिभद्र महान् पुण्यशाली थे। आज उन्हें उच्चतर स्थिति पर पहुंचने का एक निमित्त मिल गया। मेरे सिर पर नाथ है, मैं पराधीन हूं, यह विचार बार-बार उनके मस्तिक में चक्कर काटने लगा। उन्होंने सोचा मैं इस स्थिति का अन्त करूंगा। मैं ऐसी करनी करूंगा कि कोई मेरा नाथ न रहे। यह सब संसार त्याग कर मुक्ति की साधना करने पर ही संभव हो सकता है।

शालिभद्र के हृदय-सरोवर में वैराग्य की लहरें उठने लगीं। वह जब अपने आवास में पहुंचे तो इन्हीं विचारों में डूब गये। उनकी पत्नियों ने कुमार का गंभीर एवं विरक्त मुखमंडल देखा। उनके व्यवहार में भी बड़ा परिवर्तन हो गया। उन्होंने चिन्तित होकर भद्र मासा को बुलाया। कुमार ने माता से स्पष्ट कह दिया—'माताजी, मैंने समझ लिया है कि संसार का सारा वैभव एकत्र होकर भी मनुष्य को सनाथ नहीं बना सकता। संसार जन्म जरा मरण आदि के घोर दुःखों से परिपूर्ण है। मैं इन दुःखों पर विजय प्राप्त करने की साधना करने के लिए भगवान् महावीर के चरणों का सहारा लूंगा। मैं नाथ बनूंगा। अपनी अनाथता का परित्याग कर दूंगा।

भद्रा माता के हृदय को गहरा आघात लगा। वे बोली बेटा, वह साधना अच्छी है, पर तुम्हारे जैसों के लिए नहीं। तुम्हारा यह कोमल शरीर तपस्या की अग्नि को सहन नहीं कर सकता। जिसने हवेली से बाहर पांव नहीं रक्खा, वह बिना उपानह, कैसे ग्रामानुग्राम पैदल चलेगा? बेटा, इस विचार को

त्याग दे और घर में रह कर ही धर्म की आराधना कर।

शालिभद्र बोले—मां, इस शरीर को इतनी सुकुमारता शोभा की चीज नहीं है। यह मनुष्य की दुर्बलता का चिन्ह है। इस दुर्बलता को अभ्यास से दूर किया जा सकता है। आत्मा में असीम-अनन्त सामर्थ्य है। प्रबल इच्छा-शक्ति हो तो मनुष्य के लिए कुछ भी कठिन नहीं है। मेरा निश्चय अपरिवर्तनीय है। मैं संयम ग्रहण करूँगा।

भद्रा माता विवश थीं। उनके प्रबल अनुरोध करने पर भी शालिभद्र का निश्चय न पलटा। अलबत्ता माता के बहुत कुछ आग्रह करने पर उन्होंने एक-एक दिन एक-एक पत्नी का परित्याग करते हुए बत्तीस दिन गृहस्थी में रहना स्वीकार कर लिया। परन्तु बीच में ही उनके बहिनोई धन्ना सेठ को वैराग्य हुआ और उनकी प्रेरणा पर शालिभद्र भी उनके साथ ही दीक्षित हो गए।

भगवान् महावीर के समीप दीक्षित होकर शालिभद्र मुनि ने आध्यात्मविद्या का गंभीर अभ्यास किया और तीव्र तपश्चर्या की। गुलाब के फूल से भी अधिक कोमल और नवनीत से भी अधिक सुकुमार शरीर को आपने तपश्चर्या की आग में झौंक दिया। जो पैर कभी जमीन पर नहीं पड़े थे वही आज बिना जूते कंकरीली-पथरीली भूमि में विचरण करने लगे जो स्वर्गलोक की सम्पदा का यथेच्छ उपयोग करते थे, वही शालिभद्र आज स्वेच्छा से अकिंचन-अपरिग्रही बन गये। सात खण्ड की दिव्य हवेली में निवास करने वाला पुण्य-पुरुष आज 'अनगार' बन गया। श्रेणिक जैसे सम्राट के शासन को भी असह्य समझने वाले इन भिक्षु ने श्रमण भगवान् के धर्म शासन को अंगीकार किया। उन्हें भोग रोग

प्रतीत हुए। संसार की विभूति तृणवत् तुच्छ प्रतिभासित होने लगी। भोगों के पंक में से निकलकर वे आत्मज्ञान के निर्मल निर्झर में अवगाहन करने लगे। वे उस अपूर्व आकुलताहीन, निराबाध, आत्मिक सुख में रमण करने लगे, जिसकी भोगी जन कल्पना भी नहीं कर सकते।

अन्त में शालिभद्र मुनि संथारा करके सर्वार्थसिद्ध विमान में अहमिन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए। वहां तेतीस सागरोपम की स्थिति पूर्ण करके, मनुष्यभव धारण करेंगे और मुक्ति प्राप्त करेंगे।

卐

थल चर

तिर्यंच गति के जीवों में जितनी विविधता पाई जाती है, उतनी अन्य किसी भी गति के जीवों में नहीं पाई जाती। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि का भेद तिर्यंचों में ही होता है। जलचर, नभचर और थलचर का भेद भी इन्हीं में पाया जाता है। जल में रहने वाले मगर-मच्छ आदि जलचर कहलाते हैं। आकाश में उड़ने वाले कबूतर इत्यादि पक्षी नभचर या खेचर कहलाते हैं। जमीन पर चलने वाले गाय, घोड़ा प्रभृति पशु थलचर या स्थलचर कहलाते हैं।

सिंह यद्यपि थलचर है, फिर भी वह तिर्यंचों का राजा इन्द्र गिना गया है। सिंह की शान सभी पशुओं में निराली होती है। वह अत्यन्त पराक्रमी और बलवान् होता है। यद्यपि हाथी डीलडौल में सिंह की अपेक्षा बहुत बड़ा होता है, फिर भी सिंह के पराक्रम एवं बल का मुकाबिला नहीं कर सकता।

इसी कारण सिंह को मृगेन्द्र भी कहते हैं और 'वन का राजा' भी कहते हैं।

सिंह की आकृति बड़ी शानदार होती है। उसे देखते ही मन में भय का संचार होता है। उसकी गंभीर गर्जना सुनकर दिल दहल उठता है और रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

साहित्यकारों ने सिंह को साहित्य में उचित स्थान प्रदान किया है। सिंह अपनी कई विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध है। चौबीसों तीर्थंकरों के अलग अलग चिन्ह होते हैं। उनमें से भगवान् महावीर का चिन्ह सिंह ही है। अनेकों जगह उपमाओं के लिए सिंह का स्मरण किया गया है यथा—

जहा से निक्खदाढे, उदग्गे पुप्पवहंसए।
सीहे मयाण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए॥

उत्तराध्ययन, अ० ११, गा० २०

जैसे तीखी दाढों वाला, उद्दाम और किसी से पराजित न होने वाला सिंह, पशुओं में श्रेष्ठ माना जाता है, उसी प्रकार बहुश्रुत विद्वान् मुनियों में उत्तम होता है।

और भी कहा है:—

जहेह सीहो व मयं गहाय, मधू नरं णेइ हु अन्तकाले।

जैसे—सिंह, मृग को पकड़ लेता है, उसी प्रकार अन्त समय में मृत्यु मनुष्य को धर दबोचती है।

सूने और गहन वन में, जब सिंह हिरन को पाता।
तब उसकी रक्षा करने को, कौन सामने आता?

वास्तव में यह थलचर (सिंह) पशुओं में अद्वितीय है।

卐

दमयन्ती

यों तो प्रत्येक महिला, जो पतिव्रता होती है, जो पर-पुरुष को पिता और भाई के समान समझती है, जो शीलधर्म की रक्षा को अपने प्राणों से भी अधिक समझती है अथवा पूर्ण ब्रह्मचारिणी होती है, सती कहलाती है। संसार में ऐसी अनेक सतियाँ हो चुकी हैं। भिन्न-भिन्न युगों में भी होती ही रहती हैं। उनकी संख्या निश्चित करना कठिन है। किन्तु जैनजगत् में जो सोलह सतियाँ गिनी गई हैं, वे दूसरे अभिप्राय से। जिन महामहिलाओं ने दृढ़ता के साथ शीलधर्म का पालन किया और साथ ही जिन्होंने अपने जीवन में विशेष प्रकार का तेज प्रकट किया—किसी एक सद्गुण को चरम सीमा तक पहुंचाया, उन्हें सती की श्रेणी में गिना गया है।

हाँ, तो सोलह सतियों में दमयन्ती देवी की भी गणना है। उनका जीवन बड़ा ही पवित्र, बड़ा ही उच्च और बड़ा ही तेजस्वी रहा।

दमयन्ती कुन्दनपुर के राजा की पुत्री थी। उनका रूप और लावण्य उस समय अद्वितीय समझा जाता था। कुन्दनपुर-नरेश ने इतनी सुन्दरी और सुकुमारी बालिका पाकर अपने को भाग्यशाली समझा। वह अपने माता-पिता के प्रगाढ़ प्रेम की पात्र थी।

दमयन्ती राजघराने में जन्मी थी, अतः उसे किसी चीज की कमी नहीं थी, सभी प्रकार की यथेष्ट सुखसामग्री उसे अनायास ही प्राप्त थी। दास-दासियों का समूह उसकी सेवा में उपस्थित रहता था। फिर भी दमयन्ती कुमारी परावलम्बन को अच्छा नहीं समझती थी। बचपन से ही उसकी प्रकृति में

कुछ विलक्षणता थी।

जब दमयन्ती आठ वर्ष की हुई तो उसे विद्या का अभ्यास कराया गया। उस समय की शिक्षापद्धति आज जैसी नहीं थी। तब अक्षरज्ञान के साथ-साथ कलाओं के ज्ञान को बहुत महत्त्व दिया जाता था। कोरा अक्षर ज्ञान जीवन को पराधीन बनाता है और कलाओं के ज्ञान से जीवन स्वावलम्बी बनता है। यही कारण है कि प्राचीनकाल में पुरुषों को बहत्तर एवं स्त्रियों को ६४ कलाओं का प्रयोग के साथ अभ्यास कराया जाता था। इन कलाओं में जीवनोपयोगी सभी बातों का समावेश हो जाता था। कलाओं को सीख लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति किसी भी अवस्था में अपना सुखपूर्वक निर्वाह कर लेता था तथा तेजस्विता के साथ जीवन यापन करने में समर्थ हो जाता था।

राजकुमारी दमयन्ती को ६४ कलाओं का अभ्यास कराया गया। उसकी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। स्वल्प समय में ही वह कलाकुशल बन गई। राजकुमारी होकर भी उसने भोजन बनाने की, दही बिलोने की, बीमारों की परिचर्या करने की और बालकों के पालन-पोषण आदि की शिक्षा ली। वह अनेक शास्त्रों में पण्डिता बन गई।

दमयन्ती स्वभाव से ही बड़ी सुशीला थी और उसका ज्ञान भी उच्च कोटि का हो गया था। ये दो गुण जिसमें होते हैं, वह चाहे नर हो चाहे नारी, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, प्रशंसा एवं आदर पाता ही है। उसका जीवन उच्च कोटि का बन जाता है। सदाचार तथा ज्ञान के सहारे अन्य अनेक सद्गुणों का विकास हो जाता है।

राजकुमारी दमयन्ती में ये दोनों गुण विशेष रूप में कट हुए थे। अतः उसके यश की सुगन्ध चारों दिशाओं में र-दूर तक पहुँच गई। अब वह कुमारावस्था को पार करके वयौवन में पाँव रख चुकी थी।

कन्या पराये घर का धन कहलाती है। लाड़-प्यार से लन-पोषण करने, शिक्षित बनाने और संस्कारवती बनाने पश्चात् उसे दूसरे घर की मेहमान बना देना पड़ता है। रन्तु कन्या जब असाधारण रूप से योग्य होती है, सद्गुणवती ोती है, तब उसके लिए सुयोग्य वर का चुनाव करना एक ठिन समस्या हो जाती है। माता-पिता की स्वाभाविक ही ह इच्छा होती है कि कन्या अच्छे से अच्छे वर के साथ व्याही ाय, जिससे उसके जीवन का विकास रुक न जाय, वरन् ढ़ता जाय। वह सुख और शान्ति के साथ अपना जीवन प्रतीत करे।

विवेकवान् माता-पिता अपनी सन्तान का विवाह जीवन ो सुखमय बनाने के दृष्टिकोण से करते हैं। वे यह भी सोचते कि हमारी सन्तान जिस प्रकार अपने धर्म का भलीभाँति ालन कर सके, उसी प्रकार का साथी उसके लिए चुनना ाहिए। खेद है कि आज विवाह के विषय में यह दृष्टिकोण ौण और धन का दृष्टिकोण प्रधान हो गया है। आज प्रायः न्या का पिता गुणों की परवाह न करके धनवान् ही वर ोजना चाहता है एवं लड़के का पिता भी कन्या की शिक्षा आदि का विचार न करके धन ही देखता है। आज धन में ही ब गुण मान लिये गये हैं। परिणाम यह हुआ है कि वर-कन्या का विवाह होने के बदले आजकल धन का धन के साथ विवाह होता है। कई लोग तो इतनी नीचता पर उतर आते

कुछ विलक्षणता थी।

जब दमयन्ती आठ वर्ष की हुई तो उसे विद्या का अभ्यास कराया गया। उस समय की शिक्षापद्धति आज जैसी नहीं थी। तब अक्षरज्ञान के साथ-साथ कलाओं के ज्ञान को बहुत महत्त्व दिया जाता था। कोरा अक्षर ज्ञान जीवन को पराधीन बनाता है और कलाओं के ज्ञान से जीवन स्वावलम्बी बनता है। यही कारण है कि प्राचीनकाल में पुरुषों को बह- त्तर एवं स्त्रियों को ६४ कलाओं का प्रयोग के साथ अभ्यास कराया जाता था। इन कलाओं में जीवनोपयोगी सभी बातों का समावेश हो जाता था। कलाओं को सीख लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति किसी भी अवस्था में अपना सुखपूर्वक निर्वाह कर लेता था तथा तेजस्विता के साथ जीवन यापन करने में समर्थ ब जाता था।

राजकुमारी दमयन्ती को ६४ कलाओं का अभ्या कराया गया। उसकी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। स्वल्प समय ही वह कलाकुशल बन गई। राजकुमारी होकर भी उस भोजन बनाने की, दही बिलोने की, बीमारों की परिचर्या कर की और बालकों के पालन-पोषण आदि की शिक्षा ली। व अनेक शास्त्रों में पण्डिता बन गई।

दमयन्ती स्वभाव से ही बड़ी सुशीला थी और उस ज्ञान भी उच्च कोटि का हो गया था। ये दो गुण जिस होते हैं, वह चाहे नर हो चाहे नारी, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, प्रशं एवं आदर पाता ही है। उसका जीवन उच्च कोटि का ब जाता है। सदाचार तथा ज्ञान के सहारे अन्य अनेक सद्गुण का विकास हो जाता है।

राजकुमारी दमयन्ती में ये दोनों गुण विशेष रूप में कट हुए थे। अतः उसके यश की सुगन्ध चारों दिशाओं में र-दूर तक पहुँच गई। अब वह कुमारावस्था को पार करके वयौवन में पाँव रख चुकी थी।

कन्या पराये घर का धन कहलाती है। लाड़-प्यार से ालन-पोषण करने, शिक्षित बनाने और संस्कारवती बनाने पश्चात् उसे दूसरे घर की मेहमान बना देना पड़ता है। रन्तु कन्या जब असाधारण रूप से योग्य होती है, सद्गुणवती ोती है, तब उसके लिए सुयोग्य वर का चुनाव करना एक ठिन समस्या हो जाती है। माता-पिता की स्वाभाविक ही ह इच्छा होती है कि कन्या अच्छे से अच्छे वर के साथ व्याही ाय, जिससे उसके जीवन का विकास रुक न जाय, वरन् ढ़ता जाय। वह सुख और शान्ति के साथ अपना जीवन ्यतीत करे।

विवेकवान् माता-पिता अपनी सन्तान का विवाह जीवन ो सुखमय बनाने के दृष्टिकोण से करते हैं। वे यह भी सोचते कि हमारी सन्तान जिस प्रकार अपने धर्म का भलीभाँति ालन कर सके, उसी प्रकार का साथी उसके लिए चुनना ाहिए। खेद है कि आज विवाह के विषय में यह दृष्टिकोण ौण और धन का दृष्टिकोण प्रधान हो गया है। आज प्रायः न्या का पिता गुणों की परवाह न करके धनवान् ही वर ोजना चाहता है एवं लड़के का पिता भी कन्या की शिक्षा ादि का विचार न करके धन ही देखता है। आज धन में ही ब गुण मान लिये गये हैं। परिणाम यह हुआ है कि वर-कन्या का विवाह होने के बदले आजकल धन का धन के साथ विवाह होता है। कई लोग तो इतनी नीचता पर उतर आते

हैं कि वर या कन्या का मोल-तोल करके, रकम निश्चित करके विवाह करते हैं ! वे अपने लड़के को या लड़की को वेचते हैं !

परन्तु दमयन्ती के माता पिता के सामने यह प्रश्न नहीं था। वे राजा रानी थे। सम्पत्ति की उन्हें कमी नहीं थी और वे विवेकशील भी थे। उनके सामने एक ही प्रश्न था कि हमारी बिटिया में जिन असाधारण गुणों का विकास हुआ है, वे किस प्रकार आगे बढ़ते जाएँ ? उसे इन गुणों वाला साथी ही खोजा जाय, जिससे सन्तोष और सुख से इसका समय व्यतीत हो। वास्तव में दमयन्ती कुमारी के अनुरूप वर को खोज लेना सरल काम नहीं था।

एक दिन कुन्दनपुर-नरेश ने विचार किया—यदि सन्तान में अपने लिए सुयोग्य साथी खोज लेने की योग्यता न हो तो उसके माता-पिता को यह उत्तरदायित्व अपने सिर लेना चाहिए। और जब सन्तान स्वयं योग्य हो, विवेकशील हो, तो यह भार उसी पर डाले देना अधिक अच्छा है। उसे अपनी इच्छा एवं रूचि के अनुसार साथी चुनने का अवसर देना चाहिए। राजकुमारी स्वयं ही अपने लिए वर का चुनाव कर सकती है तो उसे यह अवसर क्यों न दिया जाय ?

महाराज ने महारानी से भी इस विषय में परामर्श किया दोनों ने एकमत होकर स्वयंवर का आयोजन किया। दूर-दूर तक के राजाओं, महाराजाओं, युवराजों आदि को आमन्त्रण दिया गया। इधर बड़े ठाठ के साथ तैयारियां आरम्भ हो गईं। विशाल स्वयंवर मण्डप की रचना की गई। स्वयंवर-मण्डप गोलाकार रचा गया था और उसमें आमंत्रित किये हुए सभी अतिथियों के बैठने के लिए एक समान सुन्दर आसनों की व्यवस्था की गई थी।

पहले बतलाया जा चुका है कि राजकुमारी दमयन्ती उस समय की एक असाधारण कन्या थी। उसके रूप सौन्दर्य की और सद्गुणों की ख्याति चहुँ ओर फैली हुई थी। अतएव दमयन्ती को कौन न चाहता? जिसे निमन्त्रण मिला, वही उसे पाने के लिए छटपटाने लगा। नियत समय पर आमन्त्रित राजा-राजकुमार आये। सब का राजसी स्वागत किया गया। ठहराने की उत्तम व्यवस्था की गई।

स्वयंवर—समारोह के दिन सब आगत अतिथि समय पर मंडप में आसीन हुए। उधर से राजकुमारी दमयन्ती अपनी सखियों के साथ मंडप में आई। उसके हाथों में एक सुन्दर और लम्बी माला थी। वह गोलाकार मंडप में एक छोर से प्रविष्ट हुई। चारण और भाट मंडप में बैठे राजाओं एवं युवराजों के विद्या, बल, कुल शील आदि का परिचय दे रहे थे। दमयन्ती कुमारी सब का परिचय पाती हुई आगे बढ़ती जाती थी।

उस समय का दृश्य बड़ा ही विचित्र था। राजकुमारी जिसके सामने पहुंचने को होती, उसके हृदय में एक लालसा उत्पन्न हो जाती थी। वह अत्यन्त उत्कंठित हो उठता था। जिसके सामने से चली जाती, उसकी निराशा का अन्त नहीं रहता था। वह लज्जा से सिकुड़-सा जाता था।

स्वयंवर-प्रथा के अनुसार राजकुमारी की सखियों के हाथ में एक बड़ा दर्पण था। सखियाँ उस दर्पण को राजाओं के सामने कर देती थीं। उस पर प्रतिबिम्बित हुए रूप को राजकुमारी देखती थी।

दमयन्ती अनेक राजाओं और राजकुमारों को निराश करके आगे बढ़ती हुई राजकुमार नल के निकट पहुँची। उसने

दर्पण में नल के रूप-सौन्दर्य और शारीरिक संगठन को देखा। चारणों के मुख से विरुदावली सुनी। वह वहीं ठिठक रही। उसने नल को अपने अनुरूप वर समझा। चेहरे पर लालिमा दौड़ गई। उसी समय दमयन्ती ने नल के कंठ में वरमाला डाल दी।

स्वयंवर—मण्डप जय-घोषों से गूंज उठा। राजकुमारी और राजकुमार पर पुष्पों की वर्षा की गई। स्वयंवर-सभा विसर्जित हुई। वाद में दमयन्ती के माता-पिता ने उनका विधी पूर्वक विवाह कर दिया।

जिस युग की यह कथा है, उस समय भारत की संस्कृति उच्च कोटि पर पहुँची हुई थी। समाज में नारी का सम्मान-पूर्ण स्थान था। स्त्रियों को उनके योग्य सभी अधिकार प्राप्त थे। यही कारण है कि कन्याओं को अपना साथी चुनने का पूर्ण अधिकार था।

राजकुमार नल विवाह के पश्चात् कुछ दिनों तक अथिति के रुप में रहे फिर विवाह के समय प्राप्त बहुमूल्य दहेज के साथ, राजकुमारी दमयन्ती को लेकर अपने घर के लिए रवाना हुए। बारात लौट गई।

बरात चलती-चलती एक सुनसान जंगल में पहुँची। उस समय एक आकस्मिक घटना घटित हो गई। अचानक हवा का एक भयानक तूफान उठ खड़ा हुआ। धूल से धरती और आसमान एक हो गये, हाथ को हाथ न दिखाई देने लगा। चारों ओर, ऊपर-नीचे अन्धकार ही अन्धकार छा गया। सब लोग चक्कर में पड़ गये। आगे बढ़ना असंभव हो गया। बरात जहाँ की तहाँ रुक गई।

समस्त कलाओं को सीखने से बुद्धि का कितना विकास हो जाता है और संकट के समय वह कलाज्ञान कितना उपयोगी होता है, यह बात इस घटना से सहज ही विदित हो जाएगी।

चौंसठ कलाओं को सीखने से दमयन्ती का वैज्ञानिक ज्ञान भी ऊँचे दर्जे का था। जब दमयन्ती ने देखा कि चहुँ ओर अँधेरा ही अँधेरा छा गया है और साथ के सब परेशान हो रहे हैं तो उसने हाथी की पेशानी पर किसी वस्तु का लेप कर दिया। लेप करते ही, उसी समय प्रकाश फैल गया। सब लोग दमयन्ती का कला-कौशल देखकर चकित और विस्मित हो गये। सब ने नयी बहू की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। राजकुमार नल अपनी पत्नि की कुशलता देखकर फूले न समाये।

जब प्रकाश फैल गया तो लोगों ने इधर-उधर देखा। वहीं पास में एक महान् मुनिराज विराजमान थे। वह आत्म-ध्यान में लीन थे। उनका सौम्य मुखमंडल देखने वाले को सहसा ही श्रद्धा उत्पन्न कर देता था। पद्मासन लगाकर बैठे यह योगी जगत् में रहते हुए भी जगत् की वासनाओं और तज्जनित द्वन्द्वों से अतीत जान पड़ते थे। भयानक तूफान ने भी उनके चित्त में चंचलता उत्पन्न नहीं की थी। वे ज्यों के त्यों अडोल, अकम्प आत्मरमण में मग्न थे। बरात के कोलाहल का भी उनकी समाधि पर असर नहीं पड़ा था। नासिका के अग्र-भाग पर नेत्रयुगल जमा कर बैठे हुए मुनिराज ऐसे जान पड़ते थे, मानो-वैराग्य की साक्षात् मूर्त्ति हों।

इस प्रकार की प्रशान्त मुख-मुद्रा से मंडित मुनिराज को देखकर बरात के लोग वहाँ पहुँचे। सब ने विनयपूर्वक वन्दन और नमस्कार किया। कुछ ही देर में मुनिराज का ध्यान

समाप्त हुआ। मुनिराज ने उपस्थित लोगों को संक्षेप में धर्म का उपदेश दिया। कई लोगों ने प्रश्न पूछे। मुनि महाराज ने सब प्रश्नों का मधुर, गंभीर और प्रभावशाली शब्दों में समाधान किया।

मुनिराज विशिष्ट ज्ञान के धारक थे। प्रसंगवश उन्होंने कहा—तुम्हारे साथ यह जो दमयन्ती हैं, बड़ी ही भाग्यशालिनी है। संसार की अंगुलियों पर गिनी जाने वालो महासतियों में से एक है। धर्मनिष्ठा है। इसके रग-रग में धर्म के गहरे संस्कार हैं।

मुनिराज के मुखारविन्द से राजकुमारी की यह प्रशंसा सुनकर उसके सुसर आदि-आदि सभी लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए। दमयन्ती जैसी धर्मप्राण बहू को पाने के लिए वे अपने भाग्य की सराहना करने लगे। दमयन्ती ने अपने वैज्ञानिक चमत्कार से लोगों को अपना प्रशंसक पहले ही बना लिया था, अब मुनिराज के कथन से तो वे उसे आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। सब लोग राजकुमार नल को बधाइयाँ देने लगे एवं उसके भाग्य की प्रशंसा करने लगे।

बरात वहां से रवाना होकर अयोध्या पहुँची। नल अयोध्या के राजकुमार थे। अयोध्यावासियों ने दिल खोल कर राजकुमार और दमयन्ती देवी का स्वागत किया। दमयन्ती के अयोध्या पहुँचने से पहले ही उसकी कीर्ति वहाँ पहुँच चुकी थी। सच है, पुण्य का प्रभाव अद्भुत होता है। पुण्य के प्रताप से कीर्ति, सन्मान, प्रशंसा, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति होती है। दमयन्ती ने पहले जो प्रकृष्ट पुण्य का उपार्जन किया था, इसके फलस्वरूप शीघ्र ही वह अयोध्या में महान् आदर की अधिकारिणी हुई।

दमयन्ती ने अयोध्या के राजमहल में पहुँचते ही अपनी सासू आदि को प्रणाम किया। सासू ने स्नेह से गद्गद् होकर उसे अपनी छाती से लगा लिया। वह अतिशय प्यार से अपने साथ भीतर ले गई।

थोड़े ही दिनों में दमयन्ती ने सभी के हृदय में अपने लिए बहुत ऊँचा स्थान बना लिया। कुटुम्बीजन क्या और दास-दासियां क्या सब उसके सुन्दर व्यवहार को देखकर मुग्ध हो गए। वह अपनी दासियों तक से अत्यन्त मधुर व्यवहार करती थी। बड़ों का हार्दिक सन्मान करना, बराबरी वालों के साथ प्रेम से बरतना और छोटों से स्नेहमय व्यवहार करना यह उसकी जीवन नीति थी। इस व्यवहार से दमयन्ती ने जैसे सब पर जादू की लकड़ी फेर दी। ईर्षा, द्वेष, कपट, निन्दाप्रियता, लोभ, अहंकार एवं क्रोध आदि दुर्गुण उसे छू भी नहीं गये थे।

दमयन्ती राजवधू थी। फिर भी वह अनेक कार्य अपने हाथ से ही करती थी। सासू-सुसर की सेवा करने में वह कभी प्रमाद नहीं करती थी। पति की सेवा में वह दासी की भांति तत्पर रहती थी।

[२]

प्राचीन काल के राजा प्रायः अपने अन्तिम समय में संयम धर्म को अंगीकार कर लेते थे। वे कुत्ते की मौत मरना पसन्द नहीं करते थे। तदनुसार अयोध्या नरेश ने जब देखा कि राजकुमार नल राज्य संचालन के कार्य में सर्वथा योग्य हो चुके हैं, तो उन्होंने आत्म कल्याण करने का निश्चय कर लिया। नल को राज्य देकर वह त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करने को उद्यत हुए। आखिर एक दिन वे राजमहल और सोने का सिंहासन त्याग कर भिक्षु बन गए। राजकुमार नल राजा हो गये एवं न्यायनीति से प्रजा का पालन करने लगे।

नल का एक छोटा भाई था—कुबेर। नल राजा हुए तो उसके हृदय में विक्षेप की भावना उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा जैसे नल राजा का बेटा है, उसी प्रकार मैं भी। फिर क्या कारण है कि नल तो राज्य का उपभोग करे और मैं उसकी आज्ञा के अनुसार नाचा करूँ! एक ही माता-पिता के दो बेटों में इतना अन्तर क्यों? यह अन्याय है, अत्याचार है! नल अगर राजा बनने योग्य है तो मुझ में भी वही योग्यता मौजूद है। फिर इतना भेदभाव क्यों किया जाता है? मैं इस पक्षपात को सहन नहीं कर सकता—कदापि नहीं।'

इस प्रकार सोच-विचार कर कुबेर ने एक उपाय खोज निकाला जुआ खेलना। कुबेर इस कला में बहुत कुशल था और नल भी कुछ कम नहीं था। एक दिन कुबेर ने नल के सामने जुआ खेलने का प्रस्ताव रक्खा। दोनों भाई जम गये एवं दांव पर दांव लगाने लगे। कुबेर ने अपनी सारी कुशलता खर्च कर डाली। वह जीतता ही चला गया तथा नल की हार पर हार होने लगी। अन्त में जीत की आशा पर नल ने अपना राज्य दांव पर लगा दिया, पर उनकी आशा निराशा में परिणित हो गई। कुबेर ने राज्य जीतकर अपना मनोरथ पूर्ण कर लिया।

जैन साहित्य में सात कुव्यसनों को त्यागने पर बहुत बल दिया गया है। उन सात में भी जुआ पहला गिना गया है। कहा है:—

जुआ खेलना मांस मद, वेश्या व्यसन शिकार।
चोरी पररमणीरमण, सातों व्यसन निवार॥

अर्थात्— १—जुआ खेलना, २—मांस भक्षण करना, ३—मद्यपान करना, ४—वेश्यागमन करना, ५—शिकार करना,

६–चोरी करना, और ७–परस्त्रीगमन करना, ये सात कुव्य-सन है। इनका गृहस्थ को अवश्य त्याग करना चाहिए।

यों तो व्यसन मात्र बुरे हैं और जीवन को बर्बाद कर देते हैं, परन्तु जुआ का कुव्यसन अनेक दुर्व्यसनों का जनक होने के कारण अत्यन्त हेय है।

मुझे परिश्रम न करना पड़े और अनायास ही धन मिल जाय, इस प्रकार की भावना से लोग जुआ खेलने में प्रवृत्त होते हैं। किन्तु यह वृत्ति ही निन्दनीय है। परिश्रम से जी चुराना एक कायरता एवं अप्रामाणिकता है। जो मनुष्य इस मृग-तृष्णा में फँस जाता है, उसकी आगे चलकर अत्यन्त दुर्गति होती है। जुआरी में अनेक प्रकार की बुराइयाँ आ जाती हैं। वह अपना सर्वस्व खोकर अपने परिवार को भी संकट में डाल देता है।

युधिष्ठिर जैसे धर्मराज कहलाने वाले पुरुष भी जुए के कुप्रभाव से नहीं बच सके तो औरों का कहना ही क्या है? पाण्डव कितने पराक्रमी पुरुष थे। मगर जुआ उन्हें भी घोर विपत्ति में डाले बिना नहीं रहा। नल की भी वैसी ही दशा हुई। वह अपना सर्वस्व-राजपाट आदि जुए में हार कर राह का भिखारी बन गया।

राजा नल जब राज्य हार गया तो उसने अयोध्या का परित्याग कर अन्यत्र चला जाना ही योग्य समझा। दमयन्ती को यह समाचार मिले तो इसे हार्दिक सन्ताप हुआ। पहले ही कहा जा चुका है कि दमयन्ती पतिव्रता नारी थी। वह समझती थी कि प्रत्येक परिस्थिति में पति का साथ देना, छाया की भाँति पति अनुसरण करना, विपत्ति के समय धैर्य बंधाना और पति के संकट को कम करना ही आदर्श रमणी का

कर्त्तव्य है। कोई साधारण स्त्री होती तो ऐसे प्रसंग पर जली कटी बातें कहती। अपने सुख में बाधा पड़ने के कारण पति के प्रति दुर्भावना करती। परन्तु दमयन्ती ने ऐसा नहीं किया। उसने यही कहा—प्राणनाथ ! जुआ खेलना घोर अधर्म है। आप जैसे सत्पुरुष को इस दुर्व्यसन में नहीं फँसना चाहिए था। मगर जो हुआ सो हुआ। भविष्य के लिए प्रतिज्ञा लीजिए कि अब कभी जुआ नहीं खेलेंगे।

नल ने कहा—प्रिये ! तुम्हारा कथन सत्य है। मैं अब कभी जुए के चक्कर में नहीं पड़ूँगा। इस बार जो भूल हो गई है, उसका डट कर प्रायश्चित करूँगा। मुझे आज्ञा दो। मैं शीघ्र से शीघ्र अयोध्या त्याग कर चला जाना चाहता हूँ। अवसर आने पर मैं फिर कभी तुमसे मिलूँगा।

दमयन्ती सब कुछ सहन कर सकती थी, परन्तु संकट के समय पति का वियोग सहन करना उसके लिए संभव नहीं था अतएव उसने कहा—नाथ, पत्नी अर्धांगिनी होती है। क्या यह संभव है कि आधा अंग संकट भोगे और आधा अंग राजमहल के ऐश्वर्य का अनुभव करे ? नहीं। जो गति आपकी सो मेरी। मैं आपके साथ चलूँगी। सुख में साथ रही हूँ तो क्या दुःख के समय अलग रहूँगी ? ऐसा नहीं होगा। मैं आपका बोझा नहीं बनूँगी, बल्कि बोझे को हल्का करने का प्रयत्न करूँगी। मुझे अपने धर्म से वंचित करने का विचार मत कीजिए। मैं आपकी सेवा में ही रहूँगी। सत्ती नारी के लिए पति ही गति है।

दमयन्ती के विचार जानकर नल को जहाँ सन्तोष हुआ, वहीं दुविधा भी हुई। वे चाहते थे कि दमयन्ती सुखपूर्वक यहीं रहे और वह अन्यत्र जाकर जब स्थिर हो जाएँ तो उसे बुला लें। इस समय उनके सामने कोई लक्ष्य नहीं था। कहाँ जाना

होगा, किस स्थिति में रहना होगा, कसे उदर निर्वाह करना होगा, यह सभी अनिश्चित था नल राज कोष से एक भी पाई विना अकिंचन होकर जा रहे थे। पैदल चलना था। दमयन्ती जैसी सुकुमारो राज कुमारी को घसोटना वड़ा कठीन था। अतएव उन्होंने दमयन्ती को बहुत समझाया कहा—मेरी बात मान कर यहो रह जाओ। मार्ग के कष्ट तुमसे सहे नहीं जाएँगे।

दमयन्ती कहा—नाथ, आप क्या सारा संसार यही मानता है। कि प्रत्येक नारो अबला है। उसमें दृढ़ता नहीं, धैर्य नहीं सहिष्णुता नहीं। परन्तु मैं अपने वर्ताव से दिखवा दूँगी कि नारो भावना से कोमल भले हो, परन्तु शरोर से वह दृढ़ भो हो सकती है। आप विश्वास कीजिए कि मैं संसार के सुखों को अभिलाषा से नहीं, परन्तु अपने नारी कर्त्तव्य की प्रेरणा से आपके साथ चलना चाहतो हूँ। मैं पैदल चलूंगो, भूख—प्यास सहन कर लूँगी और आपकी सहायिका बनूँगी।

आखिर विवश होकर नल ने दमयन्तो को भी साथ ले लिया। दोनों अयोध्या को नमस्कार करके चल पड़े। अयोध्या वासी जैसे राम और सीता के वनवास के समय दुखित हुए थे, उसी प्रकार नल एवं दमयन्तो को विदाई के समय भी व्यथित हुए।

नल रहना चाहते तो कुबेर को क्या ताकत थी कि वह उनका राज्य छीन सकता ? परन्तु उनमें उच्च कोटि की प्रामाणिकता थी। उन्होंने सोचा मुझे अपने कर्म का फल भोगना ही चाहिए। मैं ने जुआ खेल कर जो महान् भूल की है, उसका प्रायश्चित इसी प्रकार होगा। मेरे इस चरित्र से भविष्य की प्रजा जुआ की बुराई समझेगी और उससे बचेगी तो मेरा यह कष्टसहन सार्थक हो जाएगा। राजा नल आजकल के लोगों

की भाँति कह कर मुकर जाने वाले नहीं थे।

नल और दमयन्ती दोनों पैदल चलतेचलते एक निर्जन बन में पहुँचे। पैदल चलने का यह अनुभव दोनों के जीवन में पहला ही था। खास तौर से दमयन्ती के लिए यह अनुभव भारी पड़ने लगा। यद्यपि उसे संकट समय पति साथ देने के लिए संतोष था, फिर भी शरीर तो आखिर शरीर ही ठहरा। राजसी वैभव की गोद में पला हुआ उसका मृतूल शरीर मुरझा गया। पैर जवाब देने लगे। चेहरे पर थकावट के चिह्न दिखाई देने लगे।

दमयन्ती की यह परेशानी नल से छिपी न रही। वे अपनी प्रतिप्राण पत्नी की दुर्दशा को देखकर मन ही मन व्यथा का अनुभव करने लगे। नल सोचने लगा—जुआ खेल कर मैंने जो पाप किया, उसका प्रायश्चित मुझे करना चाहिए; मगर दमयन्ती क्यों कष्ट भोगे ? इस बेचारी ने क्या अपराध किय है ? यह मेरे पाप के फलस्वरूप कष्ट पा रही है। आज पहल ही दिन है। एक दिन की थकावट में इसकी यह हालत है कौन जाने अभी कितने दिन और कितनी दूर भटकना पड़ेगा इस कोमलांगी के लिए यह असह्य होगा! यह अपने धर्म क पालन करने के लिए मेरा साथ दे रही है; पर इसके प्रति मे धर्म क्या है ? क्या मैं अपने साथ इसे घसीटूँ और कष्ट दूँ ?

नल की अन्तरात्मा ने कहा—नहीं, मैं अपने पाप क अकेला ही प्रायश्चित करूँगा। दमयन्ती को संकटों बचाऊंगा।

चलते-चलते संध्या हो गई थी। अब आगे चल सक सम्भव नहीं था। बस्ती कहीं दिखाई नहीं दे रही थी। त नल एक झरने के किनारे ठहर गये। वहीं रात्रि व्यतीत क

का निश्चय किया।

थकी-मांदी दमयन्ती की आँख लग गई। नल ने द्रौपदी के उद्धार का यही उत्तम अवसर समझा। नल ने द्रौपदी के एक कपड़े पर लिखा—'प्रिये ! तू ने जिसे हंस समझ कर पति के रूप में ग्रहण किया था, वह हंस नहीं था। फिर भी तू हंस समझ कर ही उसका साथ दे रही है। पर तेरी व्यथा मेरे लिए असह्य है। मुझे अकेले को ही अपने पाप का प्रायश्चित करने दे। तू यथास्थान लौट जाना। राज्य का त्याग करते समय जो पीड़ा नहीं हुई थी, वह इस समय हो रही है। पर तेरा दुःख मुझसे देखा न जाएगा। इसी कारण यह कठोर कृत्य कर रहा हूं। भाग्य अनुकूल हुआ तो हम शीघ्र मिलेंगे। देवि ! क्षमा करना।'

नल छाती कड़ी करके चल दिये। यद्यपि चलते समय उनके पैर लड़खड़ाने लगे, हृदय विद्रोह करने लगा; फिर भी किसी तरह वह चल ही दिये। उनका खयाल था कि दमयन्ती अयोध्या लौट जाएगी और वहाँ शान्तिपूर्वक रह सकेगी। पर गौरवशालिनी दमयन्ती के लिए यह सम्भव नहीं था। कभी-कभी जीवन में ऐसी विचित्र घटनाएँ घटित होती हैं, जिनका विश्लेषण करना एवं जिन पर अपना निर्णय देना बड़ा ही कठिन हो जाता है ! नल के इस कार्य के विषय में भी यही बात है।

थोड़ी देर बाद जब दमयन्ती की नींद खुली तो उसने अपने आपको अकेला पाया। इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई, आवाजें दी, पर सब व्यर्थ ! दमयन्ती को समझते देर न लगी कि पति देव उसे छोड़कर चले गये हैं।

दमयन्ती के सामने विषम परिस्थिति उपस्थित थी।

विचारों के तूफान उसके दिमाग में उठने लगे। उसने सोचा—पतिदेव ने मुझे अकेली छोड़कर कसौटी पर चढ़ा दिया है। इस कसौटी पर खरी उतरना मेरा कर्त्तव्य है मैं जानती हूँ कि वे मुझे प्राणों के समान चाहते हैं। इसी कारण मुझे त्याग गये हैं। मेरी व्यथा वे नहीं देख सके। उनका मुझ पर जो अत्यधिक स्नेह है, उसी ने उन्हें यह बल प्रदान किया है कि मुझे छोड़ सके।

दमयन्ती फिर सोचने लगी—मेरी सुकुमारता ने ही मुझे पतिदेव से वंचित किया है। वास्तव में यह सुकुमारता जिंदगी की एक दुर्बलता है। तीर्थंकर देव ठीक ही कहते हैं—'चय सोगमल्लं।' अर्थात् सुकुमारता का परित्याग कर दो सुकुमारता के सहारे जीवन का उबड़-खाबड़ और बोहड़ रास्ता पार नहीं किया जा सकता ! ठीक है, मुझे अपनी सुकुमारता का प्रायश्चित करना चाहिए।

दमयन्ती पुनः विचार करने लगी—नारी की अबला के रूप में ख्याति है मगर दैवयोग से मुझे ऐसा अवसर मिला है कि मैं अपने व्यवहार से यह सिद्ध करूँ कि नारी स्वावलंबिनी होकर भी जी सकती है ! पुरूष एकाकी रहकर जीवित रह सकता है तो स्त्री क्यों ऐसा नहीं कर सकती ?

फिर सोचा—पतिदेव चाहते हैं कि मैं अयोध्या लौट जाऊँ। किन्तु मैं कदापि अकेली नहीं लौटूँगी। जिसका परित्याग करके आई हूँ, उसकी शरण में जाना अपने गौरव को नष्ट करना है। मैं इस दीनता को सहन नहीं कर सकती। मैं कहीं भी रहकर पेट भर लूँगी और अपने धर्म का पालन कर लूँगी ! एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ कि मैं एकाकिनी रह गई। इससे मुझे स्वावलम्बन की शिक्षा मिलेगी। मैं विशेष

रूप से धर्म का पालन कर सकूँगी !

इत्यादि विचार करके दमयन्ती ने धैर्य धारण किया। उसने अपने साहस को नष्ट नहीं होने दिया। दृढ़तापूर्वक, भगवान् का स्मरण करके वह वहां से चल पड़ी। घूमती-फिरती दमयन्ती एक दिन अचलापुरी में अपने मौसा के घर जा पहुंची। उसकी मौसी ने बड़े प्यार से उसे अपने पास रक्खा। दमयन्ती व्रत, उपवास, दान और शील धर्म का पालन करती हुई अपना समय व्यतीत करने लगी। इस समय उसका जीवन सन्यासिनी का सा था। वह गृहस्थी में रहती हुई भी अपना अधिक समय धर्म-ध्यान में ही व्यतीत करती थी।

लगभग बारह वर्ष के पश्चात् अचानक नल भी एक दिन अचलापुरी में जा पहुंचे। वहाँ दोनों का सम्मिलन हुआ। इस सम्मिलन से दोनों के हृदय में अनिर्वचनीय आनन्द हुआ।

इस अवधि में कुवेर की मृत्यु हो चुकी थी। अतएव नल और दमयन्ती ने अयोध्या लौट जाना ही उचित समझा। अयोध्या जाकर नल फिर शासन करने लगे। बीच के समय ने उन दोनों के जीवन में काफी परिवर्तन कर दिया था। अतएव वे राज्य करते हुए भी अत्यन्त सादगी से रहते, धर्म का आचरण करते और प्रेम से प्रजा का पालन करते थे।

कुछ दिनों के पश्चात् दमयन्ती के हृदय में वैराग्य का भाव जागृत हुआ। उसने मनुष्य-जीवन के सब से बड़े लाभ आत्मकल्याण को प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। नल राजा ने बाधा देना उचित न समझा। अतएव एक दिन दमयन्ती देवी संसार के समस्त सुखों का परित्याग करके साध्वी बन गईं। उन्होंने तपस्या करके और ज्ञान प्राप्त करके

अपनी आत्मा को पवित्र किया। रानी ने स्वेच्छापूर्वक भिक्षुणी का पद अंगीकार करके धर्म का प्रभाव फैलाया।

इस प्रकार दमयन्ती देवी नारी जाति में एक मणि के समान थी। उनका जीवन आज भी हमारे लिए एक सुन्दर आदर्श है।

卐

धन्ना सेठ

भारत वर्ष में 'धन्ना सेठ' का नाम तो आज भी विख्यात है, परन्तु बहुत कम लोग जानते हैं कि वह कौन थे ? कब हुए? कहां हुए। उन्होंने अपने जीवन में क्या काम किये, जिनके कारण उनकी इतनी प्रसिद्धि हो सकी ?

अच्छा लीजिए, उनका संक्षिप्त वृत्तान्त यहां लिखा जाता है।

प्रष्ठिानपुर में धनसार नामक एक धनाढ्य सेठ रहते थे। जब जानते हैं कि लक्ष्मी चंचल होती है। वह स्थाई रूप से एक जगह नहीं ठहरती। आज जो धनवान् है, कल वही दर-दर का भिखारी बन जाता है। और आज के भिखारी को कल राजा बनते भी देर नहीं लगती।

धनसार सेठ के तीन लड़के थे। तीनों पुण्यहीन थे। इस कारण उनका जन्म होने पर सेठ जी का व्यापार डगमगा गया। पास की पूंजी भी धीरे-धीरे खिसकने लगी। सेठजी रात-दिन चिन्तातुर रहने लगे।

ऐसे समय में धन्ना कुमार का जन्म हुआ। यह बड़े ही पुण्यशाली थे। इनका नाल गाड़ने के लिए जमीन खोदी गई

तो बड़ा-सा खजाना निकल आ गया। सेठ धनसार की सभी चिन्ताएँ दूर हो गईं। उनकी प्रसन्नता का पार न रहा।

धन्ना कुमार ज्यों-ज्यों बड़े होते गये, पिता की सम्पत्ति भी बढ़ती ही चली गई। उन्होंने बहत्तर कलाओं का अभ्यास किया।

धन्ना की बुद्धि बड़ी तीव्र थी और शील-स्वभाव भी बहुत अच्छा था। वह मधुर भाषण करते थे। उनका व्यवहार विनम्रतापूर्ण था। अतः सब लोग उनकी प्रशंसा करते थे।

यह बात उनके तीनों बड़े भाईयों को सहन न हुई। वे मन ही मन धन्ना से ईर्षा करने लगे। आपस में उसकी बुराई करने लगे। एक दिन तीनों ने सोच-विचार कर सेठ से उसकी शिकायत की। कहा—धन्ना कुछ काम-काज नहीं करता, निठल्ला पड़ा रहता है। इतना बड़ा हो जाने पर भी मौज ही मौज में समय व्यतीत करता है। धेले की भी कमाई नहीं करता।

सेठ चतुर थे। अपने बड़े लड़कों को समझाने के लिए उन्होंने कहा—अच्छा हम तुममें से प्रत्येक को चौंसठ-चौंसठ मोहरें देते हैं। एक दिन की कमाई से परिवार को जिमाओ। देखें, चार में से कौन बढ़िया भोजन जिमाता है? सब ने यह बात स्वीकार कर ली।

तीनों लड़कों ने अपनी-अपनी बारी के दिन बहुत मेहनत करके परिवार को रूखा-सूखा भोजन कराया। चौथे दिन धन्ना की बारी आई तो उसने अपनी चतुराई से एक ही दिन में लाख मोहरें कमाई। परिवार को उत्तम भोजन कराया और वस्त्र-आभूषण उपहार में दिये। इस प्रकार चार बार परीक्षा की गई एवं चारों बार धन्ना ने अपने बुद्धिवैभव तथा पुण्य के प्रभाव से लाखों मोहरें कमाई।

धन्ना की इस सफलता से उनके भाइयों के दिल की जलन बढ़ गई। वे उसे मार डालने का विचार करने लगे। धन्ना एक दिन किसी को भी कहे-सुने विना घर छोड़कर चल दिये। पास में फूटी कौड़ी भी नहीं थी। भाग्य के भरोसे घर से निकल पड़े थे।

राह में धन्ना को एक किसान मिला। वह खेत में हल चला रहा था। उसे देखकर वह ठहर गये। भोजन का समय था। किसान ने उनसे भोजन करने का आग्रह किया। धन्ना वोले—मुझे भूख तो लगी है परन्तु मेहनत किये बिना खाने का मनुष्य को क्या अधिकार हैं ? काम बताओ तो करूँ और बाद में भोजन करूँ।

किसान धन्ना का उत्तर सुनकर मुग्ध हो गया। उसने कहा—पहले जीम लो। थके-मांदे आए हो फिर इच्छा हो तो काम करना।

धन्ना–नहीं बाबा, मैं काम किये बिना नहीं खा सकता। खिलाना हो तो काम बताओ, नहीं तो भूखा ही चला जाऊंगा।

किसान सहृदय था। भोजन के समय आए मुसाफिर को भोजन रहते भूखा नहीं जाने देना चाहता था। उसने देखा कि यह मुसाफिर कोई साधारण आदमी नहीं, अपने सिद्धान्त का पक्का है। काम किये बिना भोजन नहीं करेगा। तब बूढ़े किसान ने हंसकर कहा—अच्छा, लो, वह हल खड़ा है थोड़ा-सा चला लो और भोजन कर लो।

धन्ना सर्वगुणसम्पन्न थे। उन्होंने खेत में जाकर हल चलाया तो थोड़ी सी ही देर में खन्-खन्-खन् की आवाज सुनाई दी। उन्होंने किसान को बुलाकर कहा-बाबा, देखना

काहे की आवाज है ? किसान ने मिट्टी हटाकर देखा तो बड़ा-खजाना निकल पड़ा।

धन्ना बोले-बाबा, अभी इसे यहीं रहने दो। मुझे कड़ाके की भूख लगी है। चलो पहले रोटियां खा लें।

किसान, धन्ना की धन के प्रति इतनी लापरवाही देख कर चकित हो गया। दोनों ने भरपेट भोजन किया। भोजन के बाद धन्ना बोले-बाबा, मुझे दूर जाना है। अब चलता हूँ।

किसान ने आश्चर्य से आँखें फाड़कर धन्ना की ओर देखा और कहा—कहां जा रहे हो ? उस खजाने को नहीं सँभालोगे ?

धन्ना—वह मेरा नहीं, तुम्हारा है।

किसान—मैं पीढ़ियों से खेत जोत रहा हूँ। कभी खजाना नहीं निकला। तुम्हारे हल को हाथ लगाते ही निकल पड़ा। इसलिए खजाना मेरा नहीं, तुम्हारा है।

धन्ना–नहीं बाबा, खेत तुम्हारा, खेत की उपज तुम्हारी।

यह कहकर धन्ना, किसान की बात अनसुनी करके रवाना हो गए। किसान ने उन्हें रोकने और खजाना लेने का बहुत आग्रह किया, परन्तु वह नहीं रुके। किसान धन्नाजी की उदारता एवं निस्पृहता देखकर भौंचक्का रह गया।

(२)

धन्नाजी चलते-चलते उज्जैन पहुँचे। अपनी बुद्धिमत्ता और पुण्य के प्रताप से वे राजा के प्रधान बन गये। संसार के सभी सुख उन्हें सुलभ हो गए। खूब ठाठ के साथ रहने लगे। एक बार वह अपने मकान के छज्जे पर बैठे हुए नगरी का दृश्य देख रहे थे कि अचानक उन्हें अपने परिवार के लोग

दिखाई दिये। वे अत्यन्त दीन-दुखी अवस्था में थे।

यद्यपि धन्ना के भाइयों ने उनके साथ कोई अच्छा सलूक नहीं किया था और उनके कारण ही धन्ना को गृहत्याग करना पड़ा था, किन्तु धन्ना बहुत ही उदारचित्त थे। उन्होंने गुप्त मार्ग से अपने भाई आदि को घर में बुला लिया। उनकी हजामत बनवाई, स्नान करवाया, उत्तम वस्त्र-आभूषण पहनने को दिये और सब प्रकार से अपने समान बना लिया। धन्ना ने उनसे पूछा—मैं बहुत-सा धन छोड़कर आया था। वह सब कहाँ चला गया? आपकी ऐसी दुर्दशा कैसे हो गई?

धनसार ने कहा—कुछ मत पूछो बेटा! तुम्हारे साथ ही साथ लक्ष्मी ने भी हमारे घर का परित्याग कर दिया। तुम्हारे पुण्योदय से ही लक्ष्मी टिकी थी। तुम न रहे तो लक्ष्मी भी कैसे रहती? हम लोगों ने भूखे-प्यासे रहकर बड़े ही कष्ट में दिन बिताये हैं।

धन्ना को अपने कुटुम्बियों की यह दशा सुनकर खेद हुआ। सान्त्वना देते हुए उन्होंने कहा—पिताजी, संसार अनित्य है, लक्ष्मी बादलों की छाया के समान अस्थायी होती है। आती-जाती रहती है। यहाँ जो कुछ है, सभी आपका है। सुख से रहिए। पिछली बातों को भूल जाइए।

धन्ना ने उदारतापूर्वक सब को घर में रखा, परन्तु उसके भाई पापोदय के कारण सुख से न रह सके। धन्ना का प्रभाव, यश और वैभव देखकर उन्हें फिर जलन सी होने लगी। एक दिन तीनों भाइयों ने सलाह करके पिता से कहा—पिताजी हम लोग धन्ना के आश्रित बनकर नहीं रहना चाहते। हमारा हिस्सा हमें दिला दीजिए।

धनसार के दुःख की सीमा न रही। उन्होंने सोचा—ये

दुष्ट लड़के फिर खटपट आरम्भ कर रहे हैं। स्वयं दुःखी होंगे और हमें भी दुखी करेंगे। उन्होंने कहा—मूर्खों ! अपना हिस्सा मांगने तुम्हें लाज नहीं आती ? भिखारी की हालत में आए थे एवं आज हिस्सा माँगने लगे ! धन्ना खाली हाथ घर से निकला था। उसने अपनी बुद्धि के प्रभाव से सब पाया है। इसमें तुम्हारा क्या हिस्सा है ? भला चाहते हो चुप चाप पड़े रहो।

यह फटकार सुनकर तीनों जन-भुन उठे। मगर धन्ना को इस बात का पता चल गया। उसने कलह का स्थान समझ कर चुप चाप जैसे प्रतिष्ठानपुर त्याग दिया था, उज्जैन भी त्याग दिया। अपनी समस्त सम्पत्ति पिता और भाइयों के लिए छोड़ कर वह चल दिये।

धन्नाजी पैदल रवाना हुए। रात्रि का समय था। एक वन में विश्राम कर रहे थे। अचानक उनके कान में आवाज आई—पास ही नदी है। उसमें एक मुर्दा बहता आ रहा है। उसकी जांघ में कीमती रत्न है। हे पुण्यवान्, तुम उस को निकाल लो।'

धन्ना ने वह रत्न ले लिया। चलते-चलते बनारस पहुँचे। वहां गंगा देवी ने उनके शील-सदाचार पर प्रसन्न होकर उन्हें चिन्तामणि रत्न भेंट दिया। इस रत्न के प्रभाव से उनकी सभी इच्छाएँ अनायास ही पूरी हो सकती थी।

तत्पश्चात् वे राजगृह नगर में पहुँचे। एक बगीचे में ठहर गए। उनके प्रभाव से सूखा बगीचा रात भर में हरा-भरा और फूलों-फलों से सुशोभित हो गया। उनके इस अद्भुत प्रभाव को देखकर बगीचे के मालिक सेठ कुसुमपाल ने उन्हें अपनी पुत्री कुसुमश्री ब्याह दी। धन्नाजी सुखपूर्वक रहने लगे।

कुछ दिन बीते थे की सम्राट श्रेणिक का एक हाथी

मदोन्मत्त हो गया। उसने विकराल रूप धारण किया। किसी की हिम्मत उसे पकड़ने की नहीं होती थी। परन्तु धन्नाजी ने अत्यन्त कौशल के साथ हाथी को पकड़ कर वशीभूत कर लिया उनकी इस असाधारण वीरता से प्रसन्न होकर सम्राट श्रेणिक ने राजकुमारी सोमश्री का विवाह करके उन्हें अपना जामाता बना लिया। दहेज में बहुत-सी सम्पत्ति दी, सेना दी। रहने को महल दिया। राजसभा में उनकी बहुत प्रतिष्ठा हो गई।

कुछ समय बाद राजगृह के निवासी गोभद्र सेठ की कन्या सुभद्रा के साथ उनका विवाह हुआ। धन्ना जी ने बड़ी होशियारी से गोभद्र सेठ की एक विपत्ति दूर की थी। उसकी कहानी लम्बी है। मतलब यह है कि धन्नाकुमार राजगृह में आकर सुख-चैन से रहने लगे। धन, यश, सन्मान, सुख आदि सभी कुछ उन्हें प्राप्त हो गया।

एक दिन धन्नाजी अपने महल से बाहर देख रहे थे कि उन्हें एक अत्यन्त दरिद्र परिवार नजर आया। दुःख और दरिद्रता से ग्रस्त, फटे-पुराने वस्त्र पहने एवं अत्यन्त दुखी स्थिति में उस परिवार को कुमार ने देखा। ध्यान दिया तो वह समझ गये कि यह और कोई नहीं, मेरे माता-पिता तथा भाई-भौजाई ही हैं। उन्हें ऐसी हीन दशा में देखकर धन्नाजी के हृदय को कड़ी चोट लगी।

कुमार ने अपना सेवक भेज कर उन सब को हवेली में बुलाया। एकान्त स्थान में धन्ना ने सब के पैर छुए। उनकी आँखों में आँसू आगये। कुमार ने पूछा—आपकी ऐसी हालत फिर कैसे हो गई? उज्जैन में बहुत-सी धन-सम्पत्ति आपके लिए छोड़कर आया था। वह सब कहाँ चली गई?

धनसार सेठ ने कहा—बेटा, कुछ मत पूछो। तुम्हारे चले

आने के बाद राजा चन्द्रप्रद्योत को सब हाल मालुम हुआ। वह काल की तरह कुपित हो उठा। हमसे पूछने लगा–'बताओ, हमारा मन्त्री कहाँ है? हम क्या उत्तर देते? आखिर उसने सब सम्पत्ति छीन ली। तीनों भाइयों को नगर से बाहर निकाल दिया। विवश होकर हमें भी इनके पीछे आना पड़ा। रास्ते में चोर मिल गये। 'दैवो दुर्बलघातकः' अर्थात् भाग्य मरे को मारता है। इस उक्ति के अनुसार जो कुछ बचा-खुचा था सो सब उन्होंने ले लिया। ऊपर से मारपीट की। कहीं नौकरी तक न मिली। भीख मांग कर पेट पालते हुए अचानक आज यहाँ आ पहुंचे हैं। भाग्य से तुम मिल गये। अब सब दुःख दूर हुए।

कुमार धन्ना ने सब को सान्त्वना दी। अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए उन्होंने एक उपाय सोचा। पिता आदि को बहुत-सी सम्पत्ति देकर उन्हें नगर के बाहर भेज दिया। उनसे कह दिया–आप हाथी, घोड़े, रथ आदि खरीद लीजिये और ठाठ के साथ तैयार रहिए। आपकी सूचना पाकर हम आपको सम्मान के साथ नगर में लाएँगे। ऐसा करने से आपकी एवं मेरी दोनों की प्रतिष्ठा की वृद्धि होगी।

ऐसा ही किया गया। धन्ना कुमार बड़ी धूमधाम के साथ अपने परिवार की अगवानी करके ले आये। सब आनन्द-पूर्वक रहने लगे। कुमार धन्ना सम्राट् श्रेणिक के जामाता थे। वह राज-काज में व्यस्त रहते और सेठ धनसार व्यापार संभा-लते थे। तीनों भाई मौज किया करते थे।

मगर कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। पापकर्म किसी को सुखी नहीं रहने देते। धन्ना कुमार राजगृह के प्रधान पुरुषों में गिने जाते थे। उनकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा थी। अपार वैभव

था। अपनी कुशलता की बदौलत धन्ना कुमार ने वहां बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त कर लिया था। यह सब देखकर उनके भाइयों के हृदय में फिर ईर्षा की आग भड़कने लगी। वे सोचने लगे—क्या राजा और क्या प्रजा, सभी धन्ना को चाहते हैं। धन्ना की कीर्ति एवं प्रतिष्ठा असाधारण है। परन्तु हमें कोई पूछता तक नहीं है! हमारा कोई अस्तित्व ही नहीं है!

इस प्रकार सोच-विचार के कारण वे उदास रहने लगें। धन्नाजी उड़ती चिड़िया परखने वाले व्यक्ति थे। अपने भाइयों की मनोदशा को समझ गये। परन्तु पहले वह अविवाहित थे। घर छोड़कर चल देना आसान था। राजगृह में आने पर उनके तीन विवाह हो चुके थे। वह सम्राट् के जामाता हो गए थे। फिर भी उन्होंने अपने भाइयों के सुख के के लिए गृहत्याग कर देने का निश्चय कर लिया।

एक दिन वह राजगृह त्याग कर खिसक गये। सम्पत्ति की ममता उन्हें रोक न सकी। पत्नियों का प्रेम भी उनके पथ में बाधक न बन सका। असली बात यह थी कि धन्नाजी बड़े ही निस्पृह थे। धन-दौलत को वह पैर की धूल समझते थे। जानते थे कि अगर भाग्य में धन है तो वह आये बिना नहीं रहेगा। उसके लिए चिन्ता करना व्यर्थ है। मेरे त्याग से भाइयों को सुख मिलता है तो मेरा त्याग सार्थक है।

ऐसा सोचकर ; अपना सर्वस्व त्यागकर धन्ना कुमार चल दिये। चलते-चलते कौशाम्बी नगरी में पहुँचे। वहाँ के राजा शतानीक बड़े प्रभाव शाली थे। उनके पास एक सहस्त्र-किरण मणी थी, परन्तु उसके प्रभाव और गुण का किसी को पता नहीं था। अतएव शतानीक ने यह घोषणा की थी कि जो पुरुष इस मणि के गुण प्रमाण पूर्वक बतलाएगा, उसे मुँह

मांगा इनाम मिलेगा।

कुमार धन्ना यह घोषणा सुनकर राजा के पास गये। मणि की भली-भाँति परीक्षा करके उन्होंने उसके गुण राजा को बतलाए। राजा ने पूछा आपके कथन की सत्यता का प्रमाण क्या है? कुमार ने कहा- अनाज से भरी थाली में मणि रख दीजिए तो पक्षी अनाज नहीं चुगेंगे। मणि निकाल लेंगे तो चुगेंगे।

ऐसा ही किया गया। कुमार की बात सच निकली। राजा शतानिक ने कुमार का बहुत आभार माना। उन्होंने अपनी पुत्री राजकुमारी सौभाग्यमंजरी देकर उन्हें अपना जामाता बना लिया। दहेज में पाँच सौ गाँवों को जागीर दी। हाथी-घोड़े, धन- सम्पत्ति आदि भी प्रचुर परिमाण में दिये। धन्ना कुमार वहाँ आनन्द पूर्वक रहने लगे। वहाँ भी उन्होंने अपनी प्रतिभा के चमत्कार से आदरपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।

धन्ना कुमार 'धन्ना पुर' नामक एक सुन्दर और आदर्श गाँव बसाया। वहां के निवासियों की सुविधा के लिए एक विशाल तालाब खुदवाने का आयोजन किया। इससे उन्होंने दो लाभ सोचे- प्रथम तो ग्रामवासियों को आराम मिलेगा, पानी की प्रचुरता से खेती-बाड़ी अच्छी होगी तो प्रजा को सुख मिलेगा; दूसरे बेकार नर-नारियों को काम मिल जायगा। उनकी बेकारी मिट जायगी। भरपेट खाने को मिलने लगेगा तालाब की खुदाई का काम आरंभ कर दिया गया।

धन्ना कुमार बड़े ही उदार और दयालु थे उन्होंने खुदाई का काम करने वाले मजदूरों को प्रतिदिन दो दिनार एवं मजदूरिनों को एक दिनार मजदूरी देने का निश्चय किया।

विशेषता तो यह थी कि सब का भर पेट भोजन भी दिया जाता था।

इस तालाब की खुदाई की चर्चा दूर-दूर तक फैल गई। सैकड़ों पुरुष और स्त्रियाँ आकर आजीविका प्राप्त करने लगे। जो भी आता, सब को काम पर लगाया जाता था। किसी को मनाई नहीं की जाती थी। इस प्रकार सभी मजदूर बहुत प्रसन्न रहते, उत्साह से काम करते और धन्ना राजा के गुणगान करते थे। धन्ना भी सैकड़ों को सहायता पहुँचा कर प्रसन्न एवं संतुष्ट थे। इसी में वे अपने द्रव्य की सार्थकता समझते थे। जो धन तिजोरियों में पड़ा पड़ा सड़ा करता है, परोपकार आदि अच्छे कामों में नहीं लगता, वह बेकार है।

(३)

अब जरा राजगृह की ओर दृष्टि दौड़ाइए। जब धन्ना कुमार वहाँ से अचानक चल दिये और उनके चले जाने का कारण सम्राट् श्रेणिक को ज्ञात हुआ तो वह बहुत क्रुद्ध हुए। दूसरे लोग भी धन्ना के भाइयों को धिक्कार देने लगे। उनको मुंह दिखलाना भी कठिन हो गया। धीरे-धीरे धन भी क्षीण हो गया। धन्ना के पुण्य से संचित धन उनके अभाव में गायब हो गया।

लाचार होकर धनसार सेठ को अपनी पत्नी, पुत्र वधुओं और तीनों पुत्रों के साथ राजगृह त्यागना पड़ा। कुमार की पत्नी सुभद्रा ने अपने सास-श्वसुर का साथ दिया। सब निकल पड़े। तत्पश्चात् इधर-उधर घूमते हुए एवं मेहनत-मजदूरी करके अपना पेट पालते हुए, एक दिन 'धन्नापुर' आ पहुँचे। सब तालाब की खुदाई का काम करने लगे।

एक दिन कुमार धन्ना कार्य का निरीक्षण करने के लिए तालाब पर आये। उनकी दृष्टि अपने परिवार पर पड़ी तो वे अत्यन्त चकित हुए। कर्मगति की विचित्रता का विचार करने लगे।

दयालु धन्ना से न रहा गया। उन्होंने अपने भाइयों के दुर्व्यवहार को परवाह न करके फिर भी उन्हें आश्रय दिया। मगर पिछली घटनाओं पर विचार करके कुमार ने सोचा— 'सम्मिलित होकर रहने का परिणाम अच्छा नहीं निकलता। अबकी बार भाइयों का पृथक् प्रबन्ध कर देना उचित होगा, जिससे यह लोग सन्तुष्ट रहें।

यह सोचकर धन्ना ने अपनी समस्त जागीर तीनों भाइयों को दे दी। आप कुछ सम्पत्ति लेकर अलग रहने लगे। धन्ना का ख्याल था कि इस बार भाइयों को स्थावर सम्पत्ति दी है तो ये स्थायी रूप से सुखी हो सकेंगे।

कुछ दिन पश्चात् धन्ना कुमार राजगृह चले। वहाँ उनकी दो पत्नियाँ थीं और उन्हें सँभालना आवश्यक था। रास्ते में लक्ष्मीपुर पड़ा। वहाँ भी संगीत कौशल से तथा बुद्धि के प्रभाव से आपकी धाक जम गई। वहाँ की राजकुमारी के साथ विवाह हो गया। कुछ दिन ठहर कर राजगृह पहुंचे तो राजा श्रेणिक ने बहुत धूमधाम के साथ आपकी अगवानी की। सारे नगर में आनन्द छा गया। धन्ना कुमार पहले की भाँति अपनी आठों पत्नियों के साथ सुख पूर्वक रहने लगे।

उधर धन्नापुर में तीनों भाई जागीर पाकर सुखी थे, परन्तु पुण्य के योग के बिना सुख नहीं मिल सकता। धन्नाजी के चले आने के पश्चात् तीनों भाइयों में अनबन हो गई। उन्होंने जागीर का बँटवारा कर लिया। मगर बात यहीं—

समाप्त न हुई। दुर्दैव के प्रभाव से वहाँ अनावृष्टि के कारण जनता दुखी हो गई। लोग इधर-उधर चले गये। सेना भी सब छिन्न-भिन्न हो गई।

सेठ धनसार ने उन्हें कुछ द्रव्य देकर व्यापार करने की सलाह दी। वे व्यापार के लिए निकले तो मूल पूँजी ही समाप्त हो गई। आखिर तीनों भाई भटकते-भटकते राजगृह में आये। एक दिन धन्नाजी रथ में सवार होकर राजमार्ग से जा रहे थे कि अचानक उनकी दृष्टि अपने भाइयों पर जा पड़ी। अत्यन्त दीन दशा में उन्हें देखकर धन्नाजी के हृदय को गहरी चोट लगी। वह सोचने लगे—खेद है कि मैं अनेक बार प्रयत्न करके अपना सर्वस्व देकर भी अपने भाइयों को सुखी न बना सका। ज्ञानियों का कथन सत्य ही है कि इस संसार में कोई किसी को सुखी-दुखी नहीं बना सकता। सभी प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार फल भोगते हैं। जो मनुष्य पहले पुण्य उपार्जन करके नहीं आया, वह अब सुखी होना चाहे तो कैसे हो सकता है? फिर भी मुझे निराश नहीं होना चाहिए। भाई को भाई के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिए। जो भाई अपने भाइयों को दुखी देखकर भी उनकी सहायता नहीं करता, उसका जन्म निरर्थक है।

यह सोच कर धन्नाजी ने अपना सेवक भेजकर भाइयों को अपनी हवेली में बुला लिया। इन्हें अपने ही समान बनाकर रक्खा। धन्नापुर से शेष परिवार को बुला लिया। इस प्रकार उनका समस्त परिवार फिर राजगृह में आकर सुखपूर्वक रहने लगा।

अनेक बार धन्नाजी की अपार सम्पत्ति पाकर और उसे व क, उनके भाइयों की बुद्धि ठिकाने आ गई। साथ ही

उनका पूर्वोपार्जित पापकर्म हल्का हो गया। इन कारणों से इस बार वे शान्ति के साथ रहने लगे। धन्ना कुमार के प्रति उनके मन में से ईर्षा की भावना निकल गई। वे समझ गये कि धन्ना के साथ स्नेहपूर्वक रहने में ही हमारा कल्याण है।

(४)

एक दिन राजगृह में धर्मघोष नामक मुनिराज का पदार्पण हुआ। वे अवधिज्ञान के धारक उच्चकोटि के महात्मा थे। उनके आगमन का वृत्तान्त सुनकर राजा-प्रजा, बूढ़े-बालक नर-नारी, सभी उनके दर्शन करने तथा धर्मोपदेश सुनने को एकत्र हुए। मुनिराज ने प्रशान्त मुद्रा तथा मधुर एवं प्रभावशाली वाणी से श्रोताओं को भगवान् महावीर के द्वारा प्ररूपित धर्म का उपदेश दिया।

उपदेश समाप्त हो जाने पर सेठ धनसार ने मुनिराज से प्रश्न किया—भगवान् ! धन्ना कुमार आदि चार सगे भाई हैं! परन्तु धन्ना में और शेष तीन में बड़ा अन्तर है। इसका कारण क्या है ?

मुनिराज ने उत्तर दिया—भव्य जीवो ! एक ही परिवार में जन्म लेने वाले, समान परिस्थिति में रहने वाले और एक ही समान साधनों से सम्पन्न भाइयों में जब महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है तो समझना चाहिए कि किसी अदृष्ट कारण से ही यह अन्तर पड़ा है। क्योंकि कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता, यह अटल नियम है। वह अदृष्ट कारण कर्म ही है। जिसने जैसे कर्मों का बन्ध किया हैं, उसे वैसा ही फल भुगतना पड़ता है। भूतकाल में जो कर्म किये जा चुके हैं, उनका फल समभाव से भोगना एवं वर्त्तमान जीवन को सुधार करके भविष्य को उज्वल बनाना ही विवेकशील मनुष्य का कर्त्तव्य है।

धन्ना कुमार ने इस जीवन में महान् ऋद्धि प्राप्त की है। लक्ष्मी उनके चरणों की दासी है। उन्हें सर्वत्र प्रतिष्ठा और कीर्ति मिलती है। वह धन को ठोकर मार कर अलग हट जाते हैं, परन्तु धन छाया की भांति उनका अनुसरण करता है। इसका मुख्य कारण है—पुण्यकर्म की प्रबलता। पूर्वभव में उन्होंने मुनि को उत्कृष्ट भाव से दान दिया। दान देने से शुभकर्मों का बन्ध हुआ। उसी का फल वे आज भोग रहे हैं।

धन्ना कुमार के तीन भाइयों ने भी दान दिया था। किन्तु दान देने के बाद उनकी भावना दूषित हो गई। इस कारण सम्पन्न परिवार में जन्म लेकर भी वे पूरी तरह सुखी नहीं हो सके। उन्होंने दान देकर पश्चात्ताप किया तो दान का उत्कृष्ट फल गंवा दिया! इस प्रकार इनकी परिस्थितियों में जो अन्तर पड़ा है, उसका मूल कारण भावनाभेद है। बाह्य क्रिया समान होने पर भी भावना से उसके फल में महान् भेद हो जाता है।

धन्ना कुमार के तीनों भाइयों ने भी अपना पूर्ववृत्तान्त सुना। उसे सुन कर उनके चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो गया। वह कहने लगे—'भगवन्! आपके अनुग्रह से हमें अपने कर्त्तव्य का भान हुआ। हमारे नेत्र खुल गये। जिन कर्मों ने हमें सताया है, उनका अन्त कर डालने का हमने निश्चय किया है। इसके लिए हम आपके चरण-शरण में आना चाहते हैं। प्रभो! भव-सागर को पार करने के लिए हमें अपनी चरण-नौका का आश्रय दीजिए।'

मुनिराज धर्मघोष ने कहा—भव्य जीवो! धर्म का आश्रय लेने से ही आत्मा के अनन्त स्वाभाविक सुख की उपलब्धि की जा सकती है। वीतराग देव द्वारा कथित मार्ग

ही धर्म है। जो प्राणी समस्त दुःखों का अन्त करना चाहते हैं और स्थायी तथा अनन्त सुख को प्राप्त करने के इच्छुक हैं, उन्हें धर्म की शरण लेना ही चाहिए।

यह सद्बोध सुनकर धन्ना कुमार के माता-पिता तथा भाई-भौजाई ने संसार-त्याग कर श्रमण धर्म को अंगीकार किया।

धन्नाजी सुखपूर्वक रहने लगे। राजगृह में उनको बड़ी प्रतिष्ठा थी। मगध के प्रतापशाली सम्राट श्रेणिक के जामाता होने के कारण नहीं, बल्कि अपने असाधारण औदार्य, त्याग अनोखी सूझ, तीव्र बुद्धि और धर्मनिष्ठा आदि सद्गुणों के कारण वे जनता की श्रद्धा एवं सद्भावना के पात्र बने थे। राजसभा में जब कोई पेचीदा समस्या उपस्थित होती तो धन्नाजी की सूझबूझ उसे बड़ी सुन्दरता से, चुटकियों में, हल कर देती थी।

(५)

संसार में तरह-तरह के मनुष्य हैं। कोई अपने पास की पूंजी को भोग कर समाप्त कर देते हैं। कोई नवीन पूंजी उपार्जन करते हैं। कोई अपनी पूंजी को ज्यों की त्यों रहने देते हैं—न घटने देते हैं, न बढ़ाते ही हैं। यह बात पौद्गलिक सम्पत्ति के विषय में ही नहीं, पुण्य-सम्पत्ति के विषय में भी यही बात है। जो लोग पूर्वाजित पुण्य के उदय से सुखपूर्वक रहते हैं, किन्तु नवीन पुण्य उपार्जन नहीं करते, वे अपनी पूंजी गंवा देते हैं। जो नवीन पुण्य उपार्जन करते हैं वे पूंजी बढ़ाने वाले हैं। और जो जितना पूर्व पुण्य भोगते हैं, उतना ही नवीन उपार्जन कर लेते हैं, वे अपनी पूंजी को ज्यों की त्यों स्थिर रखने वाले हैं।

धन्ना सेठ अपनी पूंजी बढ़ाने वाले उत्कृष्ट पुरुष थे। धर्म को आराधना करते हुए शान्तिपूर्वक अपना जोवन यापन कर रहे थे।

एक दिन एक साधारण-सी घटना ने ही उनके जीवन में महान् परिवर्तन कर दिया।

धन्ना सेठ स्नान कर रहे थे। कौतुकवश उनकी आठों पत्नियाँ स्नान करा रही थीं। अचानक सुभद्रा की आँखों से आँसू टपक पड़े। धन्नाजी ने पूछा—'प्रिये ! तुम्हें क्या कष्ट है ? यह आँसू क्यों ?'

सुभद्रा—नाथ, मेरा एकलौता भाई शालिभद्र दीक्षा लेने को उद्यत हो रहा है। प्रतिदिन एक-एक पत्नी का परित्याग करता जा रहा है बत्तोसों पत्नियों को त्याग कर वह मुनि-धर्म अंगीकार कर लेगा तो मेरा पीहर सूना हो जायगा।

धन्ना—प्रिये, तुम्हारा भाई बड़ा कायर जान पड़ता है ! जब त्याग करने को तैयार हुआ तो सब को एक ही साथ क्यों नहीं त्याग देता ?

सुभद्रा—कहना आसान और करना बहुत कठिन होता है नाथ ! शालिभद्र दिव्य ऋद्धि का एवं अप्सराओं के समान पत्नियों का त्याग कर रहा है। आपकी ऋद्धि उसकी ऋद्धि की तुलना में नगण्य है। आप तो इसका भी त्याग नहीं कर सकते तथा उसे कायर कहते हैं !

पुण्यशालो तेजस्वी पुरुष साधारण से साधारण घटना से भी महान् बोध प्राप्त कर लेते हैं। छोटा-सा निमित्त भी उन्हें जागृत कर देता है। धन्ना सेठ ने अपनी पत्नी सुभद्रा के वचनों को अपने लिए महान् शिक्षासूत्र बना लिया। उसी समय वे संयम धारण करने को तैयार हो गए।

सन्नाटा छा गया। सुभद्रा क्षमायाचना करने लगी।

शेष पत्नियाँ अनुनय-विनय करके रोकने लगीं। पर धन्ना सेठ की अन्तरात्मा जाग उठी थी। उनका मोह पतला पड़ गया था। उन्होंने कहा—मैं क्रोध या आवेश से साधु नहीं बन रहा हूँ। मैं सुभद्रा का आभारी हूँ, जिसने मुझे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। मनुष्य जीवन की वास्तविक सफलता आत्म-कल्याण में ही है। विषय-भोग आत्मा के पतन के कारण हैं। इनसे आत्मा को कभी तृप्ति नहीं होती। तृप्ति प्राप्त करने के लिए विषय-भोगों का त्याग करना आवश्यक है।

यह कहकर धन्ना सेठ अपनी हवेली से निकल पडे। वे अपने साले शालिभद्र के पास गये। उन्हें साथ लेकर दोनों मुनि बन गये। अन्त में तीव्र तपश्चरण करके निरंजन-निराकार पद को प्राप्त हुए।

卐

नंदावृत (नंद्यावर्त्त)

नन्द्यावर्त्त एक प्रकार का स्वस्तिक है। स्वस्तिक के अनेक आकार होते हैं। इनमें से प्रत्येक दिशा में नो कोने वाला स्वस्तिक नन्द्यावर्त्त कहलाता है। इसकी बनावट बड़ी सुन्दर और आकर्षक होती है।

आर्य जाति में, अत्यन्त प्राचीन काल से, स्वस्तिक की मान्यता चली आ रही है। यह एक मांगलिक वस्तु मानी जाती है। भारतवर्ष में तो इसे मांगलिक समझा ही जाता है, जर्मनी जैसे पाश्चात्य देशों के निवासी भी इसे एक शुभ चिह्न मानते हें। प्रत्येक मांगलिक कार्य में, लोक व्यवहार में स्वस्तिक की रचना की जाती है। वास्तव में स्वस्तिक का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है।

धन्ना सेठ अपनी पूंजी बढ़ाने वाले उत्कृष्ट पुरुष थे। धर्म की आराधना करते हुए शान्तिपूर्वक अपना जीवन यापन कर रहे थे।

एक दिन एक साधारण-सी घटना ने ही उनके जीवन में महान् परिवर्तन कर दिया।

धन्ना सेठ स्नान कर रहे थे। कौतुकवश उनकी आठों पत्नियाँ स्नान करा रही थीं। अचानक सुभद्रा की आँखों से आँसू टपक पड़े। धन्नाजी ने पूछा—'प्रिये! तुम्हें क्या कष्ट है? यह आँसू क्यों?'

सुभद्रा—नाथ, मेरा एकलौता भाई शालिभद्र दीक्षा लेने को उद्यत हो रहा है। प्रतिदिन एक-एक पत्नी का परित्याग करता जा रहा है बत्तीसों पत्नियों को त्याग कर वह मुनि-धर्म अंगीकार कर लेगा तो मेरा पीहर सूना हो जायगा।

धन्ना—प्रिये, तुम्हारा भाई बड़ा कायर जान पड़ता है! जब त्याग करने को तैयार हुआ तो सब को एक ही साथ क्यों नहीं त्याग देता?

सुभद्रा—कहना आसान और करना बहुत कठिन होता है नाथ! शालिभद्र दिव्य ऋद्धि का एवं अप्सराओं के समान पत्नियों का त्याग कर रहा है। आपकी ऋद्धि उसकी ऋद्धि की तुलना में नगण्य है। आप तो इसका भी त्याग नहीं कर सकते तथा उसे कायर कहते हैं!

पुण्यशाली तेजस्वी पुरुष साधारण से साधारण घटना से भी महान् बोध प्राप्त कर लेते हैं। छोटा-सा निमित्त भी उन्हें जागृत कर देता है। धन्ना सेठ ने अपनी पत्नी सुभद्रा के वचनों को अपने लिए महान् शिक्षासूत्र बना लिया। उसी समय वे संयम धारण करने को तैयार हो गए।

सन्नाटा छा गया। सुभद्रा क्षमायाचना करने लगी।

शेष पत्नियाँ अनुनय-विनय करके रोकने लगीं। पर धन्ना सेठ की अन्तरात्मा जाग उठी थी। उनका मोह पतला पड़ गया था। उन्होंने कहा—मैं क्रोध या आवेश से साधु नहीं बन रहा हूँ। मैं सुभद्रा का आभारी हूँ, जिसने मुझे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। मनुष्य जीवन की वास्तविक सफलता आत्म-कल्याण में ही है। विषय-भोग आत्मा के पतन के कारण हैं। इनसे आत्मा को कभी तृप्ति नहीं होती। तृप्ति प्राप्त करने के लिए विषय-भोगों का त्याग करना आवश्यक है।

यह कहकर धन्ना सेठ अपनी हवेली से निकल पडे। वे अपने साले शालिभद्र के पास गये। उन्हें साथ लेकर दोनों मुनि बन गये। अन्त में तीव्र तपश्चरण करके निरंजन-निराकार पद को प्राप्त हुए।

卐

नंदावृत (नंद्यावर्त्त)

नन्द्यावर्त्त एक प्रकार का स्वस्तिक है। स्वस्तिक के अनेक आकार होते हैं। इनमें से प्रत्येक दिशा में नो कोने वाला स्वस्तिक नन्द्यावर्त्त कहलाता है। इसकी बनावट बड़ी सुन्दर और आकर्षक होती है।

आर्य जाति में, अत्यन्त प्राचीन काल से, स्वस्तिक को मान्यता चली आ रही है। यह एक मांगलिक वस्तु मानी जाती है। भारतवर्ष में तो इसे मांगलिक समझा ही जाता है, जर्मनी जैसे पाश्चात्य देशों के निवासी भी इसे एक शुभ चिह्न मानते हें। प्रत्येक मांगलिक कार्य में, लोक व्यवहार में स्वस्तिक की रचना की जाती है। वास्तव में स्वस्तिक का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है।

पत्त (पात्र)

पात्र का अर्थ है–भाजन । प्राकृत भाषा में पात्र का 'पत्त' रूप हो जाता है । विशेष करके काष्ट के पात्र साधुओं के काम आते हैं ।

अकर्मभूमि के समय लोग पात्र नहीं बनाना जानते थे । सबसे पहले भगवान् ऋषभदेव ने लोगों को पात्र बनाने की कला सिखलाई थी । तभी से नाना प्रकार के पात्र बनने लगे हैं ।

साधुजन, गृहस्थों की तरह चांदी, सोने, पीतल, तांबे आदि किसी भी धातु के पात्र नहीं रखते । भगवान् ने साधु को तीन प्रकार के पात्र रखने की आज्ञा दी है—लड़की के, मिट्टी के और तूंबे के । आजकल साधु प्राय: काष्ट के पात्र रखते हैं । कोई-कोई मिट्टी के भी रखते देखे जाते हैं ।

भिक्षा आदि के लिए पात्र की आवश्यकता होती है । पात्र के बिना आहार नीहार आदि में सुविधा नहीं रहती । अतएव उनका रखना आवश्यक है । मगर पात्रों में साधु की ममता नहीं होनी चाहिए । जो ममता नहीं धारण करता, उसके लिए पात्र परिग्रह रूप नहीं होते । जिसके अन्त:करण में उनके प्रति ममता रहती है, उसके लिए वे भी परिग्रह रूप होते हैं । साधु के लिए पात्र रखने की मर्यादा निर्धारित कर दी गई है ।

卐

फलक (पाट)

फलक या पाट प्रायः लकड़ो से बनते हैं। जैन साधु निर्ग्रन्थ होते हैं। उनके पास कोई परिग्रह नहीं होता जहां गये, वहीं निर्दोष फलक मिल गया तो उसे बैठने या सोने के काम में ले लेते हैं। अगर फलक उनके निमित्त बनवाया गया हो और उन्हें पता लग जाय, तो वे उसका उपयोग कदापि नहीं करते। कोई गृहस्थ इधर-उधर से उनके लिए लाते एवं मुनि से उसका उपयोग करने के लिए निवेदन करे तो भी वे उसे स्वीकार नहीं करेंगे। वे स्वयं लाकर उपयोग कर सकते हैं।

साधुजन उसी फलक का उपयोग कर सकते हैं, जिसमें खटमल आदि जीव-जन्तु नहों। जो फलक ज्यादा दरारों वाला हो और इस कारण जिसमें जन्तुओं के रहने की आशंका हो अथवा वो बहुत हिलता-डुलता हो जिसके कारण अयतना होने की संभावना हो, ऐसा फलक साधु काम में नहीं लाते। वे पलंग, व खाट, कुर्सी आदि का उपयोग नहीं करते। अतएव या तो भूमि पर ही बैठते- सोते हैं, या फिर निर्दोष पाट पर।

साधु बहुत विनयवान् होते हैं। अतएव जब कोई बड़े साधु सामने हों तो छोटे साधु उनके पाट से ऊँचे पाट पर नहीं बैठते। जब कोई साधु फलक पर बैठता है तो उसे पूंज कर ही बैठता है।

फलक के चार पाये होते हैं। उनसे मानों यह सूचना मिलती है कि जैसे फलक चार पायों पर टिका है, उसी प्रकार यह संसार भी चार गतियों पर टिका है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चयित्र और सम्यक्तप- इन चार साधनों से चारों गतियों का अन्त करके अक्षय अनन्त सुख प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि है।

बलभद्र मुनि

बलभद्र, बलदेव या बलदाऊजी के प्रिय नामों से जिनकी प्रसिद्धि है, वे महानुभाव द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण वासुदेव के बड़े भाई थे। जैन साहित्य में भी उनका विस्तृत चरित्र लिखा गया है और वैदिक साहित्य में भी। किन्तु जैन साहित्य में उनके चरित की जो उच्चता एवं उज्ज्वलता प्रदर्शित की गई है, वह ज्ञातव्य है तथा जनसमाज के लिए अत्यन्त लाभदायक होने के साथ ही साथ रोचक भी है। वही यहां संक्षेप में लिखा जा रहा है।

यदुवंश के नवयुवकों में मदिरापान की प्रवृत्ति बढ़ चली थी। कृष्णजी उस हेय प्रवृत्ति से बहुत खिन्न थे और उसे दूर करना चाहते थे। वे जानते थे कि मदिरापान की प्रवृत्ति प्रतिष्ठापात्र यदुकुल की कमनीय कीर्ति को कलंकित करने वाली तो है ही कुल के विनाश का भी कारण हो सकती है। जिस कुल में मदिरापान की परम्परा चल पड़ती है, वह कुल बर्बाद ही होता है—कभी सुखी एवं समृद्ध नहीं हो सकता।

मगर होनहार बलवान् है! इस कहावत के अनुसार कृष्णजी का प्रयास सफल न हुआ और मदिरापान के फलस्वरूप यदुकुल के विनाश के साथ द्वारिका का भी विनाश हो गया!

बात यों हुई। यदुवंश के कुछ कुमार मदिरापान करके नशे में बेभान हो गए। नगरी से बाहर एक ऋद्धि धारी मुनि विराजमान थे। उनका नाम था—द्वीपायन। कुमारों ने उनके साथ छेड़छाड़ की। मुनि को क्रोध आ गया। उनके क्रोध की भयंकर ज्वालाओं में द्वारिका भस्म होने लगी!

सामर्थ्यशाली कृष्ण और बलदेव ने लाख प्रयत्न किये, पर वे द्वारिका को बचाने में समर्थ न हो सके। देखते-देखते ही उनका परिवार भस्म होता जा रहा था, पर वह विवश थे, निरुपाय थे! कितना दर्दनाक रहा होगा वह दृश्य! तीन खंड के नाथ को वह बेबसी वास्तव में बड़ी ही दयनीय थी! कहावत है—

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः।

अर्थात् चतुर पुरुष सर्वनाश का अवसर उपस्थित होने पर आधे को ही त्याग कर शेष को बचाने का प्रयत्न करते हैं।

इस नीति का अनुसरण करके कृष्ण और बलदेव ने अपने माता पिता की रक्षा करने का ही प्रयत्न किया। उनके महल धू-धू करके जल रहे थे। रानियां, राजकुमार और बाल-बच्चे उस भयानक आग के ईंधन बन रहे थे। उन सब को बचाना असंभव हो गया। मगर परमोपकारी माता-पिता को कैसे जलने दिया जाय? दोनों भाइयों ने जान पर खेल कर किसी प्रकार उन्हें बाहर निकाला। मगर जब वे उन्हें द्वारिका के बाहर ले जा रहे थे, उसी समय नगरी के द्वार की छत उनके सिर पर आ गिरी एवं माता-पिता वहीं दब गए। कृष्ण तथा बलभद्र भवितव्य को अटल समझ कर रह गए। अब उनके विशाल परिवार में, इन दोनों भाइयों के सिवाय और कोई शेष नहीं रहा था!

कृष्ण और बलभद्र अब उन दो वृक्षों की भांति थे, जिनकी सब हरी-भरी शाखाएँ काट दी गई हों। सिर्फ ठूंठ ही ठूंठ शेष बच रहे हों। निराश, हताश, उदास दोनों भाई चलते-चलते कौशाम्बी वन में पहुँचे। प्रथम तो उनका मन अत्यन्त शोकाकुल था एवं दूसरे बहुत दूर पैदल चलकर आए

थे। कृष्णजी थक गये थे और प्यास से उनका गला सूख गया था। कौशाम्बी-वन में एक गहरी छाया वाले विशाल वट वृक्ष को देखकर वे वहीं लेट गए। बलभद्र जी पानी की खोज में इधर-उधर भटकने लगे। वह चाहते थे, शीघ्र कहीं पानी मिल जाय और अपने छोटे भैया की प्यास शान्त करें।

कृष्णजी पैर पर पैर चढ़ा कर लेटे थे। उनके पैर में जो पद्म का निशान था, वह चमक रहा था और दूर से ऐसा जान पड़ता था, जैसे किसी हिरण की आंख चमक रही हो! जरत्कुमार, जो यदुवंश का ही कुमार था और बहुत दिन पहले द्वारिका का परित्याग कर चुका था, अकस्मात् उधर आया। उसे कृष्ण महाराज का पूरा शरीर तो दिखाई नहीं दिया, सिर्फ पैर में बने पद्म का चिह्न नजर आया। उसे देख-कर उसने मृग का नेत्र समझा एवं लक्ष्य साध कर एक तीखा तीर चला दिया। तीर महाराज कृष्ण के पैर में बिंध गया।

थोड़ी ही देर में तीरंदाज भी वहां आ पहुँचा। पहुँच कर उसने जो दृश्य देखा तो उसके होश-हवास जाते रहे! वह अपने भ्रम के लिए घोर पश्चात्ताप करने लगा। अपने आपको कोसने लगा। मगर तीर अपना काम कर चुका था। जरत्कुमार को भूल सुधारने का मौका न था।

जरत्कुमार ने कृष्ण महाराज से अत्यन्त दुःखपूर्वक क्षमा प्रार्थना की। तब दयाधन कृष्णजी ने कहा—अब घब-राने से कोई लाभ नहीं है। कर्म के फल को कोई नहीं टाल सकता। तू यहां से जल्दी से जल्दी भाग जा। कहीं बलदाऊजी आ गए तो तेरा बचना असंभव हो जाएगा।

कृष्ण महाराज की चेतावनी सुनकर जरत्कुमार तत्काल ही नौ दो ग्यारह हो गया। तीर विषैला था। बलदाऊजी के

लौटने से पहले ही श्री कृष्णजी महाराज शरीर त्याग चुके थे।

कृष्णजी की मृत्यु भारतवर्ष के तत्कालीन सब से बड़े प्रतापशाली राजनयिक महापुरूष की मृत्यु थी। उनका प्रभाव और प्रताप अद्वितीय था। वह असाधारण बलशाली शूरवीर पुरूष थे। देवगण उनके आज्ञाकारी थे। उन्होंने अपने जीवन-काल में अन्याय और अत्याचार के स्थान पर न्याय नीति की प्रतिष्ठा की। जनता को त्रास से बचाया। दुष्टों का दमन किया और शिष्टों की रक्षा की। कृष्णजी के रूप में एक असा-धारण व्यक्तित्व उठ गया!

थोड़े देर बाद बलभद्रजी आये। उन्होंने कृष्ण जी की दशा देखी तो स्वयं उद्भ्रान्त हो गए। उनकी चेतना में उन्माद-सा हो गया! कुछ समझ में न आया कि यह सब क्या हो रहा हैं! सब कुछ आँखों के आगे था, फिर भी उनका मन नहीं मानता था कि वासुदेव अब इस भूतल पर नहीं है! उन्होंने आवाज़ लगाई—'भैया, ले, पानी पी ले।' एक बार, दो बार, अनेक बार, बलभद्रजी कहते जाते थे, मगर सुनने वाला वहाँ कौन था?

बलभद्रजी सुध-बुध खो बठे थे। उन्होंने समझा—भैया नाराज़ हो गया है। तब प्रेम की प्रबल प्रेरणा से उन्होंने कृष्णजी का शरीर अपने कंधे पर रख लिया। वह वहाँ से रवाना हो गए। वह भूल गये थे कि कृष्णजी शरीर त्याग कर चुके हैं! अतएव उन्हें पुचकारते, मनाते और समझाते-बुझाते वह चलते हो जा रहे थे। उनका अन्तःकरण कृष्णजी के प्रति स्नेह से परिपूर्ण था। उस तन्मय प्रेम के सिवाय एवं कोई भावना उनमें नहीं समा रही थी।

अहा! बन्धुप्रेम का कैसा मधुर उदाहरण है! भारतीय

साहित्य में कितने उज्वल, कितने उदार, कितने उच्च और कितने मधुर एवं स्पृहणीय आदर्श अंकित किये गये हैं? चाहे राम, लक्ष्मण तथा भरत की ओर दृष्टिपात कीजिए, चाहे कृष्ण-बलदेव के चरित पर विचार कीजिए, आपको मातृस्नेह की पावन गंगा बहती हुई दिखाई देगी। प्राचीनकाल में भाई का भाई के प्रति कितना अगाध स्नेह था! राम ने प्रसन्नता के साथ भरत के लिए राज्य का परित्याग कर दिया, परन्तु भरत ने उसे स्वीकार करना घोर पाप समझा। अवध का राज्य फुटबाल की तरह दो भाइयों के बीच ठुकरा दिया गया!

इस आदर्श के सामने आज के भाई-भाई के व्यवहार पर विचार किया जाता है तो निराशा के साथ हृदय को धक्का लगता है कहाँ वह ज़माना और कहाँ आज का ज़माना! आज का भाई हाथ भर ज़मीन के लिए भाई के साथ बेईमानी करने से नहीं चूकता। दूसरा भाई न्यायालय की शरण लेकर सैंकड़ो हजारों रुपये वकीलों को दे देता है! एक दूसरे की जान का गाहक बन जाता है! कभी-कभी तो ऐसे भी समाचार सुनने में आते हैं कि एक भाई ने दूसरे भाई का जीवन ही समाप्त कर दिया। ऐसे लोग प्राचीन काल के आदर्श पर जरा दृष्टिपात करें और राम एवं बलभद्रजी का अनुसरण करें तो उनका जीवन भी कितना उच्च तथा उदार बन जाय!

भ्रातृप्रेम के वशीभूत होकर बलभद्रजी चले जा रहे थे। कृष्णजी के कलेवर को कंधे पर उठाये और उनसे अपनी बातों का उत्तर पाने की आशा रक्खे चलते जा रहे थे। न मृतक शरीर का अन्तिम संस्कार करते थे, न करने देते थे। कई लोगों ने उन्हें समझाने का प्रयत्न किया कि निर्जीव शरीर को

छाती से लगाने से कोई लाभ नहीं है। उसे तो अग्नि की भेंट कर देना ही उचित है। पर बलभद्र जी ने किसो की बात पर कान न दिया! वे स्वीकार ही नहीं करना चाहते थे कि यह कृष्ण नहीं, कृष्ण का निर्जीव कलेवर है! दिन पर दिन व्यतीत होते जा रहे थे, पर बलभद्र जो की धारणा नहीं बदल रही थी। वे अपनी ही धुन में मस्त थे।

आखिर एक देव ने उन्हें प्रतिबोध देने का विचार किया। देव ने मनुष्य का शरीर धारण करके कोल्हू में रेती पेरना आरंभ किया। बलभद्रजी उसके पास से निकले। उसे रेतो पेरते देख उन्होंने कहा—पागल तो नहीं हो गए हो! कभी रेत से भी तेल निकला है!

देव—रेत से तेल नहीं निकल सकता तो क्या मृतक शरीर बोल सकता है? मुझे समझाने चले हैं और अपनी ओर दृष्टि ही नहीं देते! जरा देखिए तो सही कि आप क्या कर रहे हैं?

अब बलभद्रजी को संज्ञा आई। उनकी चेतना ने अँगड़ाई ली। वह अपने प्राणप्रिय भ्राता को मृतक समझ कर दारूण विलाप करने लगे। अब उन्हें विश्वास हो गया कि मेरा प्रतापी भाई मुझे छोड़कर चला गया है! हताश बलभद्रजी ने कृष्णजी का अन्तिम संस्कार किया। मगर उनका जीवन समूल वदल गया!

वलभद्रजी अब पूरी तरह अकेले थे। उन्होंने अपने अतीत पर एक दृष्टि डाली। छप्पन कोटि यादव! स्वर्ग के अधिपति इन्द्र को भी निष्प्रभ बना देने वाला वह प्रताप! विशाल साम्राज्य! और वीस लाख अष्टापदों जितने बल का धारक, सुदर्शन चक्र, अमोघ खड्ग, कौमुदी गदा, कौस्तुभ

मणि आदि सात असाधारण रत्नों का स्वामी, प्रतिवासुदेव के मान का मर्दन करने वाला, अतुल पराक्रम एवं प्रताप का धनी भाई ! विशाल परिवार ! वह आकाश से बातें करने वाले द्वारिका के भव्य राजभवन ! सब बलभद्र को स्मरण हो आए। उन्हें ऐसा जान पड़ने लगा, मानों स्वप्न देख रहे हों ! स्वप्न की सम्पत्ति जैसे क्षण भर में विलीन हो जाती है, उसी प्रकार द्वारिका का धन-जन-वैभव सभी कुछ देखते-देखते विलीन हो गया ! इस समय बलभद्रजी के चित्त की दशा बड़ी ही विचित्र थी। क्या किया जाय, कहा जाएँ और जो करें सो किस लिए करें, यह कुछ भी उनकी समझ में नहीं आता था ! अन्त में यह कठोर सत्य उनके कानों में गूंज उठा:—

जीवन तन धन भवन न रहि हैं, स्वज़न-प्राण छूटेंगे,
दुनिया के सम्बन्ध विदाई की वेला टूटेंगे।
यह क्रम चलता रहा आदि से अब भी चलता भाई,
संयोगों का एक मात्र फल केवल सदा जुदाई॥

संसार अनित्य और क्षणभंगुर है। इस जीवन का कोई ठिकाना नहीं है। संसार का वैभव संध्याकाल की लालिमा के समान अस्थिर है। आत्मा का किसी भी पर-पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध समझना ही समस्त अनर्थों एवं दुःखों का मूल है।

इस प्रकार बलभद्रजी की विचारधारा दूसरी ओर को मुड़ गई। चित्त में विरक्ति के अंकुर उग आए। इससे उनके व्यथापूर्ण हृदय को कुछ शान्ति मिली। चित्त आश्वस्त हुआ। धीरे-धीरे विचारधारा उसी ओर बहती गई। अन्त में उन्होंने जगत् के समस्त पदार्थों की ममता का परित्याग करके मुनि-अवस्था अंगीकार कर ली।

हलधर अब परम योगी बन गए। उनके जीवन में जो ज्वार-भाटे आए थे, उन्हें गहरा वैरागी और तपस्वी बना दिया था। संसार की असली स्थिति का वे स्वयं अनुभव कर चुके थे। अतएव सर्वथा निस्पृह एवं ममत्वहीन भाव से वे आत्मकल्याण की साधना में तल्लीन हो गए। एक-एक मास का अनसन तपश्चरण करने लगे। ज्ञान, ध्यान स्वाध्याय, आत्मचिन्तन आदि में ही उनका समय व्यतीत होने लगा। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, मानों नया जन्म प्राप्त हो गया है।

बलभद्र मुनि एक मास की तपस्या करके पारणा के लिए जा रहे थे। वह पहले से ही असीम रूप-राशि के धनी थे। सौन्दर्य उनके अंग-अंग में समाता नहीं था। रतिपति कामदेव तो अशरीर कहलाता है, बलभद्र मुनि सशरीर कामदेव थे। उनका मन को मुग्ध कर देने वाला अद्भुत रूप-लावण्य तपस्या के आन्तरिक तेज से और अधिक दीप्त हो उठा था। इस अनुपम रूप-वैभव को लिये बलभद्र मुनि तुंगिया नगरी में गोचरी के अर्थ पधारे। नगरी से बाहर कुछ नारियाँ एक कुंए पर पानी भर रही थीं। बलभद्र मुनि पर उनकी दृष्टि पड़ी एवं जब दृष्टि पड़ी तो वह वहीं अटक रही। उन्होंने इतना ललित लावण्य, ऐसी अपार रूप-सम्पत्ति, पहले कभी नहीं देखी थी। अतएव वे तन्मय होकर मुनिराज के सौन्दर्य को अपने अतृष्ण नेत्रों से पीने लगीं। सुध-बुध भूल गईं। एक नारी तो यहां तक बेमान हो गई कि उसके बगल में बैठे हुए अपने बालक को ही घड़ा समझ लिया! घड़े के बदले बालक के गले में रस्सी डाल दी तथा उसे कुंए में लटका दिया।

ठीक समय पर बलभद्र मुनि की दृष्टि उस ओर न चली गई होती तो घोर अनर्थ हो जाता। मुनि ने उस घटना को

देख लिया और कहा—भगिनी, क्या अनर्थ कर रही हो ? प्रमाद का परित्याग करो एवं अपने शिशु की रक्षा करो।'

मुनिराज के यह वचन सुनकर उसे होश आया। जब उसने देखा कि मैंने अपने ही बालक के गले में फाँसी लगा दी तो वह अत्यन्त लज्जित हुई।

मुनिराज के कोमल करूणामय चित्त पर इस घटना का दूसरा ही प्रभाव पड़ा। उन्होंने विचार किया—सभी सांसारिक पदार्थों का संबंध मुझ से छूट चुका है, पर इस रूप को कैसे छोड़ूँ ! यह शरीर का साथी है और शरीर का त्याग किये बिना इसका त्याग करना संभव नहीं। मगर यह तो अनर्थों की जड़ है ! न जाने किस-किस के मन में क्या-क्या कामनाएं उत्पन्न करता है ! ऐसी दशा में मुझे क्या करना चाहिए ?

मुनि ने गंभीर विचार किया और तत्काल ही निश्चय भी कर लिया। उन्होंने अपने आगे बढ़ते हुए कदम रोक दिये। मुख पीछे की ओर फेर लिया एवं जिस ओर से आए थे, उसी ओर वापिस चले गए। मुनिराज निश्चय कर चुके थे कि अब नगर में कभी भिक्षा के लिए भी नहीं जाऊँगा ! यह अनर्थ-कारी रूप किसी को नगर में देखने को न मिलेगा ! बस, उसी दिन से बलभद्र मुनि ने बस्ती में जाकर भिक्षा लेने का त्याग कर दिया। वे वन में ही रहकर तपस्या करने लगे।

जिस वन में बलभद्र मुनि तपस्या कर रहे थे, उस वन में एक दिन एक बढ़ई लकड़ी काटने आया। उसने बड़े-बड़े वृक्षों की शाखाएँ काट कर गिरा दी। मगर उसका कार्य सम्पूर्ण नहीं हुआ। वह एक विशाल वृक्ष की मोटी-सी शाखा

काट रहा था कि भोजन का समय हो जाने से उसकी पत्नी भोजन-सामग्री के साथ वहाँ आ पहुँची । बढ़ई अपना काम अधूरा छोड़कर नीचे उतरा और भोजन करने की तैयारी करने लगा।

प्रकृति के रहस्यों को समझ लेना कोई साधारण बात नहीं है। कब, कहां और कैसे कौनसी घटना घटित हो रही है, यह सामान्य मनुष्य नहीं समझ सकता। उस घटना के भीतर क्या मर्म है, यह जान लेना भी सर्वसाधारण के लिए कठिन है।

बलभद्र मुनि के पास एक मृग आया। वह अपने सिर से कुछ ऐसी चेष्टाएँ करने लगा कि मुनि ने समझा—यह मुझे साथ चलने का संकेत कर रहा है। मुनि अपने स्थान से उठे ही थे कि मृग मुनि को और पीछे देखता हुआ कुछ आगे बढ़ा। जैसे आगे बढ़ कर वह मुनि का मार्गप्रदर्शन कर रहा था और यह भी देख रहा था कि मुनि मेरे पीछे आ रहे हैं या नहीं। मुनि मृग की चेष्टाओं को अनुमान से समझते हुए उसके पीछे हो गए। आगे-आगे मृग एवं पीछे-पीछे मुनि चले जा रहे थे।

आखिर मृग वहीं जा पहुँचा, जहाँ वह बढ़ई भोजन करने बैठ रहा था। मुनि को आया देख बढ़ई को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। इस निर्जन वन में मुनि जैसे उत्तम पात्र को आहार-दान का अवसर मिलने के लिए वह अपने भाग्य की सराहना करने लगा। उसने अपनी जगह खड़ा होकर कहा—भगवान् ! मैं गरीब आदमी हूँ। रूखा-सूखा खाकर उदर-निर्वाह करता हूँ। यह रोटियाँ हैं और छाछ है। अगर इन्हें स्वीकार कर सकें तो अत्यन्त कृपा हो।

मुनि ने कहा—भद्र ! मुनि के लिए सरस-नीरस आहार समान है। प्रेम के साथ दिये जाने वाले निर्दोष आहार का बड़ा मूल्य है। तुम्हें असुविधा न हो तो आहार ग्रहण कर सकता हूँ।

बढ़ई—अहोभाग्य है मेरा !

मुनि और बढ़ई के वार्त्तालाप के समय भी मृग वहीं मौजूद था। वह मूक प्राणी बातचीत में भाग नहीं ले सकता था। मगर वह समनस्क था और मन ही मन विचार कर रहा था—धन्य हैं यह महामुनि जो आत्मा की साधना में ही सम्पूर्ण शक्ति एवं समय लगा रहे हैं। घोर तपस्या करके कल्याण के द्वार खोल रहे है ! तथा धन्य है यह बढ़ई जो मुनिराज को पवित्र आहार देकर अपने गार्हस्थ्य जीवन को सफल बना रहा है। आज मैं मनुष्य होता तो मुझे भी तपस्वी मुनि की यथा-शक्ति सेवा करने का सुअवसर मिलता ! जो गृहस्थ निर्मल भक्ति के साथ मुनि को आहार-दान देता है, वह उनकी संयम-साधना में सहायक होता है और इसी कारण अपने जीवन को धन्य बना लेता है !

बढ़ई उच्चतर भावना के साथ मुनि को आहार दे रहा था। मुनि आत्मकल्याण के लिए शरीर की सहायता प्राप्त करने के अभिप्राय से आहार ले रहे थे और समीप में खड़ा मृग इस दान की मन ही मन सराहना कर रहा था। इसी समय एक आकस्मिक घटना घटित हो गई। विकराल आँधी चल पड़ी। वृक्ष की अधकटी शाखा आँधी के प्रबल वेग को सहन न कर सकी। वह चर्र-चर्र की आवाज के साथ अचानक आ गिरी मुनि, बढ़ई एवं मृग–तीनों उस शाखा के नीचे दब गये तथा तीनों का प्राणान्त हो गया !

मुनिराज बलभद्र अपनी तपस्या के प्रभाव से, बढ़ई अपनी दान देने की उदार उच्च और पवित्र भावना के प्रताप से एवं मृग दान की अनुमोदना के फलस्वरूप पाँचवें देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुए।

बलभद्र मुनि के यशस्वी जीवन का अन्त हो गया; परन्तु उनका महान् त्याग अनन्त है ! जो दूसरों के चित-विकार को निवारण करने के लिए एक मास की तपस्या के पारणा को भी परवाह न करके वन में लौट गए और भिक्षा के लिए जोवन पर्यन्त नगर में न गए; उन मुनिराज की किन शब्दों से स्तुति की जाय ? वास्तव में ऐसे महामुनि सदैव वन्दनीय है।

बलभद्र मुनिराज का चरित्र संसार की असारता एवं विकरालता का जीता जागता चित्र है ! कहाँ कृष्ण-बलभद्र का दिव्य ऐश्वर्य और कहाँ उनका अन्तिम जीवन ! जो धन एवं वैभव पाकर इतराते हैं तथा धन को ही महाशक्ति समझते हैं, उनके नेत्र खोल देने के लिए यह चरित्र दिव्य अंजन के समान है।

卐

भरत

भगवान् ऋषभदेवजी का नाम संसार में विख्यात है। जैन और जैनेतर सभी उन्हें महापुरूष के रूप में मानते हैं। वे इस युग के सृष्टा थे। आज हम जिस ढंग से अपना जीवन-निर्वाह कर रहे हैं, वह मूल में भगवान् श्री ऋषभदेव की ही देन है।

काल के विकास और ह्रास की दृष्टि से दो भेद हैं—उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल ! जिस काल में प्राणियों का आयुष्य, बल, शरीर का परिमाण, आदि क्रमशः बढ़ता जाता है, वह उत्सर्पिणी काल या विकास का काल कह-

लाता है। और जिस काल में इन सब चीजों का ह्रास होता चला जाता है, वह अवसर्पिणी काल कहलाता है। इन दोनों कालों के छह-छह विभाग हैं। दोनों काल मिलकर कालचक्र कहलाते हैं और छह-छह विभाग उनके आरे हैं।

आजकल अवसर्पिणीकाल चल रहा है। हम अनुभव कर रहे हैं कि पहले के मनुष्यों की जितनी आयु थी, अब नहीं रही। मनोबल भी घटता जा रहा है। शरीर की लम्बाई भी क्रमशः कम होती जा रही है। सब तरह से दिनों-दिन हीनता आ रही है। भौतिक विज्ञान का विकास अवश्य हो रहा है, फिर भी मनुष्यजाति का कोई कल्याण नहीं हो रहा। बुद्धि और मेधा शक्ति भी घटती जाती है। मनुष्य के हृदय की सात्विकता में भी कमी हो रही है।

हां, तो अवसर्पिणीकाल का यह पांचवां आरा है। इस काल के आरंभ में अर्थात् पहले और दूसरे आरे में यहां की जीवनप्रणाली एक दम भिन्न प्रकार की थी। उस समय आजकल की भाँति मनुष्यों का समाज नहीं बना था। परिवार की भी प्रथा नहीं थी। सिर्फ पति और पत्नी साथ-साथ रहते थे। अतएव उन्हें युगल कहते थे। इस युगल का जन्म एक ही साथ एक ही माता से होता था।

युगल-काल के मनुष्य न खेती करना जानते थे, न भोजन बनाना। न मकान बनाने की कला जानते थे, न बरतन आदि बनाना। उस समय उनकी समस्त आवश्यकताएँ कल्पवृक्षों से पूरी होती थीं। कल्पवृक्षों से प्राप्त होने वाली सामग्री ही उनके लिए पर्याप्त थी। उससे अधिक की उन्हें न इच्छा होती थी और न आवश्यकता ही। वे लोग उस परिस्थिति में बहुत सुखी और सन्तुष्ट थे। उनका जीवन सात्विक था, सादगीमय था।

आकुलता-व्याकुलता ने उनके जीवन का स्पर्श भी नहीं किया था। किसी प्रकार की दौड़-धूप नहीं थी। सब मन्द कषाय वाले प्राणी थे। उन्हें कोई बीमारी भी नहीं होती थी।

तीसरे आरे के कुछ समय तक यही परिस्थिति रही। परन्तु काल के प्रभाव से कल्पवृक्ष धीरे-धीरे फल कम देने लगे। अन्त में ऐसा भी समय आया कि उनसे फल मिलना वन्द हो गया।

जरा विचार कीजिए कि उस समय प्राणी कितने संकट में पड़ गये होंगे ? वे निसपाप थे, साधनहीन थे। उन्हें नहीं सूझ पड़ता था कि किस प्रकार जीवन की रक्षा की जाए ? कैसे प्राण बचाए जाएँ ?

पर उस समय एक महापुरुष विद्यमान थे। वे दिव्य ज्ञान के धारक थे। उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त था। उस समय के लोगों की दयनीय दशा देखकर उनका दिल द्रवित हो गया। उन्होंने प्रजा की प्राणरक्षा के लिए अपने ज्ञान का प्रयोग किया। उन महापुरुष का नाम था—ऋषभदेव !

भगवान् ऋषभनाथ ने जनता को जीविका का नया ढंग सिखलाया। उन्होंने खेती की सब विधि बतलाई। अन्न पकाने की तरकीब सिखलाई। पात्रों का निर्माण करना सिखलाया। मतलव यह है कि हम लोग आज जिन तरीकों से जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वह सब मूल रूप में उन्होंने सिखलाए।

यही नहीं, उन्होंने अंकविद्या और अक्षरविद्या चलाई। लिखने-पढ़ने की विधि सिखलाई। परिवार के रूप में, घर बनाकर रहने की प्रथा चलाई। जब परिवार बन गए तो समाज की स्थापना की। समाज की स्थापना के पश्चात् राज्य-प्रणाली भी प्रचलित की। इस तरह ऋषभदेव भगवान् ने प्रजा

के जीवन को एकदम नये सांचे में ढाल दिया।

इसी कारण भगवान् ऋषभदेव आदिनाथ कहलाते हैं। बाबा आदम भी यही हैं। धाता, विधाता और आदि ब्रह्मा इत्यादि के नाम से जिसका उल्लेख किया जाता है, वह भी यहीं हैं। कोई किसी नाम से एवं कोई किसी नाम से इन्हें पुकारता है।

सामाजिक जीवन सुव्यवस्थित कर देने के बाद भगवान् ने जनता को धर्म-व्यवस्था सिखलाने का विचार किया। धर्म की व्यवस्था करने का काम सहज-सरल नहीं था। उसके लिए स्वयं को तपश्चर्या करने की आवश्यकता थी। अतएव उन्होंने गृह-त्याग कर दीक्षा धारण की। वे साधु बन गये।

ऋषभदेवजी के सौ पुत्र थे। उनमें सब से बड़े पुत्र का नाम भरत था। ऋषभदेवजी के पश्चात् भरत के कन्धों पर ही शासन व्यवस्था की जिम्मेवारी आई। भरत भी अत्यन्त बलवान् और बुद्धिमान् थे। उन्होंने ऋषभदेव जी के उत्तरदायित्व को भलीभाँति सँभाला। सामाजिक व्यवस्था को एवं भी सुदृढ़ किया।

भरत का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने बिखरे हुए देश में एक विस्तृत राज्य कायम किया। सम्पूर्ण भरतक्षेत्र को एक शासन के अन्तर्गत करके देश को एकरूपता प्रदान की। उनके अधिनायकत्व में समग्र देश सुसंगठित हो गया। इस कारण वह चक्रवर्त्ती राजा कहलाए। उस युग में यह कार्य बड़ा ही कठिन था। तब न रेलें थीं, न वायुयान थे। न एक जगह से दूसरी जगह समाचार पहुँचाने के लिए आज जैसे द्रुतगामी साधन थे। फिर भी भरतजी ने इतने बड़े भूप्रदेश में सेना के साथ पर्यटन किया और सर्वत्र प्रजा के

लिए हितकारी शासन स्थापित किया।

कहा जा सकता है कि भरतजी ने राज्यलोलुपता के वशीभूत होकर ऐसा किया होगा। इस कथन में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। लोग आजकल जैसा देखते हैं, भूत-काल के विषय में भी वैसा ही अनुमान करते हैं। आज जब एक देश दूसरे देश पर शासन स्थापित करता है तो उसका आशय पवित्र नहीं होता। उस देश को चूसने के लिए ही वह शासन करता है। इसी कारण भरत के संबंध में भी यदि यह शंका उठ खड़ी हो तो क्या आश्चर्य है? किन्तु जिन्होंने उस समय की परिस्थिति को भलीभाँति समझा है और राज्य-प्रणाली के विषय में जानकारी हासिल की है, वे जानते हैं कि उस समय का शासक प्रजा का महान् सेवक था। वह प्रजा को चूसकर आमोद-प्रमोद में मस्त नहीं रहता था, वरन् अपनी समग्र शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ प्रजा के कल्याण के हेतु समर्पित कर देता था।

भरतजी इसी प्रकार के राजा थे। उन्होंने लम्बे काल तक कड़ा परिश्रम करके प्रजा को पूरी तरह सुखी बनाने का प्रयत्न किया। भरतजी ने समग्र देश को एक झंडे के नीचे खड़ा किया था, सर्वत्र एक शासन प्रचलित किया था और संगठित राज्यप्रणाली कायम करके इस देश की महान् सेवा की थी, इस कारण उन्हीं के नाम से यह देश 'भारत' कहलाता है।

भारतवर्ष छह खंडों में बंटा हुआ है। आजकल उसकी सीमाएं संकीर्ण हो गई हैं और होती जा रही हैं, परन्तु पहले उसका विस्तार बहुत बड़ा था। भरतजी ने छहों खंडों पर अखंड राज्य की स्थापना की थी।

भरतजी ने देश का संगठन करने में ६० हजार वर्ष

लगाये थे। उनके पास बहुत बड़ी सेना थी। बत्तीस हजार प्रदेशों में और इक्कीस लाख कोसों में उनका राज्य फैला हुआ था। बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे। बयालीस मंजिल तक के महल उन्होंने बनवाये थे। उनके यहाँ चौरासी लाख हाथी, इतने ही घोड़े, इतने ही रथ एवं छियानवे करोड़ पैदल सैनिक थे।

भरतजी के चौके भी साधारण नहीं थे उनमें ३६० भोजन बनाने वाले रसोइया थे। चार करोड़ मन अन्न, एक लाख मन नमक और ७२ मन हींग प्रतिदिन खर्च होती थी।

भरतजी चौदह रत्नों एवं नौ निधियों के स्वामी थे। यह रत्न क्या थे और नौ निधियाँ क्या काम आती थीं, यह बात विस्तारमय से यहाँ नहीं लिखी जाती। जिज्ञासु पाठक अन्यत्र देख सकते हैं।

भरतजी की ऋद्धि का साधारण अनुमान इसीसे किया जा सकता है। वास्तव में वे अत्यन्त ही पुण्यशाली पुरुष थे। हजारों देवगण जिनकी सेवा में रहते हों और किंकर की तरह आज्ञा बजाने के लिए तैयार हों, उनकी ऋद्धि का वर्णन करना संभव नहीं है।

भरत चक्रवर्त्ती की यों तो १६००० राजधानियाँ थी जहां से उनके विस्तृत राज्य का संचालन होता था, परन्तु उनकी मुख्य राजधानी अयोध्या नगरी थी। वे अयोध्यया में रह कर ही राज्य करते थे।

उधर भगवान् आदिनाथ ने तीव्र तपस्या करके केवल ज्ञान प्राप्त किया। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होकर वे धर्म का उपदेश करने लगे और विभिन्न देशों में भ्रमण करने लगे। भगवान् के ९९ पुत्र भी राज्य त्याग कर साधु बन गए थे और शाश्वत सुख की प्राप्ति के प्रयत्न में लग गए थे।

एक बार भगवान् ऋषभदेव देश-देशान्तर में विचरते हुए अयोध्या नगरी में पहुँचे। नगरी के बाहर एक उद्यान में विराजमान हुए। एक दिन भगवान् ने धर्म का उपदेश करते हुए फर्माया:—

आत्मा स्वभाव से अनन्त ज्ञानमय, अनन्त दर्शनमय और अनन्त सुखमय है। परन्तु कर्मों के निमित्त से वह अपने स्वरूप से च्युत हो गया है। अतएव वह जन्म, जरा एवं मरण आदि के अनेक दुःखों से पीड़ित है। आत्मा को स्थायी रूप से दुःखमुक्त करने के लिए धर्म का आश्रय लेना चाहिए। धर्म ही आत्मा को पूरी तरह सुखी बना सकता है। परन्तु मोहनीय कर्म की प्रवलता के कारण संसारी जीव इस तथ्य को नहीं समझता। वह सुख की प्राप्ति के लिए उलटा प्रयत्न करता है। भोगोपभोगों की सामग्री जुटा कर उनसे सुखी बनना चाहता है। किन्तु परिणाम यह आता है कि ज्यों-ज्यों सांसारिक पदार्थों के साथ अधिक संयोग होता है, त्यों-त्यों दुःख भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है। असल में मोह-ममता ही दुःख है और उसकी वृद्धि होने पर दुःख की भी वृद्धि होती है। सारांश यह है कि अधिक आरम्भ-समारम्भ अधिक परिग्रह एवं अधिक ममता ही अधिक दुःख का कारण है। महारम्भ और महापरिग्रह नरक के कारण होते हैं। मुक्ति का मार्ग आरम्भ-परिग्रह का त्याग करना है। मोह-ममता तथा आसक्ति ज्यों-ज्यों घटती जाती है, आत्मा में शान्ति और अनाकुलता बढ़ती जाती है। यह ऐसा सत्य है कि प्रत्येक मनुष्य इसका स्वयं अनुभव कर सकता है। अतएव जो भव्य जीव वास्तविक एवं परिपूर्ण सुख चाहते हैं, उन्हें पर-पदार्थों से अपना ममत्व घटाना और हटाना चाहिए एवं आत्माभिमुख

होकर निवृत्ति-मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए। सांसारिक वस्तुओं में सुख है अथवा उनसे सुख की प्राप्ति हो सकती है, यह धारणा भ्रमपूर्ण है और इसका त्याग कर देना चाहिए।

भगवान् ऋषभदेव ने आगे चलकर किसी प्रसंग को पाकर वह भी बताया कि चक्रवर्ती भरत इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

भगवान् का धर्मोपदेश और भरत सम्बन्धी भविष्यवाणी सुनकर एक स्वर्णकार के मन में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क उठे। उसे भगवान् के कथन में पारस्परिक विरोध जान पड़ा। वह सोचने लगा-भगवान् ने अभी-अभी फर्माया था कि आरंभ और परिग्रह दुःख के कारण हैं। महारंभ एवं महापरिग्रह से नरक गति मिलती है और अब फर्माते हैं कि चक्रवर्ती भरत इसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेंगे! अगर भगवान् का पहला कथन ठीक है तो भरत को नरक गति मिलनी चाहिए, क्योंकि वह महारंभी एवं महापरिग्रही हैं। जिनके चौंसठ हजार रानियाँ है, चौंसठ हजार महल हैं, लाखों-लाखों हाथी-घोड़े एवं रथ आदि हैं, जिनके चौकों में चार करोड़ मन अन्न प्रतिदिन खर्च होता है, जिनके यहाँ तीन करोड़ शस्त्रागार हैं, जो ३२००० देशों पर शासन कर रहे हैं, जिनके सोलह हजार रत्नों के आकर हैं, जो बीस हजार सोने-चाँदी की खानों के मालिक हैं, उनसे बड़ा आरंभी और परिग्रही इस संसार में कौन हो सकता है? उन्हें भी अगर नरक नहीं मिला तो किसे नरक मिलेगा? अगर वे मोक्ष में जा सकते हैं तो कौन मोक्ष में गये बिना रह जाएगा?

मन में किसी प्रकार का सन्देह उपज आना स्वाभाविक है, परन्तु मनुष्य का कर्त्तव्य है कि सन्देह उत्पन्न होने पर वह उस विषय के विशिष्ट जानकार से अपने सन्देह का निवारण

कर ले। सन्देह का निवारण न करने से अनेक हानियां होती हैं। सन्देह के आधार पर जो लोग किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति आरम्भ कर देते हैं, वे और अधिक हानि उठाते हैं।

स्वर्णकार के मन में सन्देह हुआ। वह चाहता तो भगवान् के समक्ष अपने सन्देह को निवेदन करके समाधान प्राप्त कर सकता था। परन्तु उसने नहीं किया। उलटा, उसने सोचा—भरत महाराज, भगवान् आदिनाथ के पुत्र हैं। अपने पुत्र की महत्ता बढ़ाने के लिए भगवान् ने कह दिया है कि वे इसी भव में मोक्षधाम में पहुँच जाएँगे।

उपदेश समाप्त होने पर सब श्रोता अपने-अपने घर जा पहुँचे। सुनार भी घर पहुँचा। मगर भगवान् की बात उसे खटकती रही। उसने यह बात दूसरों के सामने भी कही। नगर में वह अपनी बात का प्रचार करने लगा। धीरे-धीरे महाराज भरत के कानों तक भी यह बात जा पहुंची। भरतजी ने विचार किया—अगर स्वर्णकार इस प्रकार का प्रचार करता है तो इससे मुझे क्या हानि है? उसके प्रचार से मोक्ष रुक नहीं सकता और नरक मिल नहीं सकता। परन्तु इस प्रचार से भोली जनता भ्रम में पड़कर भगवान् आदिनाथ के प्रति अश्रद्धालु बन जाएगी। इससे भगवान् की भी कोई हानि नहीं होगी, पर जनता की ही हानि होगी। वह भगवान् के उपदेशों पर श्रद्धा नहीं करेगी तो धर्म-मार्ग से वंचित हो जाएगी। अतएव स्वर्णकार के प्रचार की जड़ को उखाड़ फैंकना ही श्रेयस्कर है।

इस प्रकार विचार कर महाराज भरत ने स्वर्णकार को बुलवाया। आज्ञा होते ही स्वर्णकार पकड़ कर महाराज के सामने पेश किया गया।

महाराज भरत ने अपने सेवकों को आदेश दिया कि एक पात्र तेल से लबालब भर दो और इस स्वर्णकार के हाथों में दे दो। तेल का पात्र लेकर यह अयोध्या के बाजारों में घूमे। हथियारबन्द सिपाही इसके पीछे-पीछे चलते रहें एवं देखते रहें कि कहीं एक बून्द भी तेल न गिरने पाए। अगर गिर जाय तो उसी समय तथा उसी जगह इसकी गर्दन धड़ से अलग कर दी जाए।

चक्रवर्ती महाराज का यह आदेश सुनकर स्वर्णकार का हृदय काँप उठा। वह अत्यन्त भयभीत हुआ। मगर कर क्या सकता था? महाराज की आज्ञा का पालन करने के सिवाय और कोई चारा नहीं था। यद्यपि भरतजी ने अपने सिपाहियों को एकान्त में कुछ और बात भी कहदी थी, परन्तु स्वर्णकार को उसका पता नहीं था। वह तो यही सोच रहा था कि आज प्राणों पर घोर संकट आ गया है!

जिन-जिन मार्गों से स्वर्णकार ले जाया जाने वाला था, वे मार्ग विशेष रूप से सजाये गये थे। स्वर्णकार उन मार्गों को पार करता हुआ और तेल का पात्र हाथों में थामे हुए चलने लगा। उसके सिर पर मौत नाच रही थी। अतएव उससे बचने के लिए जो भी उपाय वह कर सकता था, उसने किए। उसने अपने मन को पूरी तरह एकाग्र किया, जिससे कि वह सजावट की ओर न चला जाए! स्वर्णकार भलीभाँति जानता था कि मेरे जीवन-मरण का आधार मन ही है। मन एक भी क्षण के लिए इधर-उधर गया था कि तेल नीचे गिरेगा एवं तेल के गिरते ही मेरा सिर भी धड़ से गिर जाएगा। अतएव उसने अपना उपयोग तेल के कटोरे पर ही स्थिर किया। बाजार में सजावट थी, राग-रंग था, मन तथा इन्द्रियों को लुभाने वाली

सभी सामग्री विद्यमान थी, परन्तु स्वर्णकार उन सब के मध्य में से गुजरता हुआ भी अलिप्त था। कोई भी आकर्षण उसे अपनी ओर खींचने में समर्थ न हो सका।

इस प्रकार तेल के कटोरे पर अपनी दृष्टि और मन को एकाग्र करके स्वर्णकार ने अपना परिभ्रमण पूरा किया। अन्त में वह फिर भरत महाराज के समक्ष पेश किया गया।

स्वर्णकार की पहले जो मनोदशा थी, वह अब नहीं थी। उसे प्राणों की चिन्ता नहीं रही थी। मृत्यु को जीत लेने की प्रसन्नता का उसे अनुभव हो रहा था। अन्तःकरण से भय भी निकल गया था।

महाराज भरत ने उससे पूछा—स्वर्णकार, बतलाओ, आज बाजार में घूमते समय तुमने क्या-क्या देखा है? तुम प्राण दण्ड से मुक्त हो गए हो। अब किसी प्रकार की चिन्ता न करो और सच-सच बताओ।

स्वर्णकार को और अधिक आश्वासन मिला। उसने विनीत भाव से कहा—महाराज बाजार में क्या-क्या देखा, इस प्रश्न का उत्तर देने में मैं सर्वथा असमर्थ हूं, क्योंकि मैंने तेल के कटोरे के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं देखा। मैं देखता भी कैसे? देखने का अर्थ था-सदा के लिए आँखें मींच लेना। मेरे साथी कहते हैं कि बाजार में सजावट थी, भाँति-भाँति राग-रंग हो रहे थे, परन्तु मैंने कटोरे के सिवाय अन्य सब वस्तुओं को मौत का कारण समझा। मैं कटोरे की ओर इतना एकाग्र था कि तथा किसी ओर मेरा मन नहीं गया। ऐसी स्थिति में कैसे बता सकता हूं कि मार्ग में क्या था एवं क्या नहीं था? मैं तो यही जानता हूं कि मैं था और मेरे हाथों में तेल का भरा कटोरा था। उस समय सारी सृष्टि मेरे लिए कटोरे में ही समा

गई थी।

स्वर्णकार के मुख से चक्रवर्त्ती महाराज यही सुनना चाहते थे। इसी बात का अनुभव कराने के लिए उन्होंने यह नाटक रचा था। स्वर्णकार के उत्तर से वे समझ गए कि अब यह मेरी स्थिति को समझ सकेगा। अतएव उन्होंने कहा–देखो सोनी जी, जैसे तुम मौत के भय से सुन्दर से सुन्दर और इन्द्रिय तथा मन को लुभाने वाली सामग्री के बीच में से गुजरते हुए भी उससे अलिप्त रहे-अनासक्त रहे, क्षण भर के लिए भी तुम्हारा मन उस ओर नहीं गया, इसी प्रकार मैं भी अलिप्त रहता हूं। अन्तर यही है कि तुम थोड़ी देर के लिए मौत से डरे एवं अलिप्त रहे, मैं सदैव मृत्यु से भयभीत रहता हूं। हर समय मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मौत मेरे मस्तक पर मंडरा रही है। अतएव मैं सदैव अलिप्त रहता हूँ। तुम्हें मालूम है कि कमल जल में रहता हुआ भी जल से अलिप्त रहता है। इसी प्रकार संसार के इस सर्वोत्कृष्ट वैभव के बीच रहते हुए भी मैं इसमें आसक्त नहीं हूँ। मेरी इस अनासक्तिमय मनोदशा को सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् आदिनाथ पूरी तरह जानते हैं। इस कारण उन्होंने इसी भव में मेरे मोक्ष प्राप्त कर लेने की बात कही है।

स्वर्णकार आज की इस अद्भुत घटना की असली भूमिका को अब समझ पाया। महाराज ने मुझे शिक्षा देने के लिए ही यह आयोजन किया था, यह जानकर उसे हर्ष हुआ। पर उसके मन में अब भी एक सन्देह रह गया या। वह यह कि अगर भरत महाराज इतने अनासक्त हैं तो फिर इस वैभव का त्याग क्यों नहीं कर देते? कौन उन्हें जबर्दस्ती करके इस प्रवृत्तिमार्ग पर चला रहा है? चाहें तो अभी निवृत्तिपथ के पथिक बन सकते हैं। फिर क्या कारण है कि वे जान-बूझ कर

भी इस गोरखधंधे में फँसे हैं ?

भरतजी ने उसकी आकृति देखकर मनोभावना को समझ लिया। तब वह बोले—स्वर्णकार, मैं चाहूँ तो आज ही इस छह खण्ड के राज्य का परित्याग कर सकता हूं; परन्तु तुम जानते हो कि पिताजी ने प्रजा की सेवा और देश के संगठन एवं सुशासन का उत्तदायित्व मुझे सौंपा है। जिस देश में सुशासन नहीं होता, प्रजा में शान्ति नहीं होती, न्याय-नीति के साथ प्रजा अपना जीवन नहीं बिताती, उस देश में धर्म नहीं पनप सकता। धर्म का महल नीति की नींव पर ही स्थिर रह सकता है। अतएव मैं जिस कार्य में लगा हूँ, वह धर्म की प्रतिष्ठा का ही एक अंग है। प्रजा के कल्याण के लिए ही मेरा सब समय और समस्त शक्तियाँ सर्मपित हैं। न मुझे राज्य का लोभ है, न वैभव की भूख है। जिस दिन लोकसेवा का मेरा कार्य पूर्ण हो जाएगा; जब मैं देखूँगा कि शासन अव्यवस्थित एवं स्थिर हो गया है; अथवा जिस दिन मेरी जिम्मेवारी को ठीक तरह पूरा कर देने वाला मेरा कोई उत्तराधिकारी तैयार हो जाएगा, उसी दिन भरत राज्य भवन को त्याग कर वन की ओर चल देगा।

भरतजी का यह वक्तव्य सुनकर स्वर्णकार ने आज उनकी महत्ता को पूरी तरह जान पाया। भरतजी के प्रति उसकी श्रद्धा और अधिक बढ़ गई। अपने सन्देह तथा विरुद्ध प्रचार के लिए वह अत्यन्त लज्जित हुआ। अपनी ढिठाई के लिए वह वार-बार क्षमा माँगने लगा। भरत महाराज ने उसे सान्त्वना देकर घर भेज दिया। स्वर्णकार ने अब अपना प्रचार बन्द कर दिया। भगवान् आदिनाथ के प्रति उसके हृदय में भी अखण्ड श्रद्धा उत्पन्न हो गई। साथ ही उसने अपने जीवन

का महत्व भी समझ लिया। उसने विचार किया—जब संसार के सर्वोत्कृष्ट सुखों के पात्र चक्रवर्ती भरतजी जैसे भी लोक-कल्याण के कार्यों में ही रत रहते हैं और लुभावने पदार्थों में तनिक भी आसक्त नहीं होते तो मैं इनके सामने क्या हूँ? मेरे पास कितनी-सी भोग-सामग्री है? धिक्कार है मुझे कि मैं इन तुच्छ भोगों में आसक्त हूँ!

वास्तव में आत्मा के उत्थान और पतन में भावना का बड़ा महत्त्व है। भरत महाराज ने इस तत्त्व को सम्यक् प्रकार से समझ लिया था। यही कारण है कि वे ऊपर-ऊपर से महारंभी एवं महापरिग्रही दिखाई देते थे, फिर भी उनका अन्तःकरण विशुद्ध था। अलिप्तता या अनासक्ति के प्रभाव से वे जल में कमल की तरह रहते तथा कार्य करते थे।

एक बार भरत महाराज अपने शीशमहल में अपने शरीर की सुन्दरता को निरख रहे थे। उस समय, अचानक ही, उनकी उँगली से एक हीरा जड़ी अंगूठी निकल कर गिर पड़ी। उन्होंने उस ऊँगली को गौर से देखा तो वह नंगी और भद्दी सी दिखाई दी। तब उन्होंने एक-एक करके शरीर के समस्त आभूषण उतारने शुरू किये। यहाँ तक कि एक भी आभूषण शरीर पर नहीं रहने दिया। उसके बाद फिर उन्होंने अपने शरीर को देखा। आभूषण सहित एवं आभूषण-रहित शरीर की सुन्दरता में उन्हें बहुत अन्तर दिखाई दिया।

घटना साधारण-सी थी। परन्तु महापुरूष साधारण घटना से भी कभी-कभी असाधारण परिणाम निकाल लेते हैं। भरतजी सोचने लगे—शरीर तो वही का वही है, फिर आभूषणों के अभाव में यह उतना सुन्दर क्यों नहीं मालूम हो रहा है? वास्तव में यह शरीर स्वयं सुन्दर नहीं है—इसमें जो सुन्दरता

थी, वह तो उधार ली हुई थी। इसमें अपना निज का सौन्दर्य कहाँ है? यह अपवित्र पदार्थों से बना हुआ है। रज-वीर्य से इसका निर्माण हुआ है। मल-मूत्र, हाड़-मास पर टिका हुआ है। यह शरीर इतना अपवित्र है कि सुन्दर से सुन्दर वस्तु भी इसके संसर्ग से अपवित्र हो जाती है। संसार में गंदी से गंदी जो वस्तु मानी जाती है, वह इस शरीर के सम्पर्क से ही अपवित्र बनती है।

आत्मा स्वभाव से अशरीर है, अमूर्त्त है, ज्ञानस्वरूप है, परन्तु शरीर के संबंध से वह मूर्त और अज्ञान बन रही है। इसी कारण वह अनादि काल से संसार में परिभ्रम कर रही है और नाना प्रकार के दुःख भोग रही है। आत्मा को समस्त दुःखों से मुक्त करने का उपाय अशरीर-अवस्था प्राप्त करना ही है।

इस प्रकार का विचार करने से भरत महाराज को प्रबल वैराग्य हो आया। उनकी विचार श्रेणी बहुत ऊँची उठ गई। वे अपने भावों से साधुता की कोटि पर जा पहुँचे। फिर अप्रमत्त दशा को प्राप्त करके अन्ततः मोहकर्म को सर्वत्र नष्ट कर दिया। मोहनीय कर्म सब कर्मों का राजा है। उसके क्षीण होने पर अन्य कर्म ढीले पड़ जाते हैं और अधिक समय तक नहीं ठहर सकते। अतएव उनके ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय इन तीन घाति कर्मों का भी एक साथ क्षय हो गया। उनकी आत्मा पूर्ण वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा अनन्तशक्तिमान् हो गई। वे जीवन्मुक्त परमात्मा के पद को प्राप्त हुए।

चक्रवर्त्ती भरत की कहानी एक अनूठी कहानी है। वह बड़ी ही बोधदायक है। मनुष्य के जीवन का क्या उद्देश्य होना चाहिए? किस प्रकार का जीवन व्यतीत करने से वर्तमान में

और भविष्य में शान्ति प्राप्त हो सकती है ? इत्यादि प्रश्नों का उनकी जीवनी से सुन्दर समाधान होता है। इस कहानी से अनासक्ति का महत्त्व हमारे हृदय-पटल पर अंकित हो जाता है। जिसने वाह्य पदार्थों का त्याग नहीं किया है, वह यदि उनके प्रति सर्वथा अनासक्त है, तो वे पदार्थ उसकी आत्मा के उद्धार में बाधक नहीं हो सकते। इसके विपरीत भोगोपभोग की सामग्री न होने पर भी अगर कोई उनकी लालसा रखता है, उनके प्रति मन में आसक्ति रखता है, तो उसकी आत्मा का पतन होता है।

सारांश यह है कि वर्त्तमान जीवन में तथा आगामी जीवन में सुखी होने का एक ही राजमार्ग है और वह है अनासक्ति। चक्रवर्त्ती महाराज भरत की कथा से जो यह बोध प्राप्त करके इसी के अनुसार व्यवहार करेगा, उसका कल्याण होगा।

卐

महावीर भगवान्

आज से करीब अढ़ाई हजार वर्ष पहले की घटना है। हमारे इस देश में हिंसा का भयानक दौर चल रहा था। हजारों पशु यज्ञ के बहाने मौत के घाट उतार दिये जाते थे। राजा यज्ञ करते और धर्म के ठेकेदार पुरोहित उन्हें उत्तेजना देते एवं स्वर्ग मिलने का आश्वासन देते थे। ऐसी स्थिति में उन मूक पशुओं की पुकार सुनने वाला कौन था ? जब रक्षक ही भक्षक बन जाय तो बचाने वाला कौन ?

ऐसे समय में 'चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन क्षत्रिय कुंड के राजा सिद्धार्थ के यहाँ भगवान् महावीर का जन्म हुआ। आपकी माता का नाम त्रिशला था।'

भगवान् जब माता के गर्भ में आये तब राजा सिद्धार्थ की विभूति, महिमा, मान-प्रतिष्ठा आदि में खूब वृद्धि हुई थी। अतएव जन्म होने पर आपका नाम वर्द्धमान कुमार रक्खा गया। कुमार अपने नाम के अनुसार द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगे। उनका रूप अत्यन्त सुन्दर था। शरीर बड़ा सुन्दर, सुडौल और स्वर्ण के समान गौर था। वह बचपन में भी विशिष्ट शक्तिशाली, निर्भीक एवं बुद्धिमान् थे।

एक बार कुमार अपने साथी बालकों के साथ जंगल में खेलने गये। वे एक वृक्ष पर चढ़ कर खेल रहे थे कि अचानक एक बड़ा विषधर वहाँ आ पहुंचा। उसने वृक्ष के तने को घेर लिया। साक्षात् काल रूप सर्प को देखकर बालक घबरा उठे और कई डर के मारे वृक्ष पर से गिर भी पड़े। मगर कुमार वर्द्धमान इतने निर्भय थे कि जरा भी नहीं घबराये। वे धैर्य के साथ साँप के फन पर पैर रख कर नीचे उतरे और उसे पकड़ कर एक तरफ छोड़ आये। उन्होंने बालकों के भय को दूर ही नहीं कर दिया, उन्हें आश्चर्य में भी डाल दिया। कहते हैं तभी से वर्द्धमान का नाम 'महावीर' पड़ा।

कुमार जन्म काल से अपूर्व ज्ञानी थे। उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त था। जो भी कोई उनके पास आता, उसके संदेह का वे निवारण कर देते। उनके हृदय में बाल्यावस्था से ही वैराग्य के प्रबल संस्कार विद्यमान थे। अपने कई पूर्वभवों में तपस्या करके वे आये थे। अतएव संसार का उत्कृष्ट से उत्कृष्ट वैभव और मनोहर से मनोहर भोगोपभोग भी उन्हें लुभा नहीं सकते थे। वे राजमहल में रहते अवश्य थे, मगर उसी प्रकार, जैसे जल में कमल रहता है—अलिप्त।

वर्धमान अक्सर चिन्तन में मग्न रहा करते थे। उन्हें

वाहर के रंग-राग नहीं सुहाते थे। अनेक चिरन्तन प्रश्न उनके मस्तिष्क में आते और वे उनके संबंध में विचार करते। आखिर मानव-जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए ? मनुष्य की चरम सफलता किस उपलब्धि में है ? प्रत्येक प्राणी सुख के लिए प्रयत्नशील होकर भी सुखी नहीं दीखता तो सुख का वास्तविक मार्ग क्या है ? इस प्रकार के अगणित प्रश्न उनके मस्तिष्क में चक्कर काटते रहते थे।

धीरे-धीरे गृहस्थी में रहते हुए उनके जीवन के तीस वर्ष व्यतीत हो गए। उस समय तक उनकी विरक्ति परिपक्व हो चुकी थी। जगत् उन्हें कारागार के समान प्रतीत होने लगा। संसार के भोगोपभोग उन्हें नितान्त निस्सार प्रतीत हो हो रहे थे। अतएव उन्होंने आत्मकल्याण के लिए साधना करने का मार्ग अपनाने का निश्चय कर लिया। सोने के सिंहासन को, सुखदायी राजमहल को और प्रेमी परिवार को त्याग कर वे भिक्षुक बन गये। भिक्षुक बनने से पहले उन्होंने विपुल दान दिया।

दीक्षा अंगीकार करके भगवान् जंगल में जाकर ध्यानमग्न हो गये। सिंह व्याघ्र आदि हिंसक जीव आते, उन्हें देखकर गुर्राते, परन्तु अहिंसा और करुणा की मूर्त्ति भगवान् के समीप आकर वे ठंडे पड़ जाते थे। भगवान् के मन न भय था- न द्वेष था। अतएव हिंसक प्राणी भी उनके मित्र बन जाते थे।

उन दिनों जंगल में एक बड़ा ही दृष्टिविष सर्प था- चंड कोशिक। उस के डर से लोग काँपते थे। उस की ओर कोई जाने का साहस नहीं करता था। उधर का रास्ता वन्द हो गया था। पर निर्भीक भगवान् एक दिन, लोगों के मना करने पर भी उसके बिल के पास जा पहुंचे चण्ड कौशिक

उन्हें देख कर फुंफकारने लगा। वह समझता था कि मैं अपनी नज़र के ज़हर से ही इस बाबा को भस्म कर दूँगा। परन्तु बाबा जी ऐसे-वैसे साधारण व्यक्ति नहीं थे। वे अपनी अमित अनुकम्पा और असीम समता के द्वारा विष को अमृत बना देने वाले अलौकिक महापुरूष थे।

चण्ड कौशिक फुफकारता रहा और बाबाजी सुमेरू की तरह खड़े रहे। सर्प क्रोध से जल रहा था तथा बाबा जी प्रशमभाव का पानी उस पर छिड़क रहे थे। साँप की दृष्टि से विष बरस रहा था, बाबा जी की दृष्टि से अमृत का झरना बह रहा था। एक ओर हिंसा थी, दूसरी ओर अहिंसा थी, दोनों में संघर्ष था।

अहिंसा सदैव हिंसा पर विजय पाती है। अहिंसा वह अमोघ शस्त्र है जो कदापि बेकार नहीं होता। यहाँ भी ऐसा ही हुआ। जब चण्डकौशिक की दृष्टि के विष को महावीर स्वामी ने अपनी दया, करुणा और अहिंसा की शक्ति से अमृत बना लिया एवं वह विष उनका कुछ भी न बिगाड़ सका, तो चण्डकौशिक और ज्यादा कुपित हो उठा। उसने सर्राटे के साथ आकर महावीर स्वामी के पैर में अपनी विषैली दाढ़ें चुभा दी। रक्त के बदले दुग्ध के समान धवल धारा बहने लगी। भगवान् अविचल खड़े रहे। साँप चकित हो रहा था। इतने में भगवान् ने कहा—'चण्डकौशिक ! बुज्झ, बुज्झ।'

सर्प भगवान् की तरफ टकटकी लगाकर देखने लगा। उसी समय उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने जान लिया कि पहले जन्म में मैं साधु था, परन्तु अपने शिष्य पर क्रोध करने के कारण मुझे साँप की योनि में आना पड़ा है।

यह ज्ञात होने पर चण्डकौशिक पश्चात्ताप की आग में जलने लगा। वह प्रभु के चरणों में गिर पड़ा और अनशन

करके प्राण त्याग कर स्वर्ग में देव रूप से उत्पन्न हुआ। इस प्रकार भगवान् ने एक बड़ा भारी खतरा उठाकर साँप का उद्धार किया और जनता के संकट को दूर किया।

विहार करते-करते एक बार अनार्य देश में चले गये। वह देश साधु सन्तों के लिए बिलकुल अनुपयुक्त था। वहाँ अत्यन्त क्रूर, असंस्कारी, अधार्मिक और विवेकहीन लोग रहते थे। अतएव कोई भी साधु उधर जाने का साहस नहीं करता था। परन्तु महावीर स्वामी तो कोई साधारण पुरुष नहीं थे। वे वहाँ गये। अनार्य लोगों ने उन्हें घोर कष्ट दिये। किसी-किसी ने कुत्तों को छुछकार कर उनके पीछे लगा दिया और काटने के लिए उत्साहित किया। किसी ने उनके शरीर पर धूल फेंकी। किसी ने पत्थर और डण्डे मारे। किसी ने गाँव में न घुसने दिया। इस प्रकार अमानवीय अत्याचार सहन करते हुए भी भगवान् ने अनार्य देश में अत्यन्त समभाव से विचरण किया। किसी पर क्रोध नहीं किया। जिस प्रकार युद्ध में वीर सेनापति शत्रु की मार की परवाह न करता हुआ आगे बढ़ता जाता है, उसी प्रकार भगवान् भी आने वाले संकटों और कष्टों को परवाह न करते हुए अनार्य देश में विचरण करते रहे।

भगवान् महावीर की तपस्या बड़ी उग्र थी। शीतकाल में वे जलाशयों के सन्निकट ध्यान लगा कर खड़े हो जाते थे। वर्षा ऋतु में वृक्षों के नीचे और ग्रीष्म ऋतु में धूप में खड़े होकर आतापना लेते थे।

भगवान् को शरीर के प्रति तनिक भी ममता या आसक्ति नहीं थी। उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों को वश में कर लिया था। देहाध्यास से वे सर्वथा मुक्त हो चुके थे। शरीर में रहते हुए भी शरीर से सर्वथा भिन्न थे यही कारण है कि खान-

ध्यान के विषय में सर्वथा उदासीन रहते थे। अपने निमित्त बनाया आहार नहीं लेते थे। शुद्ध और निर्दोष आहार ही जब जहाँ मिल जाता, ले लेते थे, अन्यथा निराहार रहते थे। भगवान् ने कई बार एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास, तथा यहाँ तक कि छह मास तक के लम्बे-लम्बे उपवास किये थे। कई बार वे बड़े ही कठिन अभिग्रह धारण कर लेते थे और जब तक उनकी पूर्ति न हो जाती, तब तक आहार ग्रहण नहीं करते थे। ऐसे एक अभिग्रह का उल्लेख चन्दनबाला की कथा में किया जा चुका है। बारह वर्ष, छह मास, एवं चौदह दिन की घोर तपश्चर्या के लम्बे काल में भगवान् ने केवल ३४९ दिन ही आहार किया। शेष दिन निराहार रहकर ही व्यतीत किये।

भगवान् इस समय में प्रायः मौन रहते थे। रात की रात खड़े रहकर ध्यान में व्यतीत कर देते थे। कभी श्मशान में, कभी खंडहरों में और कभी दूसरे एकान्त स्थानों में ध्यान किया करते थे। उन्हें रात्रि में शयन करने की भी आवश्यकता नहीं रह गई थी।

इस प्रकार करीब साढ़े बारह वर्ष तक भगवान् महावीर ने उग्र से उग्र तपश्चर्या की। इसी कारण वे दीर्घ तपस्वी कहलाते हैं। संसार में अनेक बड़े-बड़े तपस्वी हुए हैं और उन्होंने भी बड़ी कठोर तपस्या की है, परन्तु भगवान् महावीर जैसी उग्र तपस्या करने वाला कोई दूसरा महापुरूष संसार के इतिहास में दृष्टिगोचर नहीं होता। उनकी तपस्या का विस्तृत वर्णन आचारांग आदि शास्त्रों में मिलता है। उसे पढ़कर ही साधारण व्यक्तियों का दिल दहल जाता है! जिज्ञासु पाठकों को आचारांग का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

हाँ, तो आध्यात्मिक साधना की अवस्था में भगवान् ने घोर से घोर कष्टों को आश्चर्यजनक समभाव से सहन किया। महावीर के कष्टों को देखकर देवराज इन्द्र का हृदय भी थर्रा उठा और वह उनकी सहायता तथा रक्षा करने को आया। मगर भगवान् ने सहायता लेने से इन्कार करते हुए स्पष्ट कहा— वीर पुरूष अपने ही बाहुबल से दुःखों का सागर पार करते हैं। दूसरों की सहायता लेना अपनी शक्ति को कुंठित करके देता है। भगवान् का सिद्धान्त था कि

'अप्पा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं वहिया मित्तमिच्छसि ।'

— आचारांग सूत्र

हे पुरूष ! तू आप ही अपना मित्र है। दूसरे मित्र की क्यों इच्छा करता है ? सचमुच भगवान् ने किसी की सेवा-सहायता अंगीकार नहीं की। वे आप ही भयानक से भयानक कष्टों से जूझते रहे और अपने अप्रतिहत संकल्प-बल से, अपनी असाधारण धीरता से एवं दृढ़ता से उन्होंने विजय प्राप्त की।

संकटों और कष्टों के साथ संघर्ष करते-करते तथा अप्रमत्त भाव से आत्मसाधना करते-करते अन्त में उनकी आत्मा पूर्णरूप से निर्विकार, निष्कलुष, निष्कषाय और निरंजन हो गई। उन्हें लोकोत्तर दर्शन एवं लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्ति हुई। साधना की मुख्य मंजिल यहां तय हो गई।

अभी तक महावीर स्वामी वैयक्तिक विकास में ही तल्लीन थे। जब वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो गये तब जगत् के कल्याण में तत्पर हुए। सर्व-प्रथम उन्होंने इन्द्रभूति गौतम आदि ब्राह्मण विद्वानों को संकाओं का समाधान करके उन्हें अपना शिष्य बनाया। वे भगवान् के गणधर कहलाए। देश-

देश में पैदल भ्रमण करके उन्होंने तत्कालीन कुरूतियों, गलत धारणाओं, भ्रान्तियों और बुराइयों को अपने उपदेश से दूर किया। उन्होंने धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक जगत् में जो बलवती क्रान्ति की, उसे संक्षेप में इस प्रकार दर्शाया जा सकता है:—

१. अहिंसामार्ग—भगवान् के समय में हिंसा का बहुत दौरदौरा था बहुत से लोग हिंसा को धर्म का अंग मानने लगे थे। यज्ञ के नाम पर मनुष्यों, गायों और घोड़ों आदि का निर्दयतापूर्वक वध किया जाता था। बाहर के क्रियाकांड में ही धर्म समझा जा रहा था। भगवान् ने इस हिंसा एवं बाह्याडम्बर का विरोध करके जनता को अहिंसा की महत्ता समझाई तथा कहा कि जगत् में अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नहीं हो सकता और हिंसा से बड़ा कोई पाप नहीं हो सकता। भगवान् के उपदेश का लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा एवं लोगों को हिंसा से घृणा हो गई। अब ऐसे हिंसात्मक यज्ञ नहीं होते, इसका श्रेय भगवान् महावीर के उपदेश को ही है।

२. अनेकान्तवाद— भगवान् के समय में बहुत-से मत-मतान्तर प्रचलित थे और वे एकांगी सत्य को ही सम्पूर्ण सत्य समझते थे। सब का दावा था कि बस, हम ही सच्चे और सब झूठे हैं। भगवान् ने जनता को सर्वांगीण सत्य का स्वरूप समझाया वस्तु के स्वरूप को विविध दृष्टिविन्दुओं से देखने की शिक्षा दी। पारस्परिक विरोध का मथन करके संकीर्णता की जगह विराटता की स्थापना की। यह सिद्धान्त स्याद्वाद भी कहलाया।

३. कर्मवाद—जीवात्मा दैव नियति या ईश्वर के हाथ की कठपुतली नहीं है। वह स्वयं अपने सुख-दुःख का निर्माता

और भोक्ता है। उसकी मुक्ति उसी के हाथ में है। इस प्रकार आत्मस्वातन्त्र्य की शिक्षा देने के लिए कर्मवाद का उपदेश दिया।

४. गुणवाद—उस समय में जात-पाँत का बहुत जोर था। गुणों की कोई कीमत नहीं थी। जाति से ही उच्चता और नीचता समझी जाती थी। भगवान् ने कहा—मनुष्य जाति एक है तथा गुणों से ही मनुष्य ऊँचा-नीचा होता है। उन्होंने अपने श्रमणसंघ में शूद्रों एवं ब्राह्मणों को समान दर्जा दिया।

५. क्रियाकाण्ड—बाह्य और दिखावटी कर्मकाण्ड के स्थान पर आत्मस्पर्शी सम्यक्चारित्र को स्थापना की, जिससे व्यक्ति एवं समाज को समान रूप से शान्ति प्राप्त हो।

६. नारी प्रतिष्ठा—भगवान् के समय में महिला जाति हीन दृष्टि से देखी जाती थी। ब्राह्मणों ने उसे वेद का स्वाध्याय करने के लिए भी अनधिकारी घोषित कर रक्खा था। महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों को अपने संघ में स्थान नहीं दिया था। परन्तु महावीर स्वामी ने इस भेदभाव का विरोध करके स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार दिये। इस उदारता के फलस्वरूप उनके संघ में ३६००० महिलाएँ—जिनमें रानियाँ, महारानियाँ और राजकुमारियां भी सम्मिलित थीं, दीक्षित होकर साध्वी वनीं।

७. लोकभाषा का प्रयोग—उस समय के विद्वान् बोलचाल की भाषा को हीन दृष्टि से देखते थे और संस्कृत भाषा में ही साहित्य लिखते थे, जिससे जनता धर्म के वास्तविक तत्त्व से अनभिज्ञ रहती थी। भगवान् ने अपने धर्म का बोलचाल की भाषा में उपदेश दिया। इससे साधारण जनता को बड़ा लाभ पहुँचा। वह अन्धकार से प्रकाश में आ सकी।

वास्तव में भगवान् ने लोक को एक नूतन दृष्टिकोण प्रदान किया। जीवन में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। आज दिन उपयोगी सुधारों पर हमारे देश के नेता और समाज सुधारक बल दे रहे हैं, उनमें से अधिकांश के मूल प्रवर्तक महावीर स्वामी ही थे; ऐसा उनके उपदेशों से स्पष्ट प्रतीत होता है।

भगवान् को बैशाख शुक्ला १० के दिन, जृम्भक ग्राम के बाहर ऋजुबालिका नदी के उत्तर तट पर, शामक नामक किसान के खेत में, शाल वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् वे ३० वर्षों तक निस्पृह भाव से धर्म का उपदेश करते रहे। भारत के कोने-कोने में उन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि का उपदेश दिया। उन्होंने जो उपदेश दिया, उसमें न किसी प्रकार की स्वार्थ की भावना थी तथा न किसी प्रकार का आग्रह था। जिसे भगवान् का धर्म रूचिकर होता एवं जो उस धर्म में दीक्षित होने की इच्छा करता था, उसे भगवान् यही उत्तर देते थे कि—'जहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंध करेह।' अर्थात् हे देवों के प्यारे ! तुम्हें जैसे सुख उपजे, वही करो, उसमें ढील मत करो ! इस प्रकार बिना किसी जबर्दस्ती के भगवान् ने अपने धर्म का प्रचार किया। भगवान् का उपदेश जनता को अत्यन्त रूचिकर हुआ। अतएव उनके संघ में १४००० श्रमण और ३६००० साध्वियाँ सम्मिलित हुईं। गृहस्थ शिष्यों की तो संख्या खास उपलब्ध नहीं है। वैशाली गणतंत्र के अधिपति चेटक, मगध-नरेश श्रेणिक और उनके पुत्र कोणिक आदि क्षत्रिय, आनन्द और कामदेव जैसे श्रद्धालु वैश्य, सकडालपुत्र जैसे कुंभार भी उनके अनुयायी थे। भगवान् के संघ में शूद्रों का भी स्वागत समान रूप से किया जाता था। हरिकेशी जैसे

श्वपाककुल-संभूत महात्मा भी इन्द्रभूति जैसे ब्राह्मणवर्ण के महात्माओं के समान ही आदर पाते थे।

भगवान् महावीर ने आज से लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पहले जो सामाजिक और धार्मिक आदर्श प्रस्तुत किये थे, उनका पूरी तरह अनुसरण जब तक हमारा देश करता रहा, सुखी, शान्त, समृद्ध एवं स्वतंत्र रहा। समय बीतने पर ज्यों-ज्यों वे आदर्श धुंधले होते गये, देश फिर जाति-पांति के चक्कर में पड़ता गया—जिसमें से भगवान् ने उसे निकाला था, फिर से गुणों के बदले जाति की पूजा होने लगी। समाज में विषमता का विष फैलता गया तथा समाज खंड-खंड होकर दुर्बल हो गया। भारत का विभाजन भी ज़ातिवाद का ही दुष्परिणामो है। महावीर के आदर्शों पर पूरी तरह भारत चला होता तो उसकी स्थिति आज निराली ही होती।

भगवान् के उपदेशों की अनेक विशेषताएं हैं। वह देश और काल की सीमाओं से अतीत है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में समान रूप से उपयोगी है। वह प्राणी मात्र के लिए उपयोगी है।

अन्त में ७२ वर्ष की आयु में राजगृह के निकट अपापापुरी (पावापुरो) में भगवान् समस्त कर्मों का क्षय करके निरंजन, निराकार सिद्ध पद को प्राप्त हुए।

भगवान् के निर्वाण से विश्व का एक असाधारण महापुरुष इस भूतल से उठ गया। उनका निर्वाण कार्त्तिक कृष्णा अमावस्या की पिछली रात्रि में हुआ था। इस काली अमावस्या ने जगत् में बाह्य अन्धकार ही नहीं फैलाया, वरन् भाव अन्धका भी प्रसार कर दिया। उस अन्धकार को दूर करने के लिए राजाओं ने दीपक प्रज्वलित किये—दीपमालिका मनाई और

आज तक उसकी नकल करके प्रतिवर्ष दीपमालिका प्रज्वलित करते हैं, परन्तु वह लोकोत्तर प्रकाश तो सदा के लिए अस्त हो गया।

भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, उसका कुछ भाग जैनागमों में आज भी सुरक्षित है। उसके कुछ नमूने इस प्रकार हैः—

१—जो प्राणी मात्र को अपने समान समझता है—अपने-पराये को समान दृष्टि से देखता है, आत्मा का दमन करता है, वह पापकर्म से लिप्त नहीं होता।

२—समस्त इन्द्रियों को अच्छी तरह वश में करते हुए पापों से अपनी आत्मा की रक्षा करते रहना चाहिए। पापों से अरक्षित आत्मा संसार में भटकती रहती है और सुरक्षित आत्मा दुःखों से मुक्त हो जाती है।

३—जो पुरुष यह निश्चय कर लेता है कि चाहे शरीर छूट जाय परन्तु धर्म का त्याग नहीं करूँगा, उसे इन्द्रियाँ उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकती, जैसे सुमेरू पर्वत को आंधी।

४—आप स्वयं अपने सुख-दुःख के कर्त्ता और हर्त्ता हैं। सन्मार्गगामी आपकी आत्मा आपकी मित्र है तथा उन्मार्गगामी आत्मा शत्रु। आत्मा ही कामधेनु नन्दनवन है तथा आत्मा ही वैतरणी नदी एवं कूट शालमली वृक्ष है।

(५) युद्ध करो अपनी आत्मा के साथ, दूसरों से युद्ध करने से क्या लाभ है ?···कंठ काटने वाला शत्रु उतना अनिष्ट नहीं करता, जितना अनिष्ट दुराचार करके आप स्वयं करते हैं।

(६) जो तू अपने लिए चाहता है, वही दूसरों के लिए चाह। जो तू अपने लिए नहीं चाहता, वह दूसरों के लिए भी मत चाह।

(७) साधक को चाहिए कि वह रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में आत्मनिरीक्षण करे। सोचे कि—मैंने कौन-से कर्त्तव्य कार्य नहीं किये हैं, और कौन-कौन से अकर्त्तव्य कर्म किये हैं? दूसरे मुझमें क्या दोष देख रहे हैं? मुझे स्वयं क्या दोष दिखाई देते हैं? उन दोषों को दूर करने के लिए मैं क्या प्रयत्न कर रहा हूँ?

(८) अहिंसा ही भगवती और सत्य ही भगवान् है।

(९) विवेक पूर्वक चले, विवेक पूर्वक बैठे, विवेक पूर्वक खड़ा हो, विवेकपूर्वक सोये, विवेकपूर्वक खान-पान करे और विवेकपूर्वक बोले तो पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता।

(१०) सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि का जो भी कष्ट आ पड़े, उसे समभाव से सहन करना चाहिए।

(११) लोभ-लालच का कहीं अन्त नहीं है। कदाचित् सोने-चांदी के असंख्य कैलाश के समान बड़े-बड़े-पर्वत एक लालची को मिल जाएँ तो उनसे भी उसे सन्तोष नहीं होगा, क्योंकि तृष्णा अनन्त है। अतएव तृष्णा के वशवर्त्ती होकर न भटको, उसे त्यागो।

(१२) सुकुमारता छोड़ो, कष्ट सहिष्णु बनो। कामनाओं का अन्त कर दोगे तो तुम्हारे सब दुःखों का अन्त हो जायगा।

(१३) जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता हो, जो मृत्यु के आने पर भाग कर बच सकता हो अथवा जिसका खयाल हो कि वह मरेगा ही नहीं, वही कल पर निर्भर रह सकता है।

(१४) समय निरन्तर बीत रहा है और बीता समय लौट कर नहीं आता। जो मनुष्य धर्म का आचरण करता है, उसका समय सार्थक है। अधर्म-पाप का आचरण करने वालों का समय व्यर्थ जाता है।

(१५) अपनी श्रद्धा को, ज्ञान को और चरित्र को विशुद्ध बनाओ। यही मुक्ति का मार्ग है।

(१६) अहिंसा, संयम और तप ही धर्म है। जिसके हृदय में यह धर्म एक-रस हो जाता है, उसे किसी देव के आगे सिर नहीं झुकाना पड़ता। देवता उसी को नमस्कार करते है।

卐

यति

आजकल बोल चाल में यति और मुनि का अर्थ अलग-अलग समझा जाता है ; किन्तु वास्तव में यति का अर्थ साधु होता है। आज जो यति, साधु समाज से अलग होते हैं, किसी समय में वे साधु ही थे। मगर शिथिलता के कारण वे साधुधर्म का पालन करने में असमर्थ हो गये। अतएव उनका समाज अलग ही बन गया।

यहाँ परजो व्याख्यान देते हुए जिन यति को दिखलाया गया है, वे साधु दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करते हैं। उसी स्वाध्याय को आज कल धर्मोपदेश (व्याख्यान) का रूप दिया गया है।

साधु जी महाराज का हमारे उपर अनन्त उपकार है। वे स्वयं वीतराग भगवान् की वाणी का अध्ययन, चिन्तन, मनन करते हैं और उसे सर्वसाधारण जनता को भी सुनाते हैं। उनके उपदेश से जनता को सत्य तत्त्व का बोध होता है। लोग नीति एवं धर्म के मार्ग को समझते हैं। और उस पर यथाशक्ति चलते हैं। मानव–समाज में धर्म एवं नीति का उच्च भावना को स्थिर रखने में साधु समाज का बड़ा हाथ है। उनके उपदेश से कितने ही पापी जन तिर गये एवं तिर रहे हैं।

आज कोई तीर्थंकर नहीं, किन्तु सौभाग्य से तीर्थंकरों के संदेश को फैलाने वाले साधु विद्यमान हैं। वे जगह-जगह पैदल घूमकर जनता को आध्यात्मिक उत्कर्ष का मार्ग प्रदर्शित कर रहे हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि जब कभी हमें साधुसमागम का अवसर मिले तो हम अपना सौभाग्य मानें। उनका आदर-सत्कार करें। उनके उपदेश को शिरोधार्य करें और अपने जीवन को पवित्र बनावें।

卐

रक्षाबन्धन

रक्षाबन्धन भारत वर्ष के मुख्य त्यौहारों में से एक है। यह त्यौहार श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है। उस दिन भारत भर में एक विशेष प्रकार का उल्लास फैल जाता है। जैन और जैनेतर- सभी हिन्दू प्रेम के साथ इस त्यौहार को मनाते हैं। इस दिन बहिन अपने भाई को राखी बाँधती है और उसके कल्याण की कामना करती है।

रक्षाबन्धन त्यौहार कब से प्रचलित हुआ, इस संबंध में जैनों और अजैनों में दो कथाएँ प्रचलित हैं। अजैनों में प्रचलित कथा इस भाँति है:—

राजा बलि दैत्यों का राजा था। वह बड़ा दानी था। दान आदि के प्रभाव से उसका तेज इतना बढ़ गया कि इन्द्र भी भयभीत हो गया। इन्द्र ने सोचा - बलि अपने तेज से इन्द्रासन पर बैठ जायगा और मैं अपने पद भ्रष्ट हो जाऊँगा। यह सोचकर इन्द्र, विष्णु की शरण में गया। बोला—भगवान्, हमारी रक्षा कीजिए। दैत्य हमें सता रहे हैं वे हमारा राज्य छीनना चाहते हैं। विष्णु ने इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार करके

वामन (बोने) का रूप धारण किया। वे राजा बलि के द्वार पर जा पहुँचे। बलि बड़ा दानी था और साथ ही अभिमानी भी था। विष्णु ने उससे दान की याचना की। बली ने पूछा-क्या चाहते हो ?

वामन रूपधारी विष्णु बोले – रहने के लिए सिर्फ साढ़े तीन पैर धरती। बली ने उसके ५२ अंगुल के छोटे शरीर को देखकर हँसते-हँसते कहा - इतना ही क्या माँगा ? कुछ और भी माँग ले।

वामन– इतना मिल जायगा तो बहुत है।

बलि ने साढ़े तीन पैर ज़मीन देना स्वीकार कर लिया। तब विष्णु ने अपना वामन रूप त्याग कर विशाल रूप धारण किया। उन्होंने अपनी तीन लम्बी डगों में स्वर्ग नरक और पृथ्वी-तीनों लोक नाप लिये। इसके बाद बलि से कहा-तीन पैर तो हो गए, अब आधे पैर भर ज़मीन और दे।

बेचारा बलि चकित और भयभीत हो गया। वह और ज़मीन कहां से लाता ? वह अधिक ज़मीन न दे सका, तब विष्णु ने उसके सिर पर पैर रखकर दबाया तथा उसे पाताल में भेज दिया। इस प्रकार दैत्यों के उपद्रव को दबा कर विष्णु ने भारत को सुरक्षित किया।

जैनशास्त्रों में रक्षाबन्धन की कथा इस प्रकार है:—

विष्णु नामक मुनि बड़े ही तपस्वी और तेजस्वी थे। उनके समय में चक्रवर्ती राजा का राज्य था। राजा के प्रधान का नाम नमूची था। राजा ने वचनबद्ध होकर एक बार सात दिन के लिए राज्य के समस्त अधिकार नमूची को दे दिये। नमूची कट्टर नास्तिक और संतविरोधी था। उसे साधु शब्द से भी चिढ़ थी। वह साधुओं को भगाने लगा। साधु बड़े संकट में

पड़ गये। तब विष्णु कुमार मुनि नमूची के पास गये तथा बोले—अन्य साधुओं को अपने राज्य में रहने दो या न रहने दो। परन्तु मैं तो राजा का भाई हूँ। कम से कम मुझे रहने के लिए तो साढ़े तीन पैर ज़मीन दे दो।

नमूची—मैं साधुमात्र से घृणा करता हूँ। अपने राज्य में एक भी साधु को नहीं रहने देना चाहता। परन्तु तुम राजा के भाई हो। तुम्हें साढ़े तीन पैर ज़मीन देता हूँ।

विष्णु कुमार मुनि विक्रयालब्धि के धारक थे। जब नमूची ने साढ़े तीन पैर ज़मीन देने का वचन दे दिया तो उन्होंने अपने शरीर को बढ़ाकर तीन पैरों में ही तीनों लोक नाप लिये। आधा पैर ज़मीन न दे सकने के कारण नमूची को दंड दिया गया। इस प्रकार साधुओं का संकट दूर हुआ और भारत भर में खुशी मनाई गई।

दोनों कथाओं में बहुत समानता है। इन कथाओं से पता चलता है कि दूसरों की रक्षा के लिए ही इस त्यौहार का प्रचलन हुआ है।

वास्तव में रक्षा का बन्धन साधारण बन्धन नहीं है। रक्षा के बंधन में हाथ ही नहीं बंधता, वह प्राणों का बन्धन है, कर्त्तव्य का बंधन है और धर्म का बन्धन है। रक्षाबन्धन की पवित्रता को कायम रखने के लिए अनेक वीर पुरूषों ने अपने प्राणों को संकट में डाला है और प्राणों का बलिदान तक किया है। इतिहास में ऐसी अनेक कथाए प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक का सार यह है:—

नागौर के राजा पर एक बार यवन बादशाह ने चढ़ाई कर दी। राजा की पुत्री ने अपने पिता से पड़ौस के एक क्षत्रिय को राखी भेजने की आज्ञा मांगी। पड़ौसी क्षत्रिय के साथ

नागौर के राजा की शत्रुता थी। अतएव उसने कहा—बेटा, वहाँ राखी भेजना प्रथा है। वह क्षत्रिय मेरा विरोधी है। वह राखी का अपमान करेगा और हमारी सहायता नहीं करेगा। फिर भी राजकुमारी का आग्रह देखकर उसने राखी भेजने की स्वीकृति दे दी।

शत्रु की कन्या को राखी पाकर वह वीर क्षत्रिय सोच-विचार में पड़ गया कि राखी को स्वीकार करूँ या नहीं? अगर राखी को स्वीकार करता हूँ तो शत्रु की सहायता और रक्षा करनी होगी, नहीं स्वीकार करता हूँ तो राखी का अपमान होता है और मैं अपने कर्त्तव्य से च्युत होता हूँ। सोचने-विचारने के बाद क्षत्रिय ने राखी स्वीकार कर ली। बादशाह ने जब नागौर पर चढ़ाई की तब उस वीर क्षत्रिय ने राखी की पवित्रता को कायम रखने के लिए अपनी सेना के साथ बादशाह की सेना पर धावा बोल दिया।

बादशाह की फौज पराजित हुई। दोतरफा हमले को वह सहन नहीं कर सकी। नागौर-नरेश ने उस क्षत्रिय का उपकार माना। दोनों का विरोध मिट गया। नागौर-नरेश ने अपनी कन्या उस क्षत्रिय को ब्याह देने का विचार प्रकट किया। जब यह समाचार राजकुमारी ने सुना तो उसने कहा—वह मेरे भाई हैं। मैंने राखी भेजकर उन्हें अपना भाई बनाया है। भाई के साथ बहिन का विवाह कैसे हो सकता है?

इस प्रकार रक्षाबन्धन की बदौलत दो विरोधी राजवंश एकता और प्रेम के बन्धन में बंध गये। भारत के इतिहास में ऐसी अनेक घटनाएं प्रसिद्ध हैं। आज रक्षाबन्धन का रूप कुछ बिगड़ गया है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम रक्षाबन्धन के असली उद्देश्य को समझें और दूसरों के संकट को दूर करने

में सहायक हों। मनुष्यजीवन का बड़े से बड़ा लाभ सेवा, परोपकार और परदुःखमोचन में है।

卐

ललितांग-कुमार

लगभग सत्ताईस सौ वर्ष पहले की बात है। भारत वर्ष में, 'श्रीवास' नामक नगर था। उस नगर के राजा नरवाहन के पुत्र थे ललितांग।

राजकुमार ललितांग राजनिति के वेत्ता, विद्यावान् और बुद्धिमान् थे। धर्म के सुन्दर संस्कार वे पूर्वभव से ही लेकर आए थे, उनका हृदय अत्यन्त उदार था। अन्तःकरण में करूणा की लहरें उठती थी, दान शीलता उनका सामान्य स्वभाव बन गया था।

कुमार का एक' सज्जन, नामक मित्र था, जो गुणों से दुर्जन था। वह बड़ी ही धूर्तता से कुमार का मित्र बन गया था। सज्जन स्वभाव से ही कुमार के सद्गुणों का विरोधी था। कुमार जब दान देता तो वह मना करता और कहता–तुम्हारी यह दानशीलता ही किसी दिन तुम्हें ले डूबेगी। पर कुमार अपने विचार पर दृढ़ था कुमार का विश्वास था–अच्छे का फल अच्छा ही होता है। सज्जन कहता–'नहीं' अच्छे का फल बुरा होता है।

कुमार की दानवीरता की प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई थी प्रतिदिन कोई न कोई दीन–दुखिया उनके पास आया ही करता था। एक दिन कई दुखी जन ललितांग के पास आए। उन्होंने अपने दुःख की कथा कह सुनाई कुमार करूणा की मूर्ति थे। उनकी कष्ट-कथा सुनकर उनका कलेजा काँप उठा। अंगुली में से हीरे की अंगुठी निकाल कर उन्हें देदी।

'अच्छे का फल बुरा होता है' इस बात को प्रमाणित करने के लिए और कुमार को नीचा दिखाने के दिए सज्जन को अच्छा अवसर मिल गया। उसने राजा नरवाहन के पास जाकर और तिल को ताड़ बनाकर चुगली खाई। इस पर राजा ने कुमार को बुला कर डाँट-फटकार बतलाई एवं भविष्य में ऐसा न करने की सूचना कर दी। कुमार पितृभक्त थे। उन्होंने कहा-आपकी आज्ञा का यथासभव पालन करूंगा।

कुछ दित बोते। एक दिन कुमार सैर करने जा रहे थे। कि रास्ते में कुछ संकटग्रस्त लोगों ने उन्हें घेर लिया। पिताजी की आज्ञा का पालन करते हुए कुमार ने उनकी कुछ सहायता की, परन्तु वह पर्याप्त न थी। वे संतुष्ट न हुऐ। उन्होंने फिर आज़ीज़ी की। कुमार का कोमल दिल पिघल गया। उन्होंने गले से अपना मूल्यवान् हार निकाला और उनका दुःख दूर करने के लिए दान में दे दिया।

सज्जन उस समय भी साथ था। वह फिर राजा के पास पहुँचा। सब बात कह सुनाई। अपने आदेश का उल्लंघन समझ कर राजा ने ललितांग कुमार को देश निकाले का दंड घोषित कर दिया। पितृभक्त राजकुमार ने पिता की आज्ञा स्वीकार कर राज्य से बाहर जानें के लिए प्रस्थान कर दिया।

धूर्त्त सज्जन इस समय भी कुमार के साथ हो गया। चलते-चलते दोनों सुनसान वन में पहुंचे। तब सज्जन ने कहा कुमार, अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। अब भो अपनी पराजय स्वीकार करो, अपनी बात छोड़ो और मेरी वात मानो तो महाराज से मैं क्षमा-दान दिला सकता हूँ। अगर 'भले का भला और बुरे का बुरा परिणाम होता है' इस वात पर अब भी तुम्हारा विश्वास है तो चलो, किसी से निर्णय करवा लें। मगर शर्त

यह है कि तुम्हारी हार हुई तो अपना घोड़ा, आभूषण और वस्त्र आदि मेरे हवाले कर देने होंगे। बोलो, स्वीकार है ?

कुमार ने कहा—अवश्य। निर्णय करा लो।

दोनों आगे चले तो एक गाँव मिला वहाँ एक जगह दस पाँच आदमी बैठे गपशप कर रहे थे। सज्जन ने उनसे पूछा बताओ भाई, भले का परिणाम भला होता है या बुरा ?

बुरा-बुरा, सब एक साथ कह उठे।

कुमार—कैसे ?

एक बोला—देखो, एक बार हमारे राजा यहाँ आए। हमने हृदय खोलकर उनका स्वागत किया। अतएव उन्होंने हमें धनाढ्य समझ लिया। जाते—जाते हमारे खेतों पर लगान बढ़ा गये। इस प्रकार भलाई करने का बदला बुरा हुआ।

सज्जन जीत गया। शर्त के अनुसार कुमार ने अपना अश्व एवं आभूषण आदि उसे दे दिये। सज्जन घोड़े पर सवार हो गया और राजकुमार चरवाहे के रूप में उसके साथ चलने लगा। चलते-चलते भी सज्जन राजकुमार को ताने मारता जाता था। कुछ आगे चलकर उसने कहा-अब भी तुमने मेरे सिद्धान्त को स्वीकार किया या नहीं ? स्वीकार न किया हो तो एक बार फिर निर्णय करा डालें। मगर इस बार जो पराजित होगा, उसे अपने नेत्र निकाल कर दे देने होंगे।

राजकुमार ने कहा—सज्जन, मेरा विचार अब भी ज्यों का त्यों है। चाहो तो फिर निर्णय करा सकते हो।

इस प्रकार बातें करते—करते वे कुछ दूर जा पहुँचे। मार्ग में उन्हें एक विशाल वट वृक्ष मिला। उसकी छाया में कुछ लोग बैठ कर विश्राम कर रहे थे। सज्जन ने कहा—चलो इन्हीं से फैसला करवालें। दोनों वहीं ठहर गए।

आखिर उनके सामने भी वही प्रश्न रक्खा गया। उन्होंने अपना निर्णय दे दिया—'भले का बदला बुरा मिलता है।' निर्णय के साथ नजीर भी पेश की, अभी एक राजा यहाँ आया था। उसने इसी वट-वृक्ष की छाया में विश्राम किया। जाते समय उसने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि हाथी के लिए इसी वृक्ष के पत्ते तोड़ लाया करो।

कुमार को फिर पराजित होना पड़ा। सज्जन ने प्रतिज्ञा के अनुसार कुमार के दोनों नैत्रों की मांग की। इस वार की शर्त बड़ी कड़ी थी, पर सत्यनिष्ठ राजकुमार ने जरा भी आगा-पीछा न सोचकर एक पैने उस्तरे से दोनों नेत्र निकाल कर दे दिये। नेत्रों से रक्त की धारा बह निकली। पर कुमार ने अपने सत्य का पालन करने के लिए इसकी परवाह न की। धूर्त्त सज्जन ! कुमार को अंधा बनाकर चल दिया। जाते-जाते बोला-'अच्छा भाई, मैं जाता हूँ। तुम भलाई का बदला भला भोगते रहना।'

कुमार अब अकेला रह गया। निर्जन वन था। आँखों से सूझता नहीं था और ऊपर से पीड़ा हो रही थी। वह जाय तो कहाँ जाय ? करे तो क्या करे ? फिर भी सत्य की शक्ति पर उसे पूरा भरोसा था। वह सोचता था—सत्य भगवान् है। सत्य के रूप में मैंने भगवान् की अराधना की है। मुझे इसके लिए कोई पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए। वह धैर्य धारण किये उसी वट के नीचे बैठा रहा।

सन्ध्या हुई। सूर्य अस्ताचल पर आरूढ़ हुआ। हंसों का एक झुंड रात-बसेरा करने के लिए उसी वट-वृक्ष पर आकर वैठा। हंसों में एक युवक हंस था। उसने कहा—हम असली मोती चुगते हैं, परन्तु बदले में जगत् का क्या उपकार करते हैं ? कुछ भी तो नहीं। इस दृष्टि से हमारा जीवन निरर्थक है।

दूसरे वृद्ध हंस ने उत्तर दिया—ऐसी बात नहीं है। जानकार लोग हमारी वीट से बहुत लाभ उठा सकते हैं। इस पेड़ पर जो बेल लगी है, इसका रस निकाल कर उसमें हमारी वीट मिलाकर आंखों में आँजी जाय तो नेत्रहीन को नेत्र की प्राप्ति होती है। इससे जन्मान्ध भी दिव्य ज्योति प्राप्त कर सकता है। हमारी यह उपयोगिता कम नहीं है। कोई इससे लाभ ही न उठावे तो इसमें हमारा क्या अपराध है?

कुमार हंसों के इस वार्तालाप को सुन रहा था। उसने ज्यों-त्यों करके रात काटी। प्रातःकाल होने पर टटोल-टटोल कर उस लता और वीट की खोज की। दोनों चीजों को मिलाकर अंजन बनाया। उसे नेत्रों में आंजते ही कुमार को निर्मल ज्योति प्राप्त हो गई। कुमार के हर्ष का पार न रहा। उसे ज्योति क्या मिली, जीवन मिल गया!

कुमार को अब किसी प्रकार की चिन्ता न रही। वह उस निर्जन वन से चला और चम्पा नगरी में जा पहुँचा। उस समय चम्पा के राजा जितशत्रु थे। उनकी कन्या कुसुमती नेत्र-हीन थी। राज्य था, वैभव था, सभी सुख थे, पर कन्या की अन्धता ने उन सबको फीका कर दिया था। कुमारी जब छोटी थी तब तो चिन्ता भी मामूली थी, पर जब वह विवाह के योग्य हो गई तो चिन्ता भी बढ़ गई। राजा जितशत्रु ने इधर-उधर की खूब खाक छानी, सभी संभव प्रयत्न किए, अनेक प्रलोभन दिये, पर कोई भी योग्य युवक उस कन्या का पाणिग्रहण करने को तैयार नहीं हुआ। समग्र राजपरिवार घोर चिन्ता और अपमान की आग में जलने लगा। आखिर राजा ने विचार किया—यों पल-पल और तिल-तिल जलने की अपेक्षा तो एक साथ जल कर मर जाना ही क्या बुरा है? यह जलन जन्म भर मिटने की नहीं। यह सोचकर उसने जल मरने का विचार

किया। राजा के पीछे उसका सारा परिवार भी तैयार हो गया। कुटुम्बियों ने कहा—जब आप ही जीवित नहीं रहना चाहते तो हम जीवित रहकर क्या करेंगे ?

इस दुर्घटना को लेकर सारे नगर में कुहराम मच गया। जनता भयभीत होकर नगर छोड़-छोड़कर जाने लगी। ऐसे विकट प्रसंग पर राजकुमार ललितांग चम्पा में प्रवेश करने को उद्यत हो रहा था। कुछ लोगों ने उसे रोकते हुए कहा—अपनी खैर चाहते हो तो चम्पा में पैर न धरो। कल राजपरिवार अग्नि में प्रवेश कर भस्म हो जाएगा और नगर में अराजकता फैल जाएगी। लुच्चों और गुंडों की बन आएगी। भले आदमी की मौत ही समझो !

पर ललितांग कुमार ने लोगों की बात सुनी अनसुनी करके नगर में प्रवेश किया। उन्हें एक जन्मान्ध मालिन मिली। कुमार ने उसकी आंखों में वही अंजन आंजा। मालिन की आंखें खुल गईं। उसके चारों ओर सघन अंधकार का जो पर्दा पड़ा था, सहसा हट गया। उसे कौतुकमयी सृष्टि दिखाई देने लगी।

मालिन उसी समय रानी के पास दौड़ी गई। उसने अपनी कथा सुना कर औषध की अमोघता का प्रमाण उपस्थित किया। रानी के हृदय में आशा का संचार हुआ। वह उसी समय राजा के पास पहुँची और सब वृत्तान्त सुनाकर चम्पा में नये आए उस चिकित्सक को बुलाने का आग्रह करने लगी।

राजा का अन्तःकरण घोर निराशा से परिपूर्ण था। उसने लम्बी सांस खींच कर कहा—देश-विदेश के बड़े-बड़े चिकित्सक आए। उन्होंने चिकित्सा की, मगर किसी की कुशलता काम न आई। अब आवारा घूमते साधारण व्यक्ति से

क्या होना जाना है ! पर हानि कुछ नहीं है। वह भी अपना हौसला पूरा कर ले। तुम्हें भी सन्तोष हो जाय। अभी उसे बुलाता हूँ।

राजा ने उसी समय ललितांग कुमार को बुला लिया। कुमार ने राजकुमारी के नेत्रों में आँजन लगाया। थोड़ी ही देर हुई थी कि राजकुमारी ने आँखे मसल कर जो इधर उधर देखा तो उसे अपूर्व आलोक दिखाई दिया। उसके नेत्र कुन्दन बन गए। इस घटना से राजा-रानी को कितना आनन्द हुआ, कहा नहीं जा सकता। कुमारी के साथ सभी को नूतन जीवन प्राप्त हो गया। हर्ष और विस्मय की ऊँची-ऊँची लहरें लहराने लगी। जिसने यह संवाद सुना, चकित रह गया !

कुमार ललितांग अपनी उसी मुद्रा में था। उसे न हर्ष था, न विषाद था। शान्त, गंभीर और विनम्र भाव उसके मुखमण्डल पर चमक रहा था। जब कुमारी पूर्ण रूप से सूझती हो गई तो उसने अपना काम पूर्ण हुआ समझ वहाँ से चलने का उपक्रम किया। यह देख राजा जितशत्रु ने ललितांग का का हाथ पकड़ कर अपने पास बिठला लिया और अत्यन्त प्रेम-पूर्ण शब्दों में उसका आभार माना। मगर राजा शाब्दिक आभार मानकर ही नहीं रह गया। उसने ललितांग को अपना जामाता बनाने का निश्चय कर लिया। उसी दिन राजकुमारी कुसुमवती का विवाह कर दिया गया।

यह घटना भी हमें यही बतलाती है कि प्राचीनकाल में गुणपूजा की प्रधानता थी। ऐसा न होता तो अज्ञात-कुल ललितांग को राजा जितशत्रु कैसे अपनी कन्या दे देता ?

राजा जितशत्रु ने दहेज के रूप में अपना आधा राज्य देकर ललितांग कुमार को अपनी बराबरी का बना लिया !

कितनी उदारता पूर्ण और समझदारी से भरी प्रथा थी उस समय !

राजकुमार अपने देश से निर्वासित किये गये थे, परन्तु अपनी परोपकारमयी भावना के कारण दूर देश में आकर भी राजा बन गए। उनके दिन आनन्द में व्यतीत होने लगे।

उधर राजकुमार का मित्र सज्जन अपनी करनी का फल भुगतने लगा। निर्धनता से ग्रस्त होकर उसे भीख माँग-माँग कर अपना पेट पालने के लिए विवश होना पड़ा। नगर में भीख मिलना कठिन हो गया तो बाहर फिरने लगा। फिरते-फिरते एक दिन वह ललितांग की नगरी में आ पहुँचा। अकस्मात् ललितांग कुमार की दृष्टि उस पर पड़ गई। उसने सज्जन को तत्काल पहचान लिया। दयालु और परोपकारी ललितांग ने उसे अपने पास बुलाया।

सज्जन अपने ख़याल से ललितांग के प्राण ले चुका था। वह समझता था कि सुनसान वन में नयन-विहीन ललितांग क्या जिंदा बचा होगा ! परन्तु उसने राजसीवेशभूषा में उसे देखा तो उसके भय और आश्चर्य की सीमा न रही। कुमार को देखकर वह हड़बड़ा गया। लज्जा से उसका मस्तक झुक गया। उसने कहा—मित्रवर, आपकी उदारता, महानुभावता और विचारों की दृढ़ता धन्य है ! मैंने मुर्खतावश आपके सिद्धान्त की अवहेलना की। अब मुझे अपनी भूल मालूम हो चुकी है। मैं आप ही अपनी भूल का प्रत्यक्ष प्रमाण हूँ। 'भले का फल भला ही होता है,' यह बात आपके जीवन से सिद्ध हो गई है। मैं अपनी करतूत का फल भुगत रहा हूँ। मैं आपके साथ दुर्व्यवहार करके जब घर की ओर लौट रहा था, तभी रास्ते में लुट गया। खूब मार पड़ी। आज मुझे भीख माँगने पर भी भरपेट

रोटियाँ नहीं मिलती !

सज्जन की आँखों से आँसुओं की वर्षा होने लगी। यद्यपि वह कुमार के प्रति जघन्य से जघन्य व्यवहार कर चुका था और कोई दूसरा होता तो उसे पाकर शूली पर चढ़वा देता, पर कुमार तो अत्यन्त दयालु था। वह अन्तःकरण से मानता था कि बुरे का बदला बुरा और भले का बदला भला ही होता है ! अतएव उसने सज्जन से अपने प्रति किये व्यवहार का बदला न लेना ही उचित समझा। यही नहीं, उसने क्षमादान देकर सज्जन को अपने पास रख लिया।

कुछ दिन पश्चात् सज्जन की दुर्जनता फिर जाग उठी। कुमार के प्रति उसके अन्तःकरण में ईर्षा का भाव जागृत हो उठा। अवसर पाकर वह एक दिन राजा जितशत्रु से बोला—महाराज, आपके जामाता ललितांग, मुझसे जो स्नेह रखते हैं, उसका प्रधान कारण यही भय है कि कहीं उनके पापों का भंडा न फूट जाय ! असली राजकुमार मैं हूँ। वह मेरे चरवाहे हैं ! विधि की विडम्बना से आज सब उलट पुलट हो गया है !

इस प्रकार की अनेक बातें कहकर सज्जन ने राजा को भड़का दिया। उसने यह भी कहा कि कुमार षड्यन्त्र रच रहा है और शीघ्र ही आपको अपने रास्ते से हटा कर सम्पूर्ण राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लेगा।

दुर्जन सज्जन की बातों में आकर जितशत्रु ने सोच-विचार किये बिना ही निर्णय कर लिया। उसने जल्लादों को बुलाकर आज्ञा दी—देखो आज रात को ११ बजे ललितांग को मैं अपने पास बुलाऊँगा। तुम लोग रास्ते में तैयार रहना। एकदम ही उसका सिर उड़ा देना। और याद रखना कि इस रहस्य का किसी को पता न चलने पाये। पता चल गया तो तुम्हारे सिर की खैर नहीं !

राजा की आज्ञा के अनुसार कुमार के कत्ल का प्रबंध हो गया। संध्या बीती और रात्री हुई। ठीक ग्यारह बजे एक राजकीय पुरूष ने आकर कुमार से कहा—कुमार की जय हो ? महाराज ने आप इसी समय याद किया है। कृपा करके मेरे ही साथ पधारिये।

अकस्मात् प्राप्त हुए इस आदेश को सुनकर कुमार दुविधा में पड़ गया। वह समझ न सका कि इतनी रात बीते ऐसा क्या अनिवार्य कार्य हो सकता है ? अतएव कुमार ने सज्जन से कहा भाई, जरा महाराज के पास जाओ। निवेदन करना कि मैं अभी उपस्थित होता हूँ। यह भी ज्ञात करना कि इस समय किस उद्देश्य से महाराज ने मुझे याद किया है ?

सज्जन मन ही मन में प्रसन्न हो रहा था। उसे आभास हो गया था कि मैं ने जो बीज बोया है, उसका ही यह अंकुर उग रहा है। अतएव वह अत्यन्त प्रसन्नता के साथ आगत राजकीय पुरुष के साथ चल दिया। रास्ते में पूर्व निश्चय के अनुसार, उसी को राजकुमार समझ कर जल्लादों ने मौत के घाट उतार दिया। कुमार के विषय में यह कहावत पूरी तरह चरितार्थ हुई कि :—

जाको राखे साइयाँ, मार सके नहिं कोय।

अपने धर्म का पालन करने के लिए कुमार ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी। वास्तव में जो अपने प्राणों को तुच्छ समझ कर धर्म की रक्षा करते हैं, धर्म उनकी रक्षा अवश्य करता है। कहा है :—

तेरेलिए प्राण तजे जिन्होंने,
टूटा उन्हीं का यमराज—पाश।
रक्षा सदा जो करता तिहारो,
तू भी बचाता उनको दुखों से ॥

आराधना निर्मल चित्त में जो,
पाते वही जीवन-लाभ पूरा।
जो मूढ़-भो हैं करते विनाश,
होता उन्हीं का जग में विनाश ॥

जो धर्म की रक्षा करते हैं, धर्म उनकी रक्षा करता है और जो धर्म का विनाश करते हैं, उन्हीं का विनाश हो जाता है। इस कथन की सचाई का प्रत्यक्ष प्रमाण यहाँ मिल गया। कुमार ललितांग के धर्म ने उसके प्राण बचा लिए और सज्जन का अधर्म उसे ले डूबा ! वह कुमार के लिए गड़हा खोदने को तैयार हुआ तो उसके लिए कूप तैयार हो गया ! वास्तव में सज्जन की दुर्जनता परांकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। उसने अपने आपको भयानक से भयानक दंड का पात्र बना लिया था और वही दंड उसे मिल गया।

मगर इस घटना का तात्कालिक फल विपरीत निकला राजा को जब पता चला कि कुमार ललितांग सुरक्षित बच गया है और सज्जन मारा गया है तो उसके क्रोध का पार रहा। उसने सोचा-कुमार वास्तव में बड़ा जालसाज़ है और उसकी उपेक्षा करना मेरे हक में हानिकारक होगा। अतएव खुले रूप में कमार का विरोध करके उसे कुचल देना ही योग्य है।

कुमार के अन्तःकरण में लेश मात्र भी कुविचार या कपट नहीं था। मगर जब उसे राजा के षड्यंत्र का पता चला तो वह चकित रह गया। राजा सेना के साथ युद्ध करने को तैयार हो गया था ; अतएव कुमार का क्षात्र तेज भी जाग उठा। उसने भो तत्काल अपनी सेना को सुसज्जित होने का आदेश दिया।

दिवान को इस युद्ध का पता चला तो वह भागा-भागा राजा के पास आया। राजा ने कहा-एक चरवाहे को मैंने अपना जामाता बनाया और आधा राज्य देकर बराबरी का पद दिया ! मगर वही आज मेरा सारा राज्य हड़प लेना चाहता है ! मैं उसके अरमानों को पल भर में कुचल दूंगा !

दिवान दूरदर्शी था और कुमार के उच्च चरित्र को भलीभाँति जानता था। उसने कहा-अन्नदाता ! कुमार की दुरभिसन्धि को अवश्य कुचल ना चाहिये; पर क्या आपको इसके लिए प्रमाण मिल गया है ?

राजा—हाँ, उसके मृत घनिष्ट मित्र ने ही सब कुछ बतलाया है।

दीवान—महाराज ?

अन्तर अंगुरी चार को साँच-झूठ में होइ।

सबमाने देखी-कहीं, सुनी न माने कोइ।

यों सुनी बातों के आधार पर गृह-विग्रह छेड़ देना योग्य नहीं जान पड़ता। पहले पूरी तरह छानबीन कर लेना उचित है। कहीं ऐसा न हों कि आपकी विजय भी पराजय के रूप में परिणित हो जाय ! सज्जन को विश्वास पात्र व्यक्ति कैसे समझा जा सकता है ? आज तक कुमार के किसी भी आचरण से विरोध का भाव प्रकट नहीं हुआ। वह आपके प्रति अत्यन्त आदरपूर्ण भाव रखते हैं। तथापि नये सिरे से जाँच कर लेनी चाहिये।

दीवान की बात राजा के गले उतर गई। जाँच-पड़ताल का काम दीवान को सौंपा गया। परिणाम वही आया जो आना चाहिए था। कुमार सर्वथा निर्दोष सिद्ध हुआ। यह भी पता चल गया कि वह चरवाह नहीं, श्री निवास वस्ती के

महाराज नरवाहन के ज्येष्ठ पुत्र हैं। दीवान ने जब महाराज जितशत्रु को अपनी जाँच-पड़ताल का परिणाम बतलाया तो उन्हें अपार हर्ष हुआ। साथ ही वह अपने भाग्य की सराहना करने लगे कि उनका षड्यंत्र विफल हो गया! कदाचित् सज्जन के कथन से उत्पन्न हुए भ्रम के कारण कुमार को प्राण दण्ड मिल गया होता तो कितना भीषण अनर्थ हो जाता! वह अपनी प्राण प्यारी पुत्री के वैधव्य के तथा निर्दोष और उपकारी जामाता की हत्या के कारण बन जाते? जीवन कलंकित हो जाता?

अन्त में ललितांग कुमार के पिता और स्वसुर का सम्मिलन हुआ दोनों ने कुमार को योग्य जानकर-दोनों राज्यों का अधिपति बनाया और आप निवृत्तिमार्ग के पथिक बने। कुमार ने कुछ दिनों तक दोनों राज्यों का न्याय-नीतिपूर्वक पालन किया। आखिर उन्हें भी एक दिन बैराग्य हो गया। उन्होंने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना उत्तरदायित्व सँभला कर आत्मा के अक्षय कल्याण का पथ ग्रहण किया।

ललिताँग की कथा का अक्षर-अक्षर पुकार कर कह रहा था।

(१) जीवन का वास्तविक सुख दान और परोपकार करके दूसरों को सुखी बनाने में है।

(२) तत्काल चाहे कुछ भी जान पड़े मगर इसमें सन्देह नहीं कि भलाई का फल भलाई और बुराई का फल बुराई है। जैसे अमृत से मृत्यु नहीं हो सकती, उसी प्रकार भलाई का फल बुरा नहीं हो सकता।

(३) सुनी-सुनाई बात पर विश्वास करके उत्तेजित मत होओ सोभाग्य से तुम्हें बुद्धि प्राप्त है, उसका उपयोग करो। अपने विवेक को उत्तेजना की आग में भस्म मत होने दो।

(४) सांसारिक वासनाएँ कभी शाश्वत आनन्द नहीं दे सकतीं। अक्षय आनन्द चाहते हो तो वासनाओं पर विजय प्राप्त करो। वासनाओं को जीतने का मार्ग वही है जिस पर तीर्थंकर चले हैं, अर्थात् गार्हस्थिक झंझटों से हट कर एकान्त रूप से आत्मासाधना करना !

मानवजीवन के उत्कर्ष के यह चार सूत्र जो ध्यान में रक्खेगा वही अपने जीवन को सफल बना सकेगा।

卐

वन्दना

प्रत्येक श्रावक और साधु के लिए भगवान् ने छह नित्य-कृत्य बतलाये हैं। उन्हें षट् आवश्यक भी कहते हैं। यह षट् आवश्यक, यदि भावपूर्वक किये जाएँ तो, जीवन को अत्यन्त उन्नत, पवित्र और मंगलमय बनाते हैं। जीवन की शुद्धि के लिए इनसे बढ़ कर अन्य कोई मार्ग नहीं हो सकता।

वन्दना उन छह आवश्यक कृत्यों में तीसरा है। अपने से अधिक गुणवान् पुरुषों को भक्तिपूर्वक नमस्कार करना वन्दना कहलाता है। वन्दना इस बात का संकेत है कि हम वन्दनीय पुरुष के गुणों के प्रति निष्ठा रखते हैं, उनका आदर करते हैं, उन्हें अपने लिए हितकर समझते हैं। वन्दना करते समय यही भावना होनी चाहिए कि हमारे अन्तरात्मा में भी वेही गुण प्रकट हो जाएँ !

वन्दना करने से क्या लाभ होते हैं ? गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर स्वामी ने स्वयं बतलाया है:—

'वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं निबन्धइ। सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ। दाहिणभावं च जणयइ।'

—उत्तराध्ययन, अ० २९

अर्थात् (गुणाधिक पुरुषों को) वन्दना करने से जीव नीचगोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्र का उपार्जन करता है और अप्रतिहत सौभाग्य को प्राप्त करता है; दाक्षिण्य भाव का लाभ करता है।

वन्दना करने से अन्तःकरण की अभिमानवृत्ति नष्ट होती है और चित्त में नम्रता का प्रादुर्भाव होता है। गुणी जनों का आशीर्वाद प्राप्त होने से कल्याण की प्राप्ति होती है। अतएव भावपूर्वक गुणाधिक पुरुषों को वन्दना करना चाहिए।

卐

शरण (मेघ मुनि)

राजगृह (मगध) के सम्राट् श्रेणिक का नाम अत्यन्त विख्यात है। वह अपने अन्तिम जीवन-काल में भगवान् महावीर के परमभक्त हो गये थे। उनकी अनेक रानियाँ थी। उनमें से एक रानी का नाम धारिणी था।

महारानी धारिणी ने एक रात्रि में सुन्दर शय्या पर शयन करते हुए एक शुभ स्वप्न देखा। स्वप्न देखते ही उनकी निद्रा भंग हो गई। उसी समय वह महाराजा श्रेणिक के समीप गईं। स्वप्न का वृत्तान्त बतलाने पर श्रेणिक ने कहा—'प्रिये! तुम्हारा स्वप्न अतिशय शुभ फलदायक है!' अपने पति के मुख से स्वप्न का यह फल सुनकर रानी को अत्यन्त आनन्द हुआ।

महारानी धारिणी ने वह रात्रि, उसके बाद, जागकर ही व्यतीत की। यथासमय रानी गर्भवती हुई। गर्भावस्था में वह अपने आहार-विहार में अत्यन्त सावधान रहने लगी। उसने ज्यादा मीठा, ज्यादा खट्टा, ज्यादा चरपरा, गरिष्ठ-दुष्पच आहार करना त्याग दिया। गर्भ के लिए हितकारी पथ्य भोजन करने लगी। चिन्ता, शोक, उद्वेग, सन्ताप, भय आदि मानसिक विकारों को भी धारिणी ने त्याग दिया। वह शान्त प्रसन्न एवं शुभ मनोदशा में रहकर अपने गर्भ की प्रतिपालना करने लगी। रानी को भली-भाँति ज्ञात था कि अपथ्य आहार करने से तथा मानसिक विकारों के वशीभूत होने से गर्भस्थ शिशु पर बुरा प्रभाव पड़ता है। शिशु के जीवन का बहुत-सा निर्माण गर्भ-अवस्था में ही हो जाता है। गर्भिणी महिला यदि सावधान न रहे और विवेकपूर्वक गर्भ की यतना से रक्षा न करे तो गर्भस्थ शिशु का सम्पूर्ण जीवन खराब हो जाता है।

कुछ दिनों पश्चात् रानी धारिणी को अकाल में ही मेघ बरसने के और हरियाली के दृश्य देखने का दोहद हुआ। परन्तु वर्षा ऋतु न होने के कारण उसकी पूर्ति होना कठिन था। इच्छा की पूर्त्ति न की जाय तो शिशु के जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता था। मगर महाराज श्रेणिक के अत्यन्त बुद्धिशाली पुत्र अभयकुमार की कुशलता से किसी प्रकार उनकी वह इच्छा भी पूरी हो गई।

समय पूर्ण होने पर धारिणी देवी ने पुत्र-रत्न का प्रसव किया। मेघ का दोहद होने के कारण पुत्र का नाम 'मेघकुमार' ही रक्खा गया। मेघकुमार सूर्य के समान प्रतापशाली, चन्द्रमा के समान सौम्य और बृहस्पति के समान बुद्धिमान था। तत्का-लीन प्रथा के अनुसार मेघ कुमार ने समस्त कलाओं में कौशल

प्राप्त कर लिया। उस समय शिक्षा को समाप्ति हो जाने के पश्चात् ही विवाह-संस्कार होता था। तदनुसार मेघ कुमार का विवाह भी धूमधाम से हो गया।

कुमार को संसार के सभी सुख सुलभ थे। मगध के राजकुमार को कमी किस चीज़ की हो सकती थी? किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। कोई विशेष उत्तरदायित्व सिर पर नहीं था। निश्चिन्त भाव से आमोद-प्रमोद करने में ही कुमार का समय व्यतीत हो रहा था।

इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात एक दिन महाप्रभु महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ। उस समय के लोगों का कितना सौभाग्य था कि उन्हें तीर्थंकर देव की सुधामयी वाणी श्रवण करने का तथा उनके दर्शन करने का परम दुर्लभ अवसर प्राप्त था। भगवान् के पदार्पण का संवाद पाते ही जनता में अपूर्व उल्लास और आनन्द फैल गया। नागरिकों के चित में धर्मभाव की उत्ताल तरंगें तरंगित होने लगी। लोग अपने भाग्य की सराहना करने लगे। झुन्ड के झुन्ड बना कर नर-नारी भगवान् की उपासना के लिए चल दिये। प्रभु की दिव्य ध्वनि श्रोताओं के कानों में पड़ी और उनकी अन्तरात्मा शीतल हो गई।

एक दिन राजकुमार मेघ भी भगवान् का उपदेश सुनने गये। भगवान् स्वयं वीतरागता की मूर्ति थे। उनके चेहरे पर झलकने वाली वीतराग छवी दर्शकों के मन मोहित किये बिना नहीं रहती थी। फिर वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। उनकी वाणी में भी अद्भुत विशेषतायें थी। यह मिलकर अपूर्व प्रभाव डालती थी।

मेघ कुमार धर्म के संस्कार लेकर ही उत्पन्न हुऐ थे।

ऊपर से साक्षात् तीर्थंकर देव का उपदेश मिल गया। उनके हृदय में सुषुप्त विरक्ति एकदम जागृत हो गई। उन्होंने आत्मा के बन्धनों को तोड़ फैंकने का निश्चय कर लिया। क्षणिक और परिणाम में दारूण दुःख देने वाले विषय भोगों से उन्हें घृणा हो गई। आत्मा राम में रमण करने का अप्राप्तपूर्व आनन्द पाने के लिए उनका हृदय मचल पड़ा। उन्होंने राज्यमहल में आकर माता-पिता आदि की अनुमति प्राप्त की और जगत् के विराट वैभव से विमुख होकर अकिंचन अनगार अवस्था अंगीकार करने की प्रार्थना की। भगवान् ने उन्हें सुपात्र समझ कर दीक्षित किया और मोक्ष-मार्ग का पथिक बना दिया।

मेघ कुमार राजकुमार न रह कर मुनि बन गये। मुनि बनने का अर्थ है- नवीन जीवन आरंभ करना। संसार-व्यवहार में धन-सम्पत्ति को प्रमुखता दी जाती है, पर मुनिजीवन तो उसके त्याग पर निर्भर है। अतएव धन के आधार वहाँ कोई वर्गीकरण नहीं होता, मुनियों के जगत् में पूर्ण साम्यवाद प्रचलित है। आज का दीक्षित चक्रवर्त्ती भी कल दीक्षित हुए, दरीद्र कुल से निष्क्रान्त मुनि के चरणों का स्पर्श करके मस्तक नमाता है। हीरा, माणिक मोती आदि रत्नों की वहाँ कोई पूछ नहीं। वह पाषाण के खण्ड समझे जाकर उपेक्षणीय होते हैं। वहाँ आदर होता है दूसरे ही प्रकार के रत्नों का। वह रत्न हैं—सम्यक्, दर्शन, ज्ञान और चारित्र। साधु-संसार के यही तीन रत्न हैं। यह रत्न जिसके पास जितने अधिक परिमाण में है, वह उतना ही वड़ा रात्निक—रत्नों का स्वामी—है। यही आदर-सत्कार का पैमाना है। इन्हीं रत्नों के कारण वहाँ प्रतिभा मिलती है।

मेघकुमार किस कुल से आये हैं, यह वात नगण्य थी। वह कल क्या थे, इससे क्या प्रयोजन ? सम्राट् के लाडले वेटे थे तो भले थे मुख्य प्रश्न यह है कि वह इस समय क्या हैं ?

मुनि की महत्ता उसे पूर्व जीवन में निहीत नहीं है। अपने गृहस्थजीवन का स्मरण करना भी मुनि के लिए निषिद्ध है। वह सम्राट था, राजा था, सेठ था, सेनापति था राज्य का अमात्य था, यह बात उसे भूल जानी चाहिए। उसके समक्ष एक–केवल एक मात्र–ध्येय यह रहना चाहिए कि उसे भविष्य में क्या बनना है ? अपने भूत जीवन को विस्मृत करके, भविष्य के लक्ष्य को अपनी दृष्टि के सन्मुख रखकर जो वर्त्तमान को साधना में विलीन कर देता है, वही अपने लक्ष्य को पाता है।

हाँ, तो मेघ मुनि सम्राट के कुमार थे; मगर इस हैसियत से उन के साथ कोई व्यवहार नहीं किया जा सकता था। तीर्थंकर भगवान् के शासन में अमीर–गरीब का का भेद नहीं है। उन्होंने तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया है—हे अनगार; तू धनवान् को जैसा उपदेश देता है, निर्धन को भी वैसा ही दे; और निर्धनों जैसा उपदेश देता है वैसा ही धनवान् को भी दे।

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थई, तहा पुण्णस्स कत्थइ

—श्रीमदाचारांग सूत्र,

(२)

मुनि-जीवन की पहली रात्रि थी। सोने के लिए मुनियों का स्थान दीक्षा में छोटे-बड़े के क्रम से निर्धारित था। तदनुसार मेघ मुनि की बारी अन्त में आई। द्वार के समीप उन्हें शयन करने को स्थान मिला। रात्रि के समय मुनियों का आवागमन उसी द्वार से होता रहा। कई बार अन्धकार के कारण मेघ-मुनि के शरीर को ठोकर भी लगी। निद्रा में व्याघात हुआ। पैरों की धूल भी उनके शरीर पर गिरी। इन कारणों से मेघ मुनि रात भर सो न पाये।

पुष्प—शय्या पर शयन करने वाला कल का सुकुमार राजकुमार एक ही रात्रि में घबरा उठे। उन्हें अपनी दुग्ध-फेन के समान उज्ज्वल, नवनीत के समान मृदुल और सुखदायी सेज की स्मृति हो आई। सोचने लगे—जहाँ एक रात काटना कठिन हो रहा है, वहाँ इतनी लम्बी जिन्दगी किस प्रकार कटेगी? राजकुमार अवस्था में मेरा कितना मान-सन्मान था! सैकड़ों दास-दासियाँ मेरे इशारे पर नाचते थे। मुनिजन भी 'राज-कुमार' समझ कर मेरे साथ विशेष प्रकार का व्यवहार करते थे। आज मुनि बनते ही मानों मैं कुछ भी नहीं रह गया! मेरी कोई हैसियत ही नहीं! आज मैं सेवक से भो बदतर अवस्था में दरवाजे पर पड़ाहूँ! मुनियों के पैरों की ठोकरें खा रहा हूँ!

मुनि का वैराग्य उड़ गया। वह सोचने लगे—यह 'प्रथम-ग्रासे मक्षिकापातः' अच्छा ही हुआ। शीघ्र ही मुझे असली स्थिति का पता चल गया! अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। प्रातः-काल होते ही यह भाण्डोपकरण भगवान् के चरणों में रख दूँगा और उनकी अनुमति लेकर घर चल दूँगा। मेघ मुनि ने इस प्रकार निश्चय करके ज्यों-त्यों वह रात्रि व्यतीत की।

प्रातःकाल हुआ। अपने निश्चय के अनुसार मेघ मुनि भगवान् के निकट पहुँचे। भगवान् अन्तर्यामी ठहरे! उन्होंने मेघ मुनि के भावों को, उनकी कठिनाइयों को और उनके संकल्प को अपने लोकोत्तर ज्ञान के द्वारा उसी समय जान लिया था। उन्हें ज्ञात ही था कि नवदीक्षित मुनि रात में परेशान होकर आने वाले हैं!

मेघ मुनि आवेश में भगवान् के समक्ष आ तो गये, परन्तु सहसा बोल कुछ न सके। लज्जा और संकोच ने उन्हें मूक बना दिया था। उसी समय भगवान् ने फर्माया—मेघ! एक ही

रात्रि की नगण्य-सी व्यथा से घबरा गये ? अपने पूर्व जन्म को भूल गये ?

मेघ मुनि—भन्ते ! मैं सचमुच अपना पूर्व भव भूल गया हूँ। अनुग्रह करके आप बतलाइए।

भगवान्—हाँ, पर शान्त और स्थिर चित्त करके सुनो।

मेघ—तथ्य प्रभो !

भगवान्—पूर्वभव में तुम हाथी थे। सात सौ हथनियां तुम्हारे साथ थी। गंगा के तट का बीहड़ वन ही तुम्हारा निवास-स्थान था। जिस वन में तुम बसे थे, वह बांसों का वन था। प्रतिवर्ष गर्मी की ऋतु आती और तेज आँधी चलती। बांस आपस में टकराते और उनकी रगड़ से आग पैदा होती। वह आग दावानल का रूप धारण करती। उस समय तुम्हें अपने प्राणों की रक्षा करना कठिन हो जाता। तुम्हारा परिवार भी अत्यन्त परेशान और दुखी होता।

बार-बार के इस संकट ने तुम्हारे हृदय में एक नवीन कल्पना उत्पन्न कर दी। तुमने सदा के लिए संकट दूर कर देने का संकल्प किया। गंगा के तट के समीप शील वाली ज़मीन की खोज की। तत्पश्चात् अपनी सूंड से तथा पैरों से चार कोस लम्बी-चौड़ी उस भूमि की सफाई की। उसमें जो भी झाड़-झंखाड़ थे, उखाड़ कर फेंक दिये। तुमने और तुम्हारे परिवार ने सूंडों में पानी भर-भर उस भूमि पर छिड़का और पैरों से दबा-दबा कर पक्का किया। तुम्हारे इस प्रयत्न से वह मैदान साफ-सुथरा और समतल हो गया। उसमें वृक्ष या लता का नाम-निशान न रहा। वहाँ आग फैलने की कोई संभावना नहीं रही।

ग्रीष्म ऋतु आने पर फिर दावानल भभक उठा। तब तुम अपने परिवार के साथ उसी मैदान में आकर खड़े हो गए।

आग की लपटों से अपने प्राण बचाने के लिए उस जंगल के अन्यान्य जीवधारी भी उसी मंडल-गोलाकार मैदान-में आ गए। मंडल वन्य प्राणियों से खचाखच भर गया। सिंह, हिरन आदि जन्म के विरोधी प्राणी भी वैर भूलकर प्राणरक्षा के लिए वहाँ इकट्ठे हो गए। तिल धरने को जगह खाली न रही।

बाद में एक खरगोश आया। पर उसे खड़े होने के लिए कहीं जगह न थी। तुमने अपना अंग खुजाने के लिए एक पैर ऊँचा किया। बस, वहीं खाली जगह देखकर खरगोश, आकर खड़ा हो गया! शरीर खुजा लेने के पश्चात् जब तुम पैर ज़मीन पर टेकने लगे तो देखा कि यहां खरगोश आकर जम गया है। पैर धरते ही उसका कचूमर बन जाता! तुम्हारे अन्तःकरण में करुणा का संचार हुआ। यह नहीं सोचा कि मैंने अत्यन्त कष्ट सहन करके भूमि तैयार की और मुझको ही चार पैर रखने की जगह नहीं मिल रही है! नहीं, ऐसा क्षुद्र विचार तुमने नहीं किया। वरन् खरगोश की प्राणरक्षा के लिए तुमने अपना वह पैर ऊपर ही लटकाए रक्खा।

दावानल सुलगता है तो जल्दी ही समाप्त नहीं हो जाता। कई दिनों के बाद उसकी समाप्ति होती है। इधर अपने भारी-भरकम शरीर को तीन पैरों पर संभाले रहना कोई साधारण बात नहीं थी। खरगोश उस जगह से हटता नहीं था और चौथा पैर धरने के लिए स्थान नहीं था। आखिर तीन दिन इसी प्रकार व्यतीत हुए। अत्यन्त कष्ट के साथ तुम खरगोश की रक्षा के विचार से तीन ही पैरों पर खड़े रहे। उस समय करुणा की शीतल और विमल लहरें तुम्हारे चित्त को अतिशय पावन बना रही थीं।

धीरे-धीरे आग शान्त हुई और मंडल में आये जीव-जन्तु खिसकने लगे। स्थान रिक्त होते ही खरगोश भी चलता बना।

उसके जाने के पश्चात् तुमने अपना पांव नीचे ज़मीन पर टेकने की चेष्टा की। किन्तु तीन दिन तक एक-सा अधर रहने के कारण पैर में खून का संचार नहीं हुआ था। अतएव पैर अकड़ गया और ज़मीन पर न टिक सका। तब निरुपाय होकर तुम फिर तीन पैरों के सहारे खड़े रहे। मगर यह स्थिति कहां तक बनी रह सकती थी? आखिर तुम अपने स्थूल शरीर को न संभाल सके और धड़ाम से धरती पर गिर पड़े।

एक ख़रगोश के प्राण बचाने की प्रशस्त एवं पुण्यमयी भावना से प्रेरित होकर तुमने अपने प्राणों को संकट में डाल दिया। फिर भी तुम्हारे चित्त में मलीनता नहीं आई। हृदय की उदारता, विशुद्धता और करूणा ने आत्मा को पवित्र बना दिया। अत्यन्त शुभ परिणामों के साथ, उस वेदना को सहन करते-करते तुम्हारे प्राणों का अन्त हो गया। हे मेघ! इस पुण्य के प्रभाव से तुम हाथी का शरीर त्याग कर सम्राट् श्रेणिक के पुत्र रूप में जन्मे। तुम्हें संसार की श्रेष्ठ से श्रेष्ठ विभूति प्राप्त हुई। यह जीवदया का ही प्रताप था। जीवदया के लिए सहन किया हुआ कष्ट व्यर्थ नहीं गया। समय पर उसने विशाल फल प्रदान किया।

मुनि! यह तुम्हारे पूर्व-जीवन का संक्षिप्त बृत्तान्त है। इसे जान कर उस कष्ट की और इस कष्ट की तुलना करो। देखो, वह कष्ट बड़ा था या यह कष्ट बड़ा है? अगर यह कष्ट छोटा प्रतीत होता हो तो अपनी व्याकुलता दूर करके शान्त और स्वस्थ बनो। कदाचित् इस कष्ट को बड़ा समझते हो तो यह विचार करो कि जब छोटा-सा कष्ट सहन करने से इतना बड़ा लाभ हुआ तो बड़ा कष्ट सहन करने से और भी महान् फल की प्राप्ति होगी। स्मरण रक्खो:—

देहदुक्खं महाफलं।

विवेकपूर्वक, महान् और विशुद्ध उद्देश्य की सिद्धि के लिए जो कष्ट सहन किया जाता है, वह महान् फल का दायक होता है।

भगवान् के मुख से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर मेघ कुमार की विचिकित्सा दूर हो गई। हृदय में जो कातरभाव उत्पन्न हुआ था, सहसा विलीन हो गया। यही नहीं, उन्हें दुःख और कष्ट हेय की जगह उपादेय प्रतीत होने लगे। मन संयम में स्थिर हो गया। उनके परिणामों की धारा और भी निर्मल हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि विचार करते-करते उन्हें जातिस्मरण की प्राप्ति हुई। जातिस्मरण ज्ञान के आलोक में उन्हें अपने पूर्वभव का वृत्तान्त, इस भव के वृत्तान्त की भाँति स्मरण हो आया। तब हाथ जोड़ कर अत्यन्त विनीत भाव से मेघ मुनि बोले—भगवन् ! मेरी मानसिक दुर्बलता के लिए क्षमा कीजिए आपने पूर्व वृत्तान्त बतलाकर मेरा महान् उपकार किया। मुझे उससे बोध की प्राप्ति हुई है। अब मेरा चित स्वस्थ और शान्त है। संयम त्यागने की इच्छा नहीं रही। अब कभी ऐसे कायरतामय विचार को अपने हृदय में नहीं आने दूँगा। साधु-सन्तों की सेवा-शुश्रुषा यथाशक्ति करूँगा और आपके चरणों की नौका का आश्रय लेकर भव-सागर को पार करूँगा।

भगवान्—तुम्हारा यह संकल्प पावन है।

मेघ—पतित पावन, मुझे अपनी दूषित विचारधारा के लिए प्रायश्चित दीजिए। पुनः दीक्षित कीजिए।

भगवान् ने यथोचित प्रायश्चित्त देकर मेघ मुनि के संयम को शुद्ध बनाया। तत्पश्चात् वे विशुद्ध चारित्र एवं ज्ञान की आराधना करते हुए विचरने लगे। अन्त में समस्त कर्मों का क्षय करके अक्षय पद के अधिकारी बने।

मेघ मुनि से संसार का सर्वश्रेष्ठ विकास प्राप्त किया। उस विकास का आरम्भ हुआ था। शरणागत शशक पर अनुकम्पा करके उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देकर उन्होंने जो महान् त्याग किया था, वह अपना फल लाया। उसने उन्हें अजर, अमर, अविनाशी पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। शरणागत को शरण देने का यह ज्वलंत माहात्म्य है।

卐

षट्पद

षट्पद का अर्थ है–छह पैरों वाला; किन्तु यह शब्द भ्रमर के अर्थ में रूढ़ है। भ्रमर, भौंरा, भँवर, अलि, द्विरेफ आदि एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं।

आपने कभी न कभी भ्रमर को अवश्य देखा होगा। वह एक कीड़ा है। देखने में काला–कलूटा; डील–डौल में छोटा सा; वह आकर्षक नहीं जान पड़ता। उसे कोई पहचानता न हो तो उसकी ओर किसी का ध्यान भी नहीं जायगा! मगर कवियों के संसार में भ्रमर का बड़ा महत्त्व है। चाहे प्राकृत भाषा के साहित्य को देखिए। सर्वत्र भ्रमर की पूछ है। भ्रमर को लक्ष्य करके बड़े-बड़े कवियों ने बड़ी-बड़ी उड़ाने भरी हैं। न जाने कितनी उत्प्रेक्षाएँ, कितनी उपमाएँ, कितनी अन्योक्तियां और कितनी उक्तियाँ भ्रमर के सम्बन्ध में हैं! कई कवियों ने तो भ्रमरदूत ही रच डाले हैं।

कविता-साहित्य को जाने दीजिए और आगमों को टटोलिये। वहां भी जगह-जगह भ्रमर का स्मरण किया गया है। साधु-सन्तों की भिक्षा को भ्रामरी वृत्ति कहा जाता है।

शास्त्र में लिखा है—

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥

भ्रमर वृक्ष के पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस चूसता है। वह पुष्परस को चूसता हुआ भी पुष्पों को पीड़ा नहीं पहुँचाता और धापकर रस भी पी लेता है। अर्थात् दूसरे को कष्ट पहुँचाये बिना ही अपनी आवश्यकता पूर्ण कर लेता है। इसी प्रकार साधु भी गृहस्थों को कष्ट पहुँचाये बिना अपनी जीविका की पूर्त्ति कर लेते हैं।

वास्तव में अनेक गुणों में से भ्रमर में यह एक बड़ा गुण है। मनुष्यों को भी यह सीखने योग्य है। जो लोग अपना पेट भरने के लिए ही नहीं, वरन् अपनी तिजोरियाँ भरने के लिए दूसरों का गला काटने को तैयार रहते हैं। भ्रमर से उन्हें बहुत उपयोगी शिक्षा मिल सकती है। मनुष्य सब से अधिक विवेकवान् प्राणी है। उसे चाहिए कि वह अपनी आजीविका के लिए किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचावे। यही विवेक का सार है। यही सद्बुद्धि की मांग है। जो किसी को कष्ट पहुंचाये विना अपनी आजोविका चलाते हैं, वे भूखे नहीं मर जाते! बल्कि वे इस लोक में भी आदर के पात्र होते हैं और आगामी भव में भी सुखी होते हैं।

卐

सती (साध्वी)

भारतवर्ष में, बहुत प्राचीन काल में स्त्रीसमाज की अच्छी प्रतिष्ठा थी। उस समय के लोग महिलाओं को आदर की दृष्टि से देखते थे। परन्तु बाद में ऐसा युग आया कि

स्त्रियां हीन दृष्टि से देखी जाने लगी। पुरूषों ने उनके अधिकांश अधिकार छीन लिये। मानो, समाज में उनका कोई मूल्यवान् अस्तित्व ही न रह गया !

आखिर चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर का समय आया। उस समय तक महिलाजाति हीनतर दशा को प्राप्त हो चुकी थी। बैरागी कहते थे—

द्वारं किमेकं नरकस्य ? नारो।

अर्थात्—नरक का एक मात्र द्वार नारी ही है।

कई लोगों ने विधान बना दिया—'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्।' अर्थात्–स्त्री और शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है ! वे वेद को पढ़ लें तो वेद अपवित्र हो जाएंगे !

परन्तु भगवान् महावीर अद्वितीय सुधारक लोकोत्तर महापुरूष हुए। उन्होंने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अवस्था प्राप्त कर जब संघ का निर्माण किया तो महिलाजाति को भी वही सब अधिकार प्रदान किये जो पुरूषजाति को प्राप्त थे। चतुर्विध संघ में साधुओं और श्रावकों की भाँति साध्वियों और श्राविकाओं की भी गणना की। महिलाओं ने भी अपनी धार्मिक भावना को खूब चरितार्थ किया। भगवान् के संघ में संत चौदह हजार थे तो सतियाँ छत्तीस हजार थीं ! सती चन्दनबाला, जिनका चरित आगे दिया जायगा, इन सतियों की नायिका थी।

सतियाँ, सन्तों की ही तरह सकल चरित्र का पालन करती हैं। उनके लिए भी साधुओं के समान पांच महाव्रतों, पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों का पालन करने का विधान है। वे भी भिक्षा-वृत्ति करती हैं, केशों का लुंचन करती हैं, पैदल विचरती हैं और कठिन तपस्या करती हैं। अभिप्राय यह है कि सतियों का चरित्र-संयम साधुओं के समान ही होता है।

जाति की विशेषता के कारण छोटी-छोटी बातों में कुछ अन्तर है भी तो वह नगण्य है।

देखने से पता चलेगा कि वे सादे और शुक्ल वस्त्र को धारण किये हैं। भाषा संबंधी यतना के लिए मुख पर मुखवस्त्रिका बंधी है। जीवदया के निमित्त बगल में रजोहरण है। एक हाथ में झोली है। कितना भव्य वेष है!

भगवान् महावीर की सतियों ने धर्म के प्रचार में बहुत महत्त्वपूर्ण हाथ बंटाया है। धन्य हैं वे महानारियाँ जो सुख-सामग्री त्याग कर धर्म के पथ पर चलती हैं।

卐

हरिश्चन्द्र

हरिश्चन्द्र अयोध्या के राजा थे। वे सूर्यवंशी राजाओं की यशस्वी परम्परा में उत्पन्न हुए और अपनी सत्यवादिता के लिए आज तक संसार में प्रसिद्ध हैं।

एक बार देवराज इन्द्र ने अपनी सभा में राजा हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा को सुनकर सभी देव बहुत प्रसन्न हुए, किन्तु एक देव के चित्त में ईर्षा उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा—इन्द्र महाराज भी कभी-कभी अनोखी-सी बात कह देते हैं। हाड़-मांस के पुतले मनुष्य की प्रशंसा करके इन्द्र ने देवों का अपमान किया है!

आखिर देव अपनी अप्सराओं को साथ लेकर, राजा हरिश्चन्द्र को सत्य से डिगाने के लिए अयोध्या की ओर चला। नगरी से कुछ दूर पर, वन में, विश्वामित्र ऋषि का आश्रम था। देव आश्रम में आकर हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित

करने के विषय में सोच-विचार करने लगा। उसने विचार किया—राजा बड़ा धर्मनिष्ठ है, वह अप्सराओं पर मोहित नहीं हो सकता। वह इतना सन्तोषी है कि प्रलोभन में नहीं पड़ सकता। उसे कष्ट देता हूँ तो इन्द्र के कुपित होने का भय है। आखिर किस उपाय से राजा की परीक्षा की जाय और उसे सत्य से भ्रष्ट किया जाय ? इस प्रकार सोचते-सोचते देव को खयाल आया—विश्वामित्र बहुत क्रोधी हैं। किसी तरह इन्हें हरिश्चन्द्र के साथ भिड़ा दिया जाय तो मेरा प्रयोजन सिद्ध हो जाय।

इसके बाद देव ने पूरी योजना गढ़ ली। सोचा— अप्सराएं ऋषि की पुष्पवाटिका से फूल तोड़ कर उसे तहस-नहस कर डालेंगी तो विश्वामित्र कुपित होंगे और उन्हें बन्धन में डाल देंगे। राजा हरिश्चन्द्र उन्हें बन्धन से छुड़ाएगा। तब इन दोनों में ठन जाएगी। क्रोधी ऋषि भूत की तरह राजा से भिड़ जाएगा और हम अलग के अलग ही रह जाएंगे।

देव ने यही किया। अप्सराओं को आज्ञा देकर ऋषि की फुलवाड़ी उजड़वा दी। विश्वामित्र के शिष्यों ने यह हाल देखा तो जाकर गुरुजी से कहा। विश्वामित्र आकर अप्सराओं से क्रुद्ध होकर कहने लगे—अरी क्या कर रही हो ? तुम्हें मर्यादा का भी भान नहीं है ?

अप्सराएं—कैसा आश्रम ! हमें रोकने वाले तुम कौन होते हो !

विश्वामित्र—तुम्हें शायद पता नहीं कि यह विश्वामित्र का आश्रम है ! अपना भला चाहो तो जल्दी भाग जाओ। अन्यथा मेरे क्रोधानल में भस्म हुए विना नहीं रहोगी।

अप्सराएं—हम यों डरने वाली नहीं। साधु बन गये हैं पर आश्रम का और फूलों का मोह नहीं छूटा ! चले हैं औरतों से उलझने के लिए और बने फिरते हैं साधु ! हमारी जो इच्छा होगी, करेंगे। तुम रोकने वाले कौन होते हो ?

आखिर विश्वामित्र ने कुपित होकर अपने तपस्तेज से अप्सराओं के हाथ लताओं से चिपका दिये।

राजा हरिश्चन्द्र राज्य-कार्य से निवृत्त होकर ज्यों ही वनभ्रमण के लिए बाहर निकले, अप्सराओं के पति उस ईर्षालु देव ने सेवक का रूप बनाकर राजा से कहा—पृथ्वीनाथ, आपके राज्य में अबलाओं पर अत्याचार हो रहा है। फूल चुनने जैसे साधारण अपराध से क्रुद्ध होकर ऋषि विश्वामित्र ने कुछ स्त्रियों को बेलों से चिपका दिया है। बेचारी हाय-हाय कर रही हैं, पर ऋषि का दिल नहीं पसीजता। कृपा करके उनका उद्धार कीजिए ।

राजा हरिश्चन्द्र आश्रम में पहुँचे। उन्होंने आश्रम में गड़बड़ करने के लिए अप्सराओं को उपालम्भ दिया। अप्स-राएँ बोली—राजन्, जो अपराध हो चुका है, उसके लिए क्षमा कीजिए। भविष्य में ऐसा कभी नहीं होगा।

अप्सराओं द्वारा यह प्रतिज्ञा करने पर राजा ने सत्य का स्मरण करके जो हाथ लगाया तो सब अप्सराएं मुक्त हो गईं। वे उसी समय हरिश्चन्द्र की जय बोलती आकाश-मार्ग से चली गईं।

विश्वामित्र के शिष्यों ने यह सब देखकर उन्हें सूचना दो। मेरे द्वारा बाँधी हुई देवियों को राजा हरिश्चन्द्र ने बन्धन-मुक्त कर दिया है, यह जानकर विश्वामित्र को बहुत बुरा लगा। उनके अन्तःकरण में भयानक क्रोध की आग दहक

उठी। नेत्र लाल हो गये और चेहरा तमतमा उठा। होठ फड़कने लगे।

ऋषि क्रोध ही क्रोध में आश्रम से चल कर राजा के दरबार में आये। हरिश्चन्द्र विनीत और नम्र पुरुष थे। उन्होंने ऋषि को उचित आसन प्रदान किया। तत्पश्चात् वह बोले—राजन्, मैं न्याय कराने आया हूँ।

राजा—आज्ञा दीजिए।

ऋषि—अप्सराएं मेरे आश्रम को तहसनहस कर रहीं थीं। समझाने पर भी वह न मानी और अकड़ने लगी। विवश होकर मैंने उन्हें लताओं से बाँध दिया, किन्तु मेरे एक प्रतिद्वन्द्वी राजा ने गुप्त रूप से उन्हें मुक्त कर दिया। उस राजा ने आश्रम की व्यवस्था में इस प्रकार हस्तक्षेप करके अपराध किया है। उसे क्या दण्ड मिलना चाहिए।

राजा—भगवन् ! अपराधी आपकी सेवा में उपस्थित है। जो उचित समझें, दण्ड दीजिए। मगर मेरे मन में प्रतिद्वन्द्वी बनकर आपकी अवज्ञा करने का विचार नहीं था। हां, एक निवेदन है। वह यह कि दण्ड देने और बन्दी बनाने का अधिकार राजा का है। यदि कोई बिना अधिकार किसी को बन्दी बनाता है तो वह क्या स्वयं अपराधी नहीं बन जाता ?

हरिश्चन्द्र की यह युक्तियुक्त बात सुनकर विश्वामित्र की क्रोधाग्नि और अधिक भड़क उठी। वह आपे से बाहर होकर बोले—अज्ञान राजा, मेरा अपराधी होकर भी उलटा मुझे अपराधी बतलाता है ? हम ऋषियों की बातों में भी टांग अड़ाता है ? तू सूर्यवंश के सिंहासन पर बैठने योग्य नहीं।

राजा—आप सन्त हैं। कुछ भी कहिए। पर मेरा कोई दोष मुझे नहीं दिखाई देता। मैंने दया से प्रेरित होकर दुखियों

का दुख दूर किया है। आप ही सोचिए, उन अप्सराओं से मेरा क्या स्वार्थ था ? फिर भी आप मुझे अपराधी समझते हैं तो किसी मध्यस्थ से निर्णय करवा लीजिए।

विश्वामित्र समझ तो गये कि राजा निर्दोष है; मगर चुप रह जाएँ तो अपमान होता है ! मध्यस्थ मुझे दोषी ठहरा देगा तो क्या होगा ?

इस प्रकार अहंकार के वश होकर विश्वामित्र मध्यस्थ के निर्णय के लिए तैयार नहीं हुए। उन्होंने अब कपट का आश्रय लिया। चेहरे पर मुस्कराहट लाकर कहा—तो राजधर्म का पालन करने के लिए तुमने देवियों को बन्धनमुक्त किया है ?

राजा—जी हाँ।

ऋषि—राजधर्म का पालन इसी बात में है या और कोई तरीका है पालने का ?

राजा—महाराज, मैं अपने विवेक के अनुसार सब प्रकार से अपने धर्म का पालन करता हूँ।

ऋषि-अच्छा, हम याचक हैं। हमारी माँग पूर्ण कीजिये।

राजा—माँग लीजिए, जो चाहिए।

ऋषि— कह कर बदल तो नहीं जाओगे ?

राजा-हरिश्चन्द्र के सत्य से आप परिचित नहीं हैं ?

चंद्र टरे सूरज टरै, टरै जगत्-व्यवहार।
पै दृढ़ व्रत हरिचंद्र को, टरै न सत्य विचार॥

ऋषि—ठीक, तो मैं तुम्हारा समस्त राज्य और वैभव मांगता हूँ। बोलो देते हो कि नहीं ?

राजा—यह क्या बड़ी माँग है ! अभी लीजिए। आप शरीर की चमड़ी मांगते तो इसे भी प्रसन्नतापूर्वक दे देता।

जिस राज्य के लिए बेटा बाप के और बाप बेटे के प्राण ले लेने में संकोच नहीं करता, भाई, भाई का गला काट डालता है और भयानक से भयानक तक पापकर्म करने में संकोच नहीं किया जाता, उस राज्य को सत्यवीर राजा हरिश्चन्द्र ने हँसते-हँसते दान कर दिया। जिस धन-वैभव के लिए लोग अपने पिता, पुत्र और पत्नी तक का परित्याग कर देते हैं, जिसे कई लोग परमेश्वर से भी बड़ा समझते हैं, जिसको पाने के लिए जघन्य से जघन्य कृत्य करते नहीं लजाते, वही धन-वैभव हरिश्चन्द्र के लिए धूल के समान था। अपने सत्य की रक्षा के लिए राजा हरिश्चन्द्र ने अपना सर्वस्व त्याग दिया।

राजा की त्यागवीरता देखकर विश्वामित्र भी चकित रह गए। सोचने लगे—मैं समझता था, हरिश्चन्द्र राज्य का त्याग करते डर जायगा और मेरे सामने घुटने टेक देगा। मगर इसका त्याग बड़ा ही विलक्षण है! अवध का राज्य त्याग करने में इसे रंच मात्र भी संकोच नहीं हो रहा है!

मगर ऋषि का कठोर हृदय पिघला नहीं। वह हरिश्चन्द्र की इस महत्ता के सामने अपने आपको अधिक लघु समझने लगे! इस कारण उनकी कठोरता और ज्यादा बढ़ गई। ऋषि मन ही मन कहने लगे—देखता हूँ, इसका अभिमान कब तक टिकता है! अन्त तक पिण्ड नहीं छोड़ने का!

उधर हरिश्चन्द्र ने कहा—ऋषिवर, अब क्या देर है? राज्य अंगीकार करके मेरा बोझ हल्का कीजिए।

ऋषि—एक बार फिर सोच ले। बर्बाद हो जायगा। राज्य त्यागने के पश्चात् कुछ भी नहीं बच रहेगा।

राजा—सोचना क्या है ऋषिवर, कोई दुष्कर्म नहीं कर रहा हूँ। दान दे रहा हूँ और वह भी ऋषि को। इसमें सोचने-विचारने की आवश्यकता ही क्या है ?

इधर राजा और ऋषि में यह बातचीत हो रही थी, उधर राजसभा में एक दूसरी ही लहर उठ रही थी। विश्वामित्र ने आज जो अशिष्टता और लोलुपता प्रदर्शित की, उससे सभा के सदस्य अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे थे। विश्वामित्र सब की दृष्टि में गिर गये। परन्तु राजा हरिश्चन्द्र जब सचमुच ही दान देने को उद्यत हो गये तो मन्त्री और सभासदों ने कहा—महाराज, आप यह क्या कर रहे हैं ? पितृपरम्परा से प्राप्त राज्य क्या इस प्रकार त्यागा जाता है ? आप यह भी तो सोचिये कि विश्वामित्र जैसे क्रोधी ऋषि के अधिकार में आने पर प्रजा की क्या दुर्दशा होगी ? प्रजा तड़प-तड़प कर मर जाएगी। यह पाप क्या मामूली होगा ?

राजा ने उनसे कहा—आप लोग अब मौन ही रहें। मैं दुष्कृत्य करके राज्य नहीं गँवा रहा हूँ। ऋषि प्रजा को सुखी और समृद्ध बनाएँगे। अपने तपस्तेज से राष्ट्र के देदीप्यमान कर देंगे।

जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि ! राजा हरिश्चन्द्र के सरल भाव से कहे गये वचनों में विश्वामित्र को व्यंग दिखाई दिया। वह चिढ़ कर बोले—क्यों दंभ दिखलाता है ! पैरों में गिर कर क्षमा-याचना कर ले। मैं क्षमा कर दूँगा। तेरा गर्व तुझे खा जायेगा।

राजा—महाराज, दंभ मेरे पास भी नहीं फटकता। आप ऋषि हैं, सौ बार आपके चरणों में गिर सकता हूँ; परन्तु क्षमा किस अपराध की माँगूँ ?

ऋषि—ठीक, तो फिर कर राज्यदान, देखूँ तेरी दान-वीरता !

महाराज हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र को राज्य-दान कर दिया। राज्य लेते ही विश्वामित्र का चेहरा लज्जा से सहम गया। वह अपनी निज की निगाह में गिर गये। हरिश्चन्द्र के आगे अपने को तुच्छ समझने लगे। सभा में सन्नाटा छा गया !

विश्वामित्र किसी भी प्रकार राजा को नीचा दिखलाने पर तुले हुए थे; परन्तु राजा उनके प्रत्येक प्रयत्न से ऊँचा ही ऊँचा उठता जा रहा था। आखिर वह बोले—राजन्, तेरा दान महान् दान है। आज तक किसी ने इतना बड़ा दान नहीं दिया। मगर इस बड़े दान की दक्षिणा भी बड़ी ही होनी चाहिए। वह कहाँ है ?

राजा—क्षमा कीजिए, मैं भूल गया था। अभी लीजिये।

यह कह कर राजा ने मंत्री को आदेश दिया—मन्त्री जी, कोष से हजार मुद्राएँ लाकर ऋषि को दे दीजिए।

ऋषि—वाह वाह ! इसी को कहते हैं दान ! राज्य का दान दे देने के बाद भी कोष तेरा ही रहा ? दी हुई वस्तु को फिर दान देते तुझे लज्जा नहीं आती ? मैं तो पहले ही कहता था कि दान नहीं; दंभ किया जा रहा है। अरे दंभी, तेरा तन, तेरी पत्नी और तेरा पुत्र ही अब तेरा है। इसके अतिरिक्त सभी कुछ मेरा है।

राजा—ठीक कहते हैं आप। इस भूल के लिए क्षमा चाहता हूँ।

ऋषि—सूर्यवंश में जन्म लेकर भी इतनी मूढ़ता ! तूने भगवान् ऋषभदेव की कीर्त्ति में बट्टा लगा दिया ! तू ने देवियों को मुक्त करके भूल की, फिर दान देकर दक्षिणा देने में भूल

की ! अब कोष को हथिया लेने की भूल कर रहा है ! अरे, अब भी अपना अपराध स्वीकार ले। बिगड़ी बात अभी सुधर जायगी। अन्यथा तू सहस्र मुद्राएँ कहाँ से लाकर देगा ? क्या भीख माँगेगा ?

राजा—सूर्यवंश की सन्तान माँगना नहीं, देना जानती है। मालूम होता है, आपने इस दास को अभी तक नहीं पहचाना।

ऋषि—तो कहाँ से लाकर सहस्र मुद्राएँ देगा ?

राजा—अपना तन बेचकर आपका ऋण चुकाऊँगा। एक मास की मोहलत चाहिए।

ऋषि—ठीक है। पर याद रखना, एक दिन भी ज्यादा लगा तो पल भर में भस्म कर दूँगा।

राजा—आपके अनुग्रह के लिए आभारी हूँ। आज्ञा दीजिए, आपके ऋण से मुक्त होने के लिए मैं जाता हूँ।

ऋषि—हाँ, एक बात और सुन ले। यह पुनीत दक्षिणा का ऋण है। स्वयं कमा करके चुकाना। किसी से मुफ्त माँग लाएगा तो मैं उसे लात मार कर ठुकरा दूँगा।

राजा—निश्चिन्त रहिए ऋषिवर ! मैं सूर्यवंश की प्रतिष्ठा को मलीन नहीं करूँगा। स्वयं कमा कर ऋण चुकाऊँगा।

इसके पश्चात् हरिश्चन्द्र ने कहा—भगवन्, नमस्कार ! मैं चलता हूँ। हाँ, इतना स्मरण रखिएगा कि प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे। मैंने पुत्र के समान प्रजा का पालन किया है। आप भी ऐसा ही करेंगे, मुझे आशा है। अपने कोपानल में उसे दग्ध न कर दीजिएगा।

अजित—मूर्ख, हमको भी शिक्षा देने चला है। अब मैं राजा हूँ। जो चाहूँगा, करूँगा। शासन का सारा ढांचा बदल कर रख दूँगा। परन्तु इससे तुझे क्या प्रयोजन ? तू तो ऋण-मुक्त होने की चिन्ता कर।

× × ×

राजा हरिश्चन्द्र की रानी का नाम तारा देवी था। जब उन्होंने राज्यदान का वृत्तान्त सुना तो वह अपने पुत्र रोहित को साथ लेकर पति के साथ चलने को तैयार हो गई। उनके मन में तनिक भी झुंझलाहट न हुई। वह सच्ची पतिव्रता नारी की भांति एक फटो-पुरानी साड़ी पहनकर अन्तःपुर से बाहर निकल पड़ीं।

अयोध्या में विद्युत-वेग से यह दुस्संवाद फैल गया। राजा हरिश्चन्द्र प्रजा के अत्यन्त प्रिय राजा थे। राजा-प्रजा के बीच पिता-पुत्र का सा संवंध था। अतएव इस घटना से सर्वत्र शोक, विषाद और संताप की लहर दौड़ गई। झुंड के झुंड नगर के नर-नारी राजमहल के सामने एकत्र हो गए। राजा हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी और पुत्र के साथ दरिद्र के वेष में बाहर निकले तो जनता धैर्य न रख सकी। बालक-वृद्ध सभी के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। राजा आगे चले तो प्रजा भी उनके पीछे-पीछे चल पड़ी। बहुत कुछ समझाने-बुझाने के बाद लोग वापिस लौटे और राजा हरिश्चन्द्र आगे बढ़े।

पास में पैसा न था। खाने को अन्न का दाना न था। सुकुमारी तारा और फूल-सा कोमल रोहित साथ। इस शाही परिवार पर क्या कठिनाई बीती होगी, किस प्रकार अयोध्या और काशी के बीच का लम्बा रास्ता उन्होंने तय किया होगा, यह कल्पना का ही विषय है। असह्य यातनाएँ सहते-सहते वे एक दिन काशी जा पहुँचे।

राजा और रानी ने किसी प्रकार मेहनत-मजूरी करके खाने-पीने की व्यवस्था की। खान-पान की व्यवस्था हो जाने पर भी राजा हरिश्चन्द्र का चित शान्त नहीं था। एक-एक दिन करके ऋण चुकाने की मोहलत निकट आती जा रही थी और चुकाने का कोई ढंग दिखाई नहीं देता था। राजा की इस चिन्ता से तारा देवी भी अतिशय चिन्तित थी। आखिर ऋण चुकाने की अवधि का अन्तिम दिन आ पहुँचा। विश्वामित्र की विकराल मूर्त्ति हरिश्चन्द्र की आँखों के आगे नाचने लगी। पर उन्हें सब से बड़ी चिन्ता अपनी प्रतिज्ञा की पूर्त्ति की थी। जिस सत्य के लिए राज्यवैभव त्याग दिया, पत्नी और पुत्र को घोर संकट में डाला एवं बड़ी से बड़ी मुसीबतें झेली, उस सत्य की रक्षा करना ही हरिश्चन्द्र का एक मात्र धर्म था।

अवधि के अन्तिम दिन विश्वामित्र आ धमके। सहस्र मुद्राएँ आज ही सूर्यास्त से पहले-पहले उन्हें चुका देनी थी। विश्वामित्र ने तकाजा किया और सैकड़ों कटु-वाक्य कहे। तब और कोई उपाय न देख रानी तारा और राजा हरिश्चन्द्र ने अपने आपको पाँच-पाँच सौ मुद्राओं में बेच दिया। तारा देवी को एक ब्राह्मण खरीद कर ले गया। हरिश्चन्द्र को चाण्डाल के हाथों बिकना पड़ा। ऋषि का ऋण चुक गया।

राजकुमार रोहिताश्व को एक दिन सांप ने काट लिया। उसका निर्जीव शव तारा के सामने पड़ा था। अन्तिम संस्कार के लिए कोई साधन न था। कफ़न का ठिकाना न था। आखिर तारा देवी यों ही उसे श्मशान में ले जाती हैं। महाराज हरिश्चन्द्र मरघट में अपने स्वामी चाण्डाल की आज्ञा के अनुसार कर लेने के लिए बैठे थे।

अपने प्राणाधिक पुत्र का असमय में और ऐसी परिस्थिति में वियोग हो जाने पर राजा हरिश्चन्द्र और रानी तारा को कितनी व्यथा हुई होगी, जरा कल्पना कीजिए। तिस पर भी हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्नी से अपने स्वामी के आदेशानुसार कर की माँग की।

रानी ने कहा—आप मुझसे पैसे माँगते हैं?

राजा—हाँ, स्वामी की आज्ञा है।

रानी—क्या आप मुझे भूल गये?

राजा—देवी, इस जिन्दगी में तुझे कैसे कैसे भूल सकता हूँ?

रानी—तो आप मुझे कर से मुक्त नहीं कर सकते?

राजा—यही करना होता तो राज्य क्यों त्यागता? जब राज्य के लिए असत्य का आचरण न किया—सत्य की रक्षा के लिए सर्वस्व त्याग कर तुम्हारी जैसी पतिव्रता को भी घोर संकट में डाला, तो क्या एक टके के लिए सत्य का परित्याग करना उचित होगा?

रानी—टका तो मेरे पास है नहीं। यह साड़ी है। कहिए तो आधी फाड़ दूँ।

राजा—अच्छा यही सही। एक टके की तो होगी ही।

रानी तारा अपनी साड़ी का आधा भाग फाड़ने को तैयार हुई कि उसी समय जय-जयकार के साथ आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी। गंधोदक की वृष्टि से श्मशान महक उठा। शीतल, मन्द और सुगन्धित पवन चलने लगा। देव दुन्दुभी के निर्घोष से पृथ्वी-आकाश गूंज उठा। आकाश देवों से आच्छादित हो गया। अप्सराएँ विजय के मंगलगीत गाने लगीं। रोहित अंगड़ाई लेता हुआ उठ खड़ा हुआ। श्मशान भूमि में आनन्द और हर्ष की गंगा बहने लगी।

इन्द्र ने स्वर्ग से आकर रत्नजटित सिंहासनों पर राजा-रानी को आसीन किया। रोहित राजकुमार राजा हरिश्चन्द्र की प्रेममयीं गोदी में बैठा था। दुंदुभी को आवाज सुन कर काशी की जनता श्मशान की ओर दौड़ पड़ी। काशीराज भी हरिश्चन्द्र की अलौकिक महिमा सुन कर आये।

कोप-मूर्त्ति विश्वामित्र भी आज प्रेम की मूर्त्ति बनकर सामने खड़े थे। वह कहने लगे—राजन् ! आपने सत्यधर्म की अद्भुत महिमा प्रकट की है। कठोर से कठोर अग्नि परीक्षा में भी आपने पूर्ण सफलता प्राप्त की है। सत्य के लिए इतना कष्ट सहन करने की शक्ति अन्य में नहीं है। विश्वामित्र अजेय है, पर उसे भी आपने पराजित कर दिया। मैंने व्यर्थ ही क्रोधान्ध होकर आपके साथ संघर्ष किया। वास्तव में मैं अपने पद से भ्रष्ट हो गया। रोहिताश्व को सर्प का डंसना भी मेरी ही माया का फल था। आज मुझे अपनी निर्दयतापूर्ण करतूतों के लिए बहुत पश्चाताप है। राजन्, मुझे क्षमा कर देना।

राजा हरिश्चन्द्र ने हाथ जोड़ कर कहा—भगवन् ! आप ऐसा कहकर लज्जित न कीजिए ! आपने मेरी परीक्षा करके महान् उपकार किया है। यह गौरव और यश आपकी ही कृपा का फल है। आप परीक्षा न करते तो सत्य की इतनी महिमा किस प्रकार बढ़ती ? आपने मेरे द्वारा सत्य भगवान् की महिमा बढ़ाई है। मैंने आपको क्रुद्ध किया और साधना के पथ से शासन के पथ पर घसीटा यह मेरा बड़ा अपराध हुआ है इसकेलिए मैं आपके समक्ष क्षमा प्रार्थी हूँ।

इस षड्यंत्र का मूल नायक देव भी वहीं उपस्थित था। उसने राजा हरिश्चन्द्र के समक्ष आकर अपना सारा षड्यंत्र प्रकट करके कहा—महाराज ! इसमें ऋषि का कोई दोष नहीं

है, सारा दोष मेरा है। सत्यवीर, क्षमा करने योग्य मैं हूँ, क्योंकि यह सब मेरी ही दुर्बुधि का परिणाम है। मैंने ही ऋषि को उत्तेजित करके यह परिस्थिति उत्पन्न की थी। उदार-हृदय राजा ने देव को भी क्षमा दान दिया।

हरिश्चन्द्र के स्वामी चाण्डाल ने भी क्षमा-प्रार्थना की। कहा—नाथ, मैंने और विशेषतः मेरी पत्नी ने जो दुर्व्यवहार किया है, उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए।

राजा हरिश्चन्द्र वोले—स्वामिन्, क्यों उलटी गंगा बहाते हो? आपने मेरे सत्य की रक्षा की और प्राणों की भी रक्षा की। आप जैसे दयालु स्वामी कहाँ मिल सकते हैं? मेरी स्वामिनी यद्यपि क्रुद्ध थी, पर उन्हीं की कृपा से मैं श्मशान का रक्षक बना और यश का पात्र बन सका हूँ। जीवन भर आपका यश नहीं भूल सकता।

वृद्ध ब्राह्मण ने महारानी तारा देवी से अपने परिवार की ओर से क्षमायाचना की। रानी ने कृतज्ञता के साथ उनका आभार माना।

अन्त में विश्वामित्र ने कहा—अब अयोध्या चलकर अपना राज्य सँभालिए और मुझे अपना जप-तप सँभालने दीजिए। मैं राज्य की उलझन में पड़कर अपनी साधना ही भूल गया हूँ!

इन्द्र ने ऋषि के कथन का समर्थन किया। कहा—ऋषिजी अपने कृत्य के लिए दुखी हैं। अतः आपको राज्य संभाल लेना चाहिए।

राजा हरिश्चन्द्र—किन्तु दान में दिया राज्य वापिस कैसे ले सकता हूँ? जिस सत्य की रक्षा लिए मैंने भयानक से भयानक कष्ट सहन किये, राज्य लेकर उसकी अवहेलना कैसे की जा सकती है?

विश्वामित्र—मैंने वास्तव में राज्य लिया ही नहीं था। वह तो केवल तर्जना मात्र थी।

राजा—ऋषिवर, आपने भले न लिया हो, पर मैं तो अन्तःकरण से दान कर चुका हूं।

इन्द्र—ऋषिजी यथार्थ तो कहते हैं। उन्हें क्या राज-काज में फँसाये रखना उचित होगा ?

राजा—पर मेरे सामने धर्म का प्रश्न है। मैं धम का कैसे परित्याग कर सकता हूँ। आप स्वयं सोचें।

ऋषि—अच्छा, मैं मध्यम मार्ग निकालता हूँ। मैं अपने हाथों से रोहित को राजमुकुट पहनाता हूँ और अवध का राजा बनाता हूँ। किन्तु वह बालक है। जब तक राज्य का भार उठाने में समर्थ न हो जाय, तब तक आप उसके संरक्षक होकर रहें।

विश्वामित्र का यह कथन सुनकर चारों ओर से 'ठीक है, ठीक है' की ध्वनि गूंज उठी। हरिश्चन्द्र को यह निर्णय स्वीकार करना पड़ा।

हरिश्चन्द्र फिर बोले—मगर जब तक ब्राह्मण देवता और स्वपच का ऋण न चुक जाय तब तक मैं यहाँ से कहीं नहीं जा सकता।

यह सुनकर ब्राह्मण और चाण्डाल ने कहा—महाराज, आप सब तरह बन्धन-मुक्त हैं। हमें कुछ नहीं चाहिए। किन्तु इन्द्र ने उसी समय लाख-लाख मोहरें उन्हें देकर राजा-रानी को बन्धनमुक्त किया।

इस प्रकार रोहित कुमार राजा बने और हरिश्चन्द्र उनके प्रतिनिधि बन कर राज्य कार्य चलाने लगे।

धन्य धन्य नृप हरिश्चन्द्र हैं,
धन्य-धन्य तारा रानी।
सत्य धर्म की रक्षा के हित,
झेली क्या-क्या हैरानी।
अजर-अमर यश जग में अब तक,
शास्त्रकार नित गाते हैं।
जीवन-वृत्त श्रवण कर पुलकित,
श्रोता नहीं अघाते हैं।
भूमण्डल पर हरिश्चन्द्र के-
सुयश नित्य गाये जाएँ।
सदा काल सर्वत्र सत्य की,
विजय-पताका फहराए।

(अमर मुनि)

卐

क्षमा

जैन धर्म में क्षमा को मुख्य स्थान दिया गया है। यति (मुनि) के दस धर्मों में क्षमा को पहला दर्जा प्राप्त है। मनुष्य कितना ही सावधान होकर चले, कभी न कभी, किसी न किसी के प्रति अपराध हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में क्षमायाचना कर लेना ही एक मात्र उत्तम उपाय है। क्षमायाचना कर लेने से हृदय का शल्य निकल जाता है। चित्त स्वस्थ और शान्त हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि जब दूसरे से कोई अपराध हो गया हो और वह विनम्र भाव से क्षमायाचना करे तो उदारतापूर्वक उसे क्षमा करदे।

क्षमाभाव धारण करने से आत्मा शान्ती का अनुभव होता है। आत्मा की शुद्धि होती है। यही कारण है कि जैनों में पर्युषण पर्व के अवसर पर संवत्सरी के दिन खमत-खामणा अर्थात् क्षमा करने और कराने की पद्धति प्रचलित है। इस दिन वर्ष भर में किये हुए अपराधों के लिए क्षमायाचना की जाती है और अन्तःकरण को निर्मल बनाया जाता है। इस अवसर पर बड़ी से बड़ी शत्रुता को भी भुला दिया जाता है। जैन इतिहास में ऐसी अनेक घटनाएं प्रसिद्ध हैं, जिनमें से एक यह है :—

उज्जैन का राजा चन्द्रप्रद्योतन वीर पुरुष था, परन्तु उसकी विषय वासना बढ़ी हुई थी। उसने विषयासक्त होकर सिन्धु सौवीर के राजा उदायन की दासी का अपहरण करने का विचार किया। एक दिन वह उसे चुराकर ले भी गया। दासी सुन्दरी थी। उसके सौन्दर्य में उसकी आँखें चौंधिया गईं। चन्द्रप्रद्योतन ने अपनी प्रतिष्ठा और कुलीनता का भी विचार नहीं किया। मोह में पड़ कर मनुष्य कितना मूढ़ और पतित बन जाता है।

उदायन को जब यह वृत्तान्त मालूम पड़ा तो उसने सोचा—चन्द्रप्रद्योतन को दासी की आवश्यकता थी तो वह मुझसे माँगता। मगर उसने ऐसा नहीं किया और चोरी की। यह घोर अनीति है और दासी के प्रति बड़ा अत्याचार भी है। चन्द्रप्रद्योतन ने मुझे कमजोर समझ कर ऐसा किया है। इस अन्याय का मुझे प्रतीकार करना चाहिए और यह भी बता देना चाहिए कि अनीति प्रबल होती है या नीति प्रबल होती है?

उदायन ने अपना दूत भेज कर चन्द्रप्रद्योतन से

कहलाया—चुराई हुई दासी को वापिस भेजो और इस अनीति के लिए क्षमायाचना करो।

दूत ने यह संदेश चन्द्रप्रद्योतन के पास पहुंचाए, मगर उसने न दासी लौटाई, न क्षमा माँगी, उल्टा यह कहा—अगर उदायन में शक्ति है तो युद्ध करके ले जाएँ।

उदायन जैन श्रावक थे और सोलह देशों के राजा थे। युद्ध करने की उनकी इच्छा नहीं थी; मगर उन्होंने विचार किया—अनीति का प्रतीकार न करना राजा के लिए कलंक की बात है। युद्ध के भय से राजा अनीति होने देगा तो पृथ्वी नरक बन जाएगी और धर्म भी कलंकित होगा। अपराधी को दण्ड न देना कायरता है।

इस प्रकार विचार कर उदायन राजा ने विशाल सेना लेकर उज्जैन पर चढ़ाई कर दी। उदायन और चन्द्रप्रद्योतन में लड़ाई हुई। अनीति का प्रतिनिधि चन्द्रप्रद्योतन हार गया। उदायन ने उसे पकड़ लिया और अपने बाण से उसके मस्तक पर लिख दिया—

मम दासीपतिः

अर्थात्—यह मेरी दासी का पति—अर्थात् दास है।

राजा उदायन, चन्द्रप्रद्योतन को साथ लिए वापिस लौटा। उसने मन्दसौर में अपना पड़ाव डाल दिया। उसी समय संवत्सरी पर्व आ गया। उदायन संवत्सरी के दिन पौषध करता था। उसने बन्दी चन्द्रप्रद्योतन से कहा—मैं कल धर्मध्यान में ही समय व्यतीत करूँगा। मैं भोजन नहीं करूँगा। आपके लिए व्यवस्था किये देता हूं। रसोइया आपका ही है। आप जो चाहें, खाएँ-पीएँ।

राजा उदायन का यह व्यवहार देखकर चन्द्रप्रद्योतन पानी-पानी हो गया। उसे मालूम हो गया था कि संवत्सरी के

दिन उदायन पूर्ण धर्मभावना में रहते हैं। इस समय मेरी बेड़ी कट गई तो कट गई; अन्यथा नहीं कटने की। संवत्सरी का दिन ही मेरी मुक्ति का द्वार है। यह सोचकर चन्द्रप्रद्योतन ने कहा—मैं भी आपकी तरह क्षत्रिय हूँ। मेरा और आपका एक ही धर्म हैं। अतः मैं भी धर्म की आराधना करूंगा।

उदायन—जैसी आपकी इच्छा।

दोनों राजाओं ने पौषध किया। चन्द्रप्रद्योतन पौषध की विधि नहीं जानता था, अतः उदायन की देखादेखी सब क्रियाएँ करता जाता था। सन्ध्या समय उदायन ने प्रतिक्रमण करके समस्त जीवों से क्षमायाचना की और फिर चन्द्रद्योतन से कहा-बन्धु, मोहनीय कर्म की माया बड़ी विचित्र है। ऐसा न होता तो मेरी दासी के प्रति आपके मन में दुर्भावना क्यों उत्पन्न होती? कहाँ आप उज्जैन के अधिपति और कहाँ एक दासी! मुझे राजधर्म का पालन करने के लिए युद्ध करना पड़ा। मेरी जगह आप होते तो आपको भी यही करना पड़ता। खैर, सब प्रकार का वैर भूल कर मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।

अपराध था चन्द्रप्रद्योतन का और क्षमायाचना करते हैं राजा उदायन। पराजित और बंदी राजा के प्रति एक शूर-वीर विजेता की यह क्षमा प्रार्थना क्या कम महत्त्व रखती है? चन्द्रप्रद्योतन का प्रताप, सैन्य और शस्त्र जिस वीर के एक रोम में भी भय का संचार न कर सके, वही वीर आज अपने बंदी के प्रति क्षमा का प्रार्थी है! इन उदाहरणों के रहते रहते कौन कह सकता है-क्षमा कायर का शस्त्र है? उदायन का यह चरित्र 'क्षमा वीरस्य भूषणम्, की घोषणा करता है।

उदायन की क्षमायाचना से चन्द्रद्योतन चकित और लज्जित हो गया। मगर तत्काल वह सँभल गया। उसने सोचा-

बस यही, अवसर है मुक्ति पाने का। चूकना ठीक नहीं।

चंद्रप्रद्योतन ने कहा—क्षमाकी याचना करना आपका बड़प्पन है। मगर राज्य छिन जाने से मेरा अन्तःकरण संतप्त है। मैं हृदय से कैसे क्षमा करूँ? हृदय साथ न हुआ तो केवल जीभ से की गई क्षमा का मूल्य ही क्या है? मैं ढोंग नहीं करना चाहता। आप क्षमा चाहते हैं तो अपनी दासी ले लीजिए और मेरा राज्य मुझे दे दिजिए। अपने अपराध के लिए मैं लज्जित हूँ।

उदायन ने विचार किया—चन्द्रप्रद्योतन सन्मार्ग पर आ गया है। इसका अंहकार गल गया है तब झगड़े की जड़ ही नहीं रही।

यह सोचकर राजा उदायन ने कहा—अब मैं और आप पहले के समान हैं। मेरा विरोध अधर्म से था। वह आपने त्याग दिया तब कोई विरोध नहीं रहा।

अंत में दोनों राजा मित्र हो गये। राजा उदायन चन्द्र-प्रद्योतन को अपनी राजधानी में ले गये। वहाँ अपनी कन्या का उसके साथ विवाह करके दहेज में उज्जैन का राज्य दे दिया।

यह है क्षमायाचना की महत्ता! लेन देन में, बोल चाल में या अन्य किसी कार्य में किसो से झगड़ा हुआ हो, मनमुटाव हुआ हो, कलह हुआ हो तो उसे भुला दो। क्षमायाचना करके चित्त में कलुषता मत रहने दो। इससे आपकी आत्मा में विशुद्दि आएगी।

卐

त्रस

जीव मात्र समान स्वभाव का धारक है। क्या मुक्त और क्या संसारी सभी की स्वाभाविक शक्तियाँ समान हैं। आत्मा

और परमात्मा का स्वभाव समान है। फिर भी सब जीवों का विकास एक सरीखा नहीं है। जिन्होंने विकास की चरम सीमा प्राप्त कर ली है, वे मुक्त या सिद्ध जीव कहलाते हैं। वे सब समान ही होते हैं, क्योंकि जहाँ पूर्णता है, वहाँ सजातीय पदार्थों में विविधता संभव नहीं है।

जिन जीवों की आत्मा कर्म-विकारों से मलीन है और इस कारण जो जन्म-मरण के चक्र में पड़े हैं, वे जीव संसारी कहलाते हैं। कर्म-विकार की विविधता के कारण संसारी जीवों में भीं विविधता पाई जाती है। जो जीव स्थावर नाम कर्म के उदय से सिर्फ एक ही इन्द्रिय पाते हैं, जिनमें सर्दी-गर्मी से बचने के लिए गमन-आगमन करने की शक्ति नहीं होती, वे स्थावर कहलाते हैं और जो एक से अधिक इन्द्रियों वाले जीव हैं, वे त्रस जीव कहलाते हैं।

त्रस जीव भी अनेक प्रकार के होते हैं। कोई द्वीन्द्रिय, कोई त्रीन्द्रिय, कोई चतुरिन्द्रिय और कोई पंचेन्द्रिय। लट आदि द्वीन्द्रिय हैं, उनके स्पर्शनेन्द्रीय और जीभ इन्द्रिय होती है चिउंटी आदि प्राणी त्रीन्द्रिय हैं, उनके एक नाक इन्द्रिय अधिक होती है। भ्रमर, बिच्छू आदि चतुरीन्द्रिय प्राणी हैं उनके चक्षुइन्द्रिय अधिक होती है। ये तीनों प्रकार के जीव विकलेन्द्रिय त्रस कहे जाते हैं।

पाँचों इन्द्रियों वाले जीव सकलेन्द्रिय त्रस कहलाते हैं। वे चार प्रकार के हैं—देव, मनुष्य, नारक और तिर्यञ्च। यहां यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि सभी देव, मनुष्य और नारक पंचेन्द्रिय ही होते हैं। तिर्यंचों में ही एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि भेद पाये जाते हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च त्रस भी कई प्रकार के हैं। कबूतर, तोता, मोर आदि आकाश में उड़ने वाले पक्षी खेचर कहलाते हैं। मनुष्य, गाय, भैंस, घोड़ा आदि स्थलचर हैं, क्योंकि वे पृथ्वी पर चलते हैं। सर्प आदि छाती को जमीन पर रगड़ कर चलने वाले उरपरि सर्प कहलाते हैं और नौला आदि भुजपरि सर्प कहे जाते हैं। ये सभी पंचेन्द्रिय त्रस जीव हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है, जीवों में यह भेद कर्मोदय के कारण ही होता है। शास्त्रों में नाना प्रकार से जीवों के भेद करके समझाये हैं। विस्तार से जानने की इच्छा रखने वालों को शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए।

卐

ज्ञप्ति

जैन मुनि अकिंचन होते हैं। रुपया-पैसा आदि परिग्रह को वे हाथ भी नहीं लगाते। अतएव वे ऐसा कोई भी कार्य नहीं कर सकते, जिसके लिए रुपये-पैसे की आवश्यकता हो। यही कारण है, मुनि स्वयं पत्र व्यवहार नहीं करते हैं। जब कभी आवश्यकता होती है तो श्रावक ही श्रावक के नाम पर पत्र लिखते हैं और मुनि को कोई समाचार कहने हों तो कह देते हैं।

मुनि जन सांसारिक व्यवहारों से विमुख होते हैं। दुनिया की झंझटों से उनका कोई सरोकार नहीं होता। अतएव उन्हें पत्र व्यवहार की आवश्यकता नहीं रहती। जो भी धार्मिक व्यवहार होता है, श्रावक ही करते हैं।

卐